हिन्दी के कथेतर गद्य में वैश्विक परिदृश्य

(सन् 1914-1945)

The global scenario in Hindi nonfictional prose (1914-1945)

(HINDI KE KATHETAR GADYA MEIN VAISHVIK PARIDRISHYA (1914-1945)

पीएच. डी. (हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबंध

शोध-निर्देशक

प्रो. देवेन्द्र कुमार चौबे

शोधार्थी

संदीप सौरभ

भारतीय भाषा केन्द्र

भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली-110067

2016

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
भारतीय भाषा केन्द्र
Centre of Indian Languages
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
School of Language, Literature & Culture Studies
नई दिल्ली–110067, भारत NEW DELHI-110067, INDIA

Dated: 21/07/2016

DECLARATION

I hereby declare that the research work done in this Ph.D. Thesis Entitle **"HINDI KE KATHETAR GADYA MEIN VAISHVIK PARIDRISHYA (1914-1945" [The global scenario in Hindi nonfictional prose (1914-1945)]** by me is the original research work and it has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/Institution.

SANDEEP SAURAV
(Research Scholar)

PROF. DEVENDRA KUMAR CHOUBEY
(Supervisor)
CIL/SLL&CS/JNU

PROF. S.M. ANWAR ALAM
(CHAIRPERSON)
CIL/SLL&CS/JNU

GRAM: JAYENU, Tel.: (91-011) 26741557, 26742676 Extn.: 4217, (D) 26704217; Telefax: (91-011) 26704217
Email: chair_cil@mail.jnu.ac.in, jnucil@gmail.com

मम्मी को...

और

तपस दा को...

भूमिका

शोध-कार्य के उद्देश्यों का एक पहलू यह भी है जहां यह वर्तमान समय के संदर्भों के साथ संवाद करता है और उसमें संघर्ष की ज़मीन और अपनी प्रासंगिकता तलाशता है। इतिहास और सच- एक बड़े फ़लक पर दोनों ही, वर्गीय आधार पर लिखे-पढ़े और निर्मित किए जाते हैं। जो इतिहास किसी वर्ग का 'सच' है, संभव है उसी रूप में वह दूसरे वर्ग के लिए सच न हो। 'वर्गीय सच्चाईयों' को स्पष्ट करने में शोध सहायक की भूमिका अदा कर सकता है। एक मुहिम की तरह सच के वर्गीय प्रकाशन को ढंक देने की कोशिशें चलती रहती है। इस आवरण को हटाना अध्ययन-मात्र का एक अहम लक्ष्य होना चाहिए।

इतिहास-सृजन, वर्तमान से संघर्ष और संवाद स्थापित करने का एक औजार है। यह सृजन अतीत की स्मृतियों के साथ-साथ सचेतन विस्मृतियों से ही संभव है। एक शोध स्वयं का औचित्य जितना इस बात से निर्धारित कर सकता कि उसने कितने 'गूढ़' और 'अछूते' तथ्यों और सिद्धांतों की पड़ताल की है; वहाँ यह भी ज़रूरी है कि वह 'तथ्यों', घटनाओं और परिस्थितियों के बीच से उन सूत्रों की शिनाख़्त कर पाता है कि नहीं जो वैचारिक धरातल पर समाज के किसी वर्तमान संकल्पना के साथ संवाद कर सके।

20वीं सदी में विश्व घटनाओं का अर्थराजनीतिक और सामाजिक संदर्भ, उनके घटित होने के वैचारिक-वर्गीय आधार और प्रभाव का इतिहास-बोध विभिन्न रूपों में आज भी सक्रिय है। विशेषकर, इसके पहले अर्द्धांश के युद्धों और क्रांतियों द्वारा निर्मित बोध, आज के वैचारिक धरातल से संवाद कर रही हैं। सोवियत क्रांति का वैचारिक धरातल, साम्राज्यवाद और उसके तर्क तथा प्रभाव, सामाजिक और राजनीतिक जीवन में फ़ासीवाद का उदय होना, राष्ट्रवाद और देशभक्ति के विभिन्न विमर्श- विश्वयुद्धकालीन विश्व के इन वैचारिक आग्रहों और सिद्धांतों की हमें आज भी ज़रूरत पड़ती है; कम-से-कम उनके इतिहास-बोध की। प्रस्तुत शोध-प्रबंध उसी दिशा में एक कोशिश है।

विश्वयुद्ध-कालीन औपनिवेशिक भारत में हिन्दी के लेखकों व विचारकों का उस दौर के वैश्विक घटनाक्रमों पर किस तरह की प्रतिक्रियाएं थी! यह महत्त्वपूर्ण इसलिए है कि उस दौर में भारत स्वयं को एक राष्ट्र के रूप में खड़ा करने की जद्दोजहद कर रहा था। इस 'भावी राष्ट्र' को लेकर वर्गीय स्तर कई संकल्पनाएं थीं। हर किसी को या कहें कि हर वर्ग को अपना 'राष्ट्र' चाहिए होता है। राष्ट्र किसके लिए बनेगा, यह वर्गीय दांव-पेंच और संघर्ष का मामला हो जाता है। 20वीं सदी के वे दशक घटनाक्रमों का महज़ एक सिलसिला नहीं है। उसके भीतर 'भावी राष्ट्र के निर्माण' के लिए विभिन्न दृष्टियों या 'विज़न' की टकराहट-तनाव, इसके परिणाम और सबक- सब के दस्तावेज मौजूद हैं। हर दौर अपनी दस्तावेज स्वयं तैयार करेगा; अपने से पूर्व के इतिहास-बोध से संवाद करते और टकराते हुए। औपनिवेशिक भारत को अपनी दिशा तय करनी थी। तथाकथित मुख्यधारा के राष्ट्रीय आंदोलनों को भी इन तनावों से गुज़रना था। इन तनावों या संवादों को खड़ा करने में मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है। उस दौर के हिन्दी के उन लेखकों के विचारों को केन्द्र में रखा गया है जो उस समय के वैश्विक घटनाक्रमों तथा उनसे उपजे वैचारिक मतों, 'विकल्पों' आदि को सजगता से देख रहे थे। इसके लिए उनके कथेतर गद्य को इस शोध का आधार बनाया गया है। कोशिश ये रही है कि उस दौर की घटनाओं को महज़ 'कार्य-कारण' की एक सामान्य कड़ी के रूप में न देखा जाए। साम्राज्यवाद, राष्ट्रवाद, बोल्शेविक क्रांति और फ़ासीवाद; ये इतिहास की महज़ कोई घटना या 'वाद' भर नहीं हैं। ये जिन स्थितियों में उत्पन्न हुई, उसे निर्मित करने में और इनके प्रभाव जिस रूप में लोगों पर पड़ा- ये दोनों ही वर्गीय आधार वाले मामले थे। अत: अपने शोध-विश्लेषण में मैंने घटनाक्रमों के वर्गीय पहलू का ध्यान रखा है। इसी प्रकार, हिन्दी में उस दौर के वैचारिक लेखन से गुज़रते हुए एक औपनिवेशिक संरचना के मातहत उनकी प्रतिक्रियाओं को देखा-समझा गया है। वे अपने दौर के विभिन्न वैचारिकी और उथल-पुथल में किस ओर खड़े थे यह एक बात है; लेकिन, किन ऐतिहासिक प्रक्रियाओं से उनकी वर्गीय समझ और पक्षधरता इस प्रकार से बनी और विकसित हुई है, इसके विश्लेषण को भी महत्त्व दिया गया है।

एम.फिल में लघु-शोध का मेरा विषय था- 'प्रेमचंद के कथेतर गद्य में वैश्विक परिदृश्य'। यह औपनिवेशिक भारत के सबसे महत्त्वपूर्ण लेखक के वैचारिक आयाम के उन पहलूओं की शिनाख़्त थी, जो विश्वयुद्ध-काल की प्रभावशाली वैश्विक घटनाओं की प्रतिक्रिया थी, जिनसे निकली वैचारिकी भारत के स्वाधीनता आंदोलन की आलोचना भी थी और दिशा बताने में सहायक

भी। उस दरम्यान मेरी रूचि विश्वयुद्ध-काल के इतिहास के प्रति बढ़ती गई। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था से उपजी साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा ने युद्धों और क्रांतियों तथा इनकी संभावनाओं के जो बीज बोये थे उसकी एक बड़ी परिणति द्वितीय विश्वयुद्ध के रूप में सामने आना था। प्रेमचंद के बाद राईन, टेम्स और वोल्गा जैसी नदियों से पानी काफ़ी बह चुके थे। इसे लेकर मेरी उत्सुकता, अपने अध्ययन को निरंतर उसी दिशा में बनाए रखने की इच्छा और सच कहूँ तो 'सुविधा' का भी एक मामला था, मैंने पीएच.डी. के लिए उसी ज़मीन को रखा। उसके आसमान को थोड़ा और विस्तृत कर! इसमें विश्वयुद्ध-कालीन हिन्दी साहित्य के लेखकों-विचारकों के वैचारिक फ़लक के उन बिन्दुओं को उकेरने की कोशिश की गई है, जो तत्कालीन विश्व घटनाक्रमों से संवाद करती है।

इस शोध-प्रबंध का पहला अध्याय 'विश्वयुद्धों के बीच का वैश्विक परिदृश्य: संदर्भ और वैचारिकी' में उन राजनैतिक और आर्थिक संदर्भों की पड़ताल की गई है जिसने द्रुत गति से आगामी दशकों को युद्धों और क्रांतियों का दशक बना दिया। इस अध्याय में घटनाक्रमों की तात्कालिकता के बजाय उसके सदर्भों और वैचारिकी पर अधिक बल दिया गया है। व्यापक स्तर पर प्रभावशाली इन घटनाक्रमों की वैचारिकी को साम्राज्यवाद, बोल्शेविक क्रांति, राष्ट्रवाद और फ़ासीवाद के उप-अध्यायों में विभाजित किया गया है। इस क्रम में सभी के राजनैतिक-आर्थिक संदर्भ और वर्गीय प्रभावों का मूल्यांकन किया गया है।

दूसरा अध्याय 'साम्राज्यवाद और हिन्दी का कथेतर गद्य' साम्राज्यवाद की वैश्विक परिघटना, उसके वैचारिक आयामों और प्रभावों के मूल्यांकन पर आधारित है। इसके पहले उप-अध्याय में साम्राज्यवाद की पृष्ठभूमि और उसके तद्युगीन स्वरूप पर चर्चा की गई है। दूसरे उप-अध्याय में इसी संदर्भ में हिन्दी के लेखकों-विचारकों की दृष्टियों का मूल्यांकन है। औपनिवेशिक दासता के ख़िलाफ़ चल रहे आंदोलनों में संदर्भ में वैश्विक साम्राज्यवाद की उनकी आलोचनाओं के महत्त्व को विशेष तौर पर चिह्नित किया गया है।

तीसरा अध्याय है- 'बोल्शेविक क्रांति और हिन्दी का कथेतर गद्य'। इसमें बोल्शेविक क्रांति के इतिहास, अर्थात रूस की ऐतिहासिक परिस्थितियां और वहां बोल्शेविक पार्टी द्वारा चलाए गए वैचारिक व निर्णायक संघर्षों पर विस्तृत रूप से विचार किया गया है। इस अध्याय के दूसरे उप-अध्याय में हिन्दी में इसे लेकर की गई प्रतिक्रियाओं का रखा गया है। इस क्रम वे किस प्रकार

बोल्शेविज़्म को रोकने के औपनिवेशिक षड्यंत्रों और साथ ही भारत के राष्ट्रीय आंदोलनों की आलोचना करते हैं, इसपर विचार किया गया है।

'राष्ट्रवाद का वैश्विक संदर्भ और हिन्दी का कथेतर गद्य'- इस शोध-प्रबंध का यह चौथा अध्याय है। इसमें राष्ट्रवाद संबंधी विभिन्न विमर्शों और संदर्भों की आलोचना और अध्ययन है। भारत जैसे औपनिवेशिक देश के लिए यह विमर्श वैसा ही नहीं था जैसा फ्रांस और जर्मनी जैसे देशों का। विभिन्न अर्थराजनीतिक सतह पर एक संकल्पना के रूप में राष्ट्रवाद के आगमन की अपनी-अपनी विशेषताएं थीं। इसके पहले उप-अध्याय में उन बिन्दुओं को चिह्नित किया गया है। इसका दूसरा उप-अध्याय, भारत के तत्कालिन राष्ट्रवादी वर्गों के मूल्यांकन पर आधारित है। तीसरा उप-अध्याय हिन्दी लेखन और विमर्शों में आए राष्ट्रवाद के विभिन्न स्वरूपों पर आधारित है।

इस शोध-प्रबंध का पांचवा और अंतिम अध्याय 'फ़ासीवाद की विचारधारा और हिन्दी का कथेतर गद्य' है। इसमें फ़ासीवाद के अर्थ, प्रकृति और पृष्ठभूमि को आधार बना कर उस दौर में उसके प्रभावों का अध्ययन किया गया है। इसके दूसरे उप-अध्याय में हिन्दी के उस दौर के लेखकों द्वारा फ़ासीवाद की आलोचना और उनकी प्रतिक्रियाओं का मूल्यांकन है।

हाल के वर्षों में विश्व-इतिहास की कुछ महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का अनुवाद हिन्दी में हुए हैं। क्रिस हरमन की पुस्तक 'विश्व का जन इतिहास', एरिक हॉब्सबाम की 'पूंजी का युग', 'क्रांति का युग', 'साम्राज्य का युग' और 'अतिरेकों का युग' नाम से हिन्दी में अनुवादित हुई पूरी श्रृंखला, लाल बहादुर वर्मा की 'अधूरी क्रांतियों का इतिहास-बोध', अन्ना लुई स्ट्रांग की 'स्तालिन-युग'- इन जैसी पुस्तकों ने उस दौर की घटनाओं को देखने-समझने की नई दृष्टि और तमीज दी।

शोध-कार्य अपने आप में एक सामूहिक श्रम का नतीजा है। आधार रूप में एक या कई समूह सक्रिय रहते हैं तब जाकर कोई शोध की संभावना बन पड़ती है। मित्र, कॉमरेड्स, परिवार के लोग, यूनिवर्सिटी के शैक्षणिक व ग़ैर शैक्षणिक खे़मे के परिचित व अपरिचित लोग, विभिन्न आंदोलनों, विमर्शों और बहसों के साथी- सबका अपने तरह का योगदान रहा। शोध-निर्देशक से सहयोग और छूट दोनों मिले तो क्या बात है! इन सबको धन्यवाद कैसे करूँ! छात्र-राजनीति में मेरी सक्रियता ने कई स्तरों पर इस शोध में सहायता की। जेएनयू का राजनीतिक और अकादमिक

वातावरण की वो ख़ासियत जिसमें संवाद, विमर्श और असहमति व्यक्त करने की आज़ादी आज भी मजबूत है, को मेरा सलाम! इसके सबक और इसकी प्रेरणा आगे भी बनी रहे!

19.07.2016 संदीप सौरभ

अध्याय विभाजन

पृ. संख्या

भूमिका i-v

1. विश्वयुद्धों के बीच का वैश्विक परिदृश्य: संदर्भ और वैचारिकी **1-46**

1.1 20वीं सदी का वैश्विक परिदृश्य: संदर्भ

1.2 1914-45 के वैश्विक परिदृश्य की वैचारिकी

1.2.1 साम्राज्यवाद

1.2.2 राष्ट्रवाद

1.2.3 बोल्शेविक क्रांति (सोवियत समाजवाद)

1.2.4 फासीवाद

2. साम्राज्यवाद और हिन्दी का कथेतर गद्य **47-94**

2.1 साम्राज्यवाद की पृष्ठभूमि

2.2 साम्राज्यवाद और हिन्दी के लेखक

3. बोल्शेविक क्रांति और हिन्दी का कथेतर गद्य **95-133**

3.1 बाल्शेविक क्रांति का इतिहास

3.2 बोल्शेविक क्रांति और हिन्दी लेखन

4. राष्ट्रवाद का वैश्विक संदर्भ तथा हिन्दी का कथेतर गद्य **134-175**

4.1 राष्ट्रवाद: अर्थ पर विचार

4.2 भारत में राष्ट्रवाद का उदय और राष्ट्रवादी वर्ग

4.3 राष्ट्रवाद और हिन्दी लेखन

5. फासीवाद की विचारधारा और हिन्दी का कथेतर गद्य **176-209**

6.1 फासीवाद का अर्थ और इसकी पृष्ठभूमि

6.2 फासीवाद और हिन्दी लेखन

उपसंहार **210-226**

संदर्भ-ग्रंथ तालिका **227-233**

पहला अध्याय

विश्वयुद्धों के बीच का वैश्विक परिदृश्य: आधार और विचार

28 जून 1914; यह इतिहास की महज़ एक तारीख़ नहीं थी, सराजेवो में ऑस्ट्रिया-हंगरी के आर्क ड्यूक की हत्या ने एक सप्ताह के भीतर ही दुनिया को एक ऐसी स्थिति तक पहुँचा दिया जहाँ एक वीभत्स तबाही उसका इंतज़ार कर रही थी। ड्यूक की हत्या से लेकर जापान के बिना शर्त समर्पण तक का युग दरअसल, तेज़ गति से बदलाव-व्यापक विनाश के साथ-साथ द्रुत सामाजिक-राजनीतिक क्रांतियों[1] का युग था। इस विनाश और क्रांतियों के अपने-अपने आधार और परिणाम थे; इन आधारों और परिणामों की रेखाएँ एक दूसरे को छूती, काटती और अनेक बार परस्पर विरोध में गतिमान थी। कुल मिलाकर यह तेज़ी से बदलते हुए घटनाक्रमों का दौर रहा जहां इससे प्रभावित हुए बग़ैर वैश्विक राजनीतिक ग्लोब का कोई भी क्षेत्र अछूता नहीं रहा।

19वीं सदी के इतिहास की यह स्वाभाविक विडंबना रही कि हम यूरोप के इतिहास को विश्व इतिहास समझते हैं और यूरोपीय देशों के अंतर्संबंधों को अंतर्राष्ट्रीय संबंध। हालांकि, इस सदी के अंत तक आते-आते यूरोप का प्रभुत्व कम होने के लक्षण दिखने लगे थे और उसके सामने जापान और संयुक्त राज्य अमेरिका- दो बड़ी ताक़तों का उदय हो रहा था। उसके उपनिवेशों में राष्ट्रवादी आंदोलनों की उभार तीव्र हो रही थी। इसके बावजूद, 20वीं सदी की शुरूआत तक वैश्विक ग्लोब के राजनीतिक संचालन का केन्द्र कमोबेश यूरोप ही था। पूरे विश्व की आर्थिकी इसकी राजनीति से संचालित, अनुशासित और प्रभावित हो रही थी। पूर्व की स्थितियों ने आने वाले दशकों के घटनाक्रमों में यूरोप की भूमिका के महत्त्व को अब भी रेखांकित कर रखा था।

20वीं सदी में आकर जबकि भारत के राष्ट्रीय आंदोलनों में अस्पष्ट विचारधारा, गड्डमड्ड राजनीति, तात्कालीकता-ग्रस्त रणनीति और रूढ़िग्रस्त कार्यनीति ने कोई दिशा बोध नहीं विकसित होने दिया था[2], यूरोप में महान बदलाव की स्थितियां तैयार हो चुकी थी। भारत के राष्ट्रीय आंदोलन का केंद्रीय नेतृत्व इसी अस्पष्टता और दिशा-बोध की 'गंभीर कमियों' के साथ आगे बढ़ता रहा। दूसरी ओर 20वीं सदी के आने वाले चंद दशकों को कम-से-कम पांच अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक घटनाएं

विश्व मानचित्र को सिरे से प्रभावित करने जा रही थीं- साम्राज्यवादी उन्माद से उपजा प्रथम विश्व युद्ध, रूस में हुई बोल्शेविक क्रांति, 1929 की 'महान मंदी', राष्ट्रवाद की विचारधारा का वैश्विक फैलाव, और एक राजनैतिक आंदोलन के रूप में फ़ासीवाद का उदय। इन घटनाओं ने दुनिया के राजनैतिक ग्लोब पर अपने व्यापक प्रभाव छोड़े। इस दशक की परिस्थितियों ने उन रेखाओं को उकेरा जहाँ कोई भी देश 1914 के पहले जैसा नहीं रह गया। इतिहास की उस बिन्दु पर खड़े होकर ये घटनाएँ स्वत:स्फूर्तता, आकस्मिकता और अप्रत्याशितता से भरी लग सकती हैं। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था और उससे उपजी परिस्थितियों तथा उसके अंतर्विरोधों ने 1914 तक आते-आते दुनिया के नक्शे को अपनी आगोश में ले लिया। इतिहास में कुछ भी 'बस हो जाने' जैसा नहीं होता। पूर्ववर्ती घटनाओं से निर्मित इतिहासबोध और युगीन अर्थराजनीतिक दिशा-गति उसका निर्धारण करते हैं, कम-से-कम उसके आधार की निर्मिति...।

20वीं सदी अपने प्रारंभ से ही अपने पूर्व की शताब्दियों से कई गुणा अधिक गतिशील थी और दूरगामी प्रभाव वाली उथल-पुथल की घटनाओं से भरी थी। इन घटनाओं ने पूरे विश्व के राजनीतिक सीमारेखाओं के स्थायित्व, मायने और उसके भीतर की स्वायत्तता को कम किया। 20वीं सदी के वैश्विक परिदृश्य को निर्मित करने के जो संदर्भ थे, उनमें सबसे आधारगत था- औद्योगिक क्रांति।

औद्योगिक क्रांति, जो शुरूआत में कपड़ा उद्योग में कताई से शुरू हुई थी, ने महज कुछ दशकों में उत्पादन के हर क्षेत्र में क्रांतिकारी परिर्वतन कर दिए। एक दशक के भीतर उत्पादन और नए-नए आविष्कारों के उफान ने दुनिया के प्राय: हर उस क्षेत्र में जहाँ इंसानों का समूह रहता था, पूंजी की मुहर लगा दी। 1900 तक आते-आते ब्रिटेन की तीन-चौथाई आबादी नगरों में रह रही थी और 10 फीसद लोग ही भूमि पर निर्भर रह गए थे।[3] जीवनचर्या के हर पहलू में पुराने तरीके बेकार साबित हो रहे थे; उत्पादन और पूंजी की धमक से लाभान्वित देश और वर्ग, ब्रिटेन का अनुकरण कर रहे थे। यहाँ आकर पूंजी और मुनाफे की अप्रत्याशित होड़ ने पूरी दुनिया को जैसे जकड़ लिया। उत्पादन में इस नए गुणात्मक और मात्रात्मक छलांग ने पुराने उत्पादन संबंध को खदेड़कर एक नयी अर्थव्यवस्था को जन्म दिया- पूंजीवाद। पूंजीवाद का उभार और उसके फलस्वरूप उपजी मुनाफे की उन्मादी प्रतिस्पर्धा, पूरी दुनिया को 1914 तक आते-आते एक ऐसी अवस्था में पहुंचा चुकी थी, जब

भीषण तबाही की आशंका ने दुनिया के स्तर पर राजनयिकों, बुद्धिजीवियों, साहित्यकारों, इतिहासकारों आदि को परेशान कर दिया। इस आसन्न तबाही को रोकने के लिए कई असफल प्रयास हुए। ऑस्ट्रिया के राजकुमार की हत्या न हुई होती तब इस महायुद्ध को रोका जा सकता था, ऐसा कहना बेहद कठिन है।

दरअसल उत्पादन की तेज़ गति और इसके लिए कच्चे मालों और बाज़ार की उन्मादी चाहत, जिस अनियंत्रित आवेग से 20वीं सदी में प्रवेश करने वाली थी, वहां विश्वयुद्ध से कमतर कोई घटना नहीं होने जा रही थी। अपनी पहले की शताब्दियों की अर्थराजनीतिक भूमिका पर यहां पश्चिमी बुर्जुआ द्वारा एक ऐसे समाज और सभ्यता को रचा गया– ऐसी परिघटना और वैचारिकी का उछाल हुआ जो, आने वाले दशकों के स्थाई स्वरूप न भी बन पाए तो भी उसके विकास की गति और दिशा के लिए एक महत्त्वपूर्ण आधार स्थापना साबित हुई। 19वीं सदी में पूंजीवादी अर्थव्यवस्था ने जिस प्रकार अपने अनुरूप प्रगति, जनतंत्र, प्रतियोगिता, राष्ट्र, स्वायत्तता आदि को परिभाषित किया था, जाहिर है उसने साम्राज्यवाद की परिघटना को रोकने में ज़रा सी भी मदद नहीं की; बल्कि उसे और भी बढ़ाया।

दरअसल इस नए उत्पादन संबंध और वैश्विक अर्थव्यवस्था ने दुनिया के स्तर पर राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक मानदंडों और वैचारिकी में बड़ा उलटफेर किया। पूंजी की ज़रूरतों से परिभाषित तार्किकता, प्रगति, जनतंत्र और प्रतिस्पर्धा आदि ने साम्राज्यवाद को उस समय वैश्विक अर्थराजनीति के फलक की सबसे बड़ी सच्चाई बना दी। कहते हैं, ब्रिटिश साम्राज्य में कभी सूर्यास्त नहीं होता था। स्वयं ब्रिटेन की आबादी 4.5 करोड़ थी लेकिन इसने 40 करोड़ की आबादी पर कब्जा कर रखा था। फ्रांस की अपनी आबादी 3.9 करोड़ थी, लेकिन इसने 5 करोड़ से अधिक की आबादी को अपने अधीन किया हुआ था।[4] स्वाभाविक है कि यह प्रभाव महज़ राजनैतिक नहीं था, बल्कि आर्थिक भी था। ब्रिटेन, जर्मनी और फ्रांस –इन तीन यूरोपीय देशों का दुनिया के लगभग 45 प्रतिशत अंतर्राष्ट्रीय व्यापार पर नियंत्रण था तथा विश्व बाज़ार में खपत हो रहे माल का 60 प्रतिशत इन्हीं देशों का था।[5] वर्चस्व और संघर्ष की इन्हीं सच्चाईयों के साथ पूरी दुनिया ने 20वीं सदी में प्रवेश किया था। इस प्रकार घटनाओं, कारणों और कई बार अप्रत्याशितताओं के साथ इन्हीं संदर्भों के आलोक में देखते ही देखते पूरी दुनिया दो फाड़ में हो गई– विजेता और विजित।

1.1 20वीं सदी का वैश्विक परिदृश्यः संदर्भ

20वीं सदी के प्रारंभिक दशकों ने वैश्विक स्तर पर अत्यधिक गतिशील, नाटकीय और साथ ही दूरगामी प्रभाव वाली घटनाओं कों जन्म दिए। इसके और इसके पूर्व की शताब्दी जिसे बुर्जुआ उदारतावाद[6], उग्र सुधारवाद तथा तर्क और विज्ञान आदि को लेकर नई आशाओं का दौर कहा जा सकता है- के बीच 1914 का साल एक चट्टानी विभाजन रेखा की तरह है। यह वो साल था जहां आकर यूरोप का बुर्जुआ उदारतावाद, जो पिछले कुछ दशकों में आत्मविश्वास से लबरेज़ हो चुका था, पूरी तरह से किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गया। संचित और एकाधिकारवादी पूंजी को या तो साम्राज्यवाद के कंधे पर सवार होकर एक बड़ा छलांग लगाना था या उसे अपने ही अंतर्विरोधों और नई परिस्थितियों में आकर 'स्वाहा' हो जाना था। आज हम इतिहास के उस हिस्से पर नज़र डाल कर प्रथम महायुद्ध को उसके पूर्वकाल की घटनाओं और स्थितियों से जोड़ कर तार्किक कारकों की एक श्रृंखला तैयार कर सकते हैं। लेकिन, उस दौर की पीढ़ी के बुद्धिजीवियों, इतिहासकारों, कलाकारों, शासकों, सलाहकारों, सैन्य अधिकारियों आदि के लिए यह सुविधा उपलब्ध नहीं थी। 1914 की दहलीज़ पर खड़े होकर हम बहुत सोच कर भी केवल अप्रत्याशित तरीके से हतप्रभ हो सकते हैं। न केवल यूरोप, बल्कि पूरा वैश्विक ग्लोब एक आसन्न ख़तरा और आतंक के साये में रहने और राष्ट्र उन परिस्थितियों को झेलने को मजबूर हो गए जिसे शायद उन्होंने खुद नहीं जन्मा था।

औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप उद्योग जगत में इंसानी श्रम के बीच विशालकाय और हैरतअंगेज कारनामे करने वाली मशीनों का इस्तेमाल शुरू हुआ। उत्पादन के क्षेत्र में एक विशालकाय प्रारूप तैयार हुआ जिसमें कालांतर में छोटे-मोटे हथकरघा, कुटीर उद्योगों यहां तक कि छोटे-मंझले पैमाने पर हो रही कृषि आदि को तीव्र गति से समा जाना था। नई अर्थव्यवस्था की आहट ने अपनी सुविधा के मुताबिक 16वीं शताब्दी से ही 'संपत्तिहृत लोगों के ख़िलाफ़ ख़ूनी क़ानूनों का निर्माण'[7] शुरू कर दिया था। 'पूंजी' भाग-1 में कार्ल मार्क्स ने लिखा है- ''...खेती करनेवाले लोगों की सबसे पहले ज़बरदस्ती ज़मीनें छीनी गयीं, फिर उनको उनके घरों से खदेड़ा गया, आवारा बनाया गया और उसके बाद उनको निर्मम और भयानक क़ानूनों का उपयोग करके कोड़े लगाये गये, दहकते लोहे से दाग़ा गया, तरह-तरह की यातनायें दी गयीं और इस प्रकार उनको मज़दूरी की प्रणाली के लिए आवश्यक अनुशासन सिखाया गया।''[8] एक प्रक्रिया के तहत छोटे और मंझले स्तर के किसान,

अलग-अलग उद्योग धंधों में लगे मज़दूरों के समूह और यहां तक कि स्थानीय स्तर पर अपना स्वायत्त रोज़गार चलाने वाले लोग- सबको पूंजी और उत्पादन के एक तेज प्रवाह ने जैसे हर चीज़ से 'मुक्त' कर दिया। अब ये लोग उत्पादन के किसी भी साधन से मुक्त थे ; और साथ ही अपने श्रम को सस्ते दामों पर दिहाड़ी के रूप में बेचने के लिए मजबूर थे । नगरीकरण की प्रक्रिया अभूतपूर्व गति से बढ़ी तथा कस्बों और नगरों में भीड़ उमड़ पड़ी। लोगों के रहन-सहन में और जीवन जीने के तरीके में बड़ा बदलाव आया। 1830 तक आते-आते ब्रिटेन मानव सभ्यता का सबसे पहला औद्योगिक समाज बना। 1800 से 1910 के बीच वहां नगरों में रहने वाले लोगों की आबादी 19.2 प्रतिशत से बढ़कर 71.3 प्रतिशत हो गई।[9] तकनीक हर दिन कुछ बदलाव लेकर आता और मज़दूरों की 'पुरानी कुशलता' बेकार साबित होती। 'आसान धन' के लिए लोग पुराने धंधे और अपनी स्थानीयता छोड़ते और नगरों की ओर दौड़ते। वहां भी जब मंदी हावी जो जाती तो बेकार हो जाते। इस तरह दरिद्रता एक बड़े तबके की नियति बन गई। इसी आबादी की श्रम-शक्ति भारी मुनाफे की श्रोत थी। मुनाफाखोरों के लिए एक आवश्यक तरकीब उनके सिद्धांतकारों ने निकाली- 'वास्तव में मुक्त बाज़ार में कोई बेरोज़गार रह ही नहीं सकता है। अगर लोगों के पास रोज़गार नहीं है तो इसका मतलब है कि बाज़ार की औकात से अधिक मज़दूरी मांगी जा रही है।'[10] गरीबों से जमकर काम लो, इसके बिना अगर उन्हें थोड़ी-सी भी आमदनी होती है तो वे आलसी, निकम्मे, धोखेबाज़, हो जाएंगे तथा 'आत्मसम्मान और संयम खोकर बिगड़' जाएंगे।[11] राज्य की संरचनाओं में परिवर्तन आये और एक प्रक्रिया के तहत श्रम के शोषण को आधुनिक राज्य की नियति बना दी गई। औद्योगिक क्रांति ने उत्पादन-प्रक्रिया में बुनियादी बदलाव किए, सामाजिक जड़ता को चुनौती दी, मानव-सभ्यता को मुक्ति और प्रगति के आवेगमय अवसर दिए; लेकिन जिस अर्थव्यवस्था के गोद में इसका आविर्भाव हुआ, वहां एक बड़ी आबादी के लिए शोषण और बेकारी उनकी नियति बना दी गई थी।

19वीं सदी के मध्य तक दुनिया के अर्थशास्त्र और राजनीति में एक नए शब्द की धूम मची- 'पूंजीवाद' की। इसके ऐतिहासिक आधार के संबंध में एरिक हॉब्सबाम ने लिखा है कि यह उस सामाजिक सोच की जीत थी जो अपनी गति से यहां तक पहुंच गई थी कि 'निजी उद्यम की सफलता परस्पर प्रतिस्पर्धा, सस्ती ख़रीददारी (चाहे वो श्रमिक की ख़रीद क्यों न हो) तथा मंहगाई में बेचने की परंपरा का निर्वहन कर ही संभव हो पाएगी।'[12] पूंजीवादी अर्थराजनीति का उदय और तेज़ी

से बदलते उत्पादन के संबंध के साथ आई अधिकाधिक मुनाफ़ाखोरी की होड़ ने पूरी दुनिया को एक ऐसे मोड़ पर लाकर खड़ा कर दिया, जहां आने वाले कम-से-कम चार-पांच दशक को अद्‌भुत गति और परिणाम के साथ बदलना था। एक तरफ, विजेता राष्ट्रों में अधिकाधिक मुनाफाखोरी और साम्राज्य स्थापित करने की होड़ ने पूरी दुनिया को लगातार युद्धोन्माद की ओर धकेला; दूसरी ओर, विजित देशों की अर्थव्यवस्था लूट के निरंतर अभियान में पंगु होती गई और उसे चाहे-अनचाहे युद्ध में भी झोंका गया।

क्रिस हरमन के अनुसार 20वीं सदी के प्रारंभ तक ''दुनिया में अंटार्कटिका के बर्फीले रेगिस्तानों, आमेजन घाटी के सुदूर जंगलों और न्यू गिनी के कुछ क्षेत्रों को छोड़ शायद ही कोई कोना बचा हो जहां पूंजीवाद के दूत सस्ता सामान, बाइबिल, विषाणु और बिना कमाए धन की आशा लिए न पहुंच गए हों।''[13] इस वैश्विक हक़ीकत ने पूंजी के रास्ते में नयी समस्या और अवसर दोनों पैदा किए। समस्या ये कि श्रमिकों के अत्यधिक शोषण और उनकी मज़दूरी को भी मुनाफ़े में शामिल कर लेने की होड़ से इस अर्थव्यवस्था के सामने उपजी नई श्रम-शक्ति का संकट और घटती क्रय-क्षमता का क्या किया जाए! दूसरी ओर, अवसर इस बात का कि जो असंख्य आबादी क्रमशः केंद्रित होती जा रही पूंजी को मुनाफा पहुचांने में जुटे थे उनके ग़ैर भौतिक ज़रूरतों की सप्लाई और व्यवस्था कर मुनाफे के आयामों को बढ़ाया जाए। प्रारंभ में इस व्यवस्था ने तो श्रमिक समुदायों का जो 12-14-16 घंटे उत्पादन व्यवस्था की गुलामी के लिए निर्धारित हो रहे थे, उसका उपयोग किया था; लेकिन अब उनकी नज़र लोगों की पूरी जीवनचर्या पर थी। जो वे खाते थे, जिस छत के नीचे रहते थे, जिस चारपाई पर सोते थे, जो उनका मनोरंजन का साधन था, वे जिन धार्मिक आडंबरों को अपनाते थे और यहां तक कि जो वे सोचते थे- सब जगह पूंजी मालिकों ने अपने लिए अवसर ढूंढ़ निकाले थे। बाज़ार का प्रवेश जीवन के हर पहलू में हो रहा था। साम्राज्यवादी पूंजी का प्रभाव जीवन में इस तरह घुलने लगी कि मज़दूरों और खाते-पीते मध्य वर्ग को इसका अहसास भी नहीं हुआ। हिन्दी के आधुनिक कवि दिनेश कुमार शुक्ल ने वर्तमान समाज में पूंजी के इस प्रभाव-प्रपंच की गहराई को इस तरह दिखाया है-

जंगी बेड़ों पर नहीं

न तो दर्रा-ख़ैबर से

आयेंगे इस बार तुम्हारे भीतर से वे

धन-धरती ही नहीं

तुम्हारा मर्म तुम्हारे सपने भी वे छीनेंगे इस बार,

वे तुम सबके रक्त पसीने और आँसुओं

का बदलेंगे रंग

तुम्हारी दृष्टि तुम्हारा स्वाद

तुम्हारी खाल

तुम्हारी चाल-ढाल का भी बदलेंगे ढंग,

बीजों के अंकुरण

और जीवों के गर्भाधान

नियंत्रित होंगे उनके कानूनों से

तुम्हें पता ही नहीं

तुम्हारी भाषाओं के अंक मिथक किस्से मुहाविरे

सिर्फ़ अजायबघर में अब पाये जायेंगे

...

सात द्वीप - नवखण्ड और सातों समुद्र में

सिर्फ पण्य की सार्वभौम सत्ता का सिक्का

चला करेगा

इस एकीकृत विश्वग्राम के मत्स्य न्याय में

एक साथ सब जीव जलेंगे दावानल में

जिन्सों की इलहाम भरी

यह नयी खेप अवतरित हुई है

एक भाव, रस एक, एक भाषा में सारे

बन्दीजन गुणगान कर रहे हैं उसका ही

नये ब्रान्ड का प्रेम उतारा था बाज़ार में

जिसने पहले

लान्च किये हैं उसी कम्पनी ने

हत्या के नये उपकरण

...[14]

पूंजी और मुनाफे की पैठ इंसानों की रूह तक हो जाने की ख़तरनाक स्थितियों की शुरूआत हो चुकी थी।

लेकिन जैसा कि साम्राज्यवादी-पूंजीवाद के उदय की व्याख्या का कोई एक निश्चित और एकरेखीय आधार नहीं है, उसका प्रभाव और परिणाम भी एक रेखीय नहीं था। इन परिस्थितियों

ने एक बड़े तबके के बीच की आवाजाही की शुरूआत कर दी, उन्हें एक दूसरे के क़रीब ला दिया। और इतिहास ने साबित किया कि यह औद्योगिक वर्ग सिर्फ शोषण को झेलने के लिए तैयार नहीं था। बड़े पैमाने पर मज़दूरों का संकेन्द्रण, लगातार बढ़ते जाने वाली श्रम की लूट की प्रक्रिया और यूरोप को सताने वाला एक संभावित 'भूत'[15] ने मज़दूरों के एक बड़े प्रतिकार और समाज को बदल देने वाले विचारों के उभार की संभावना पहले के किसी भी दौर से बढ़ा दी। इस पूरी प्रक्रिया में महिलाओं की भूमिका ऐतिहासिक रूप से नई थी। ''... औद्योगिक क्रांति के पहले ज्वार में औरतें और बच्चों का ही फैक्टरियों में जमावड़ा हुआ। स्थितियां भयानक थीं-- इतनी भयानक कि औरतें चाहतीं कि कोई मर्द होता तो बच्चों के पोषण और काम के दोहरे मार से मुक्ति दिला देता। पर पहली बार उनके हाथों में पैसा आ रहा था और पति या प्रेमी से एक हद तक आज़ादी मिल रही थी। लंका शायर की मिलवाली औरतें एक हद तक अपने फ़ैसलों के लिए ख्यात हो चली थीं। इसी तरह पेरिस के पूर्वी क्षेत्र की 'ग्रिसेत' लड़कियां पुलिसवालों पर कटाक्ष कर देतीं और फ़ौज़ियों को चुनौती दे देतीं। उत्पादन में क्रांतिकारी परिवर्तन कर पूंजीवाद ने हज़ारों साल तक नारी के उत्पीड़न की मदद करनेवाली प्रवृत्ति को भी उलट-पलट दिया था।''[16] इसके पूर्व इतिहास की घड़ियों ने नगरों में कुछ विशेष तरह के कारीगरों के जमावड़े, करिश्मायी नेतृत्त्व और अपने समय के परिवर्तनकारी विचारों के दम पर कई छोटी-बड़ी क्रांतियों को देखा था- इंग्लैण्ड, अमेरिका, फ्रांस में क्रांतियां। 19वीं सदी में ब्रिटेन में अनेक आंदोलन उठ खड़े हुए जो पहले से अधिक व्यापी, संगठित और प्रभावी थे। इन आंदोलनों के इतिहास बोध से आगामी परिवर्तनकारी घटनाओं को जन्म लेना था। ऐसा ही एक महत्वपूर्ण आंदोलन उभरा- चार्टिस्ट आंदोलन[17]। महत्त्वपूर्ण इस लिहाज से कि इसने शीघ्र ही जन आंदोलन का रूप ले लिया।

इस प्रकार विश्व का 20वीं सदी में प्रवेश एक तरफ पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के विभिन्न अवसरों और संकटों के उतार-चढ़ाव और मुनाफ़ाखोर उन्माद के साथ हुआ। वही दूसरी ओर, श्रमिक वर्गों के संकेंद्रण से शोषण का विरोध करने के लिए कई आंदोलन छिड़ चुके थे, शोषक व्यवस्था के चरित्र और उसके समानांतर मज़दूर वर्ग की एक 'नई व्यवस्था' को वैज्ञानिक रूप से सिद्धांतबद्ध किया जा चुका था। इसके छोटे-बड़े प्रयोग जारी थे; इसका 'महान प्रयोग' आने वाले वर्षों में होना था। इस प्रकार एक ही अर्थराजनीति और वैश्विक व्यवस्था से उपजे दो बिल्कुल भिन्न और विपरीत

तथा एक दूसरे के विरोध में खड़ी स्थितियों के आलोक में 20वीं सदी को अपनी दिशा तय करनी थी। मज़दूर और उद्योगपति- स्पष्ट रूप से पूरी दुनिया में दो ऐसे खेमे बन रहे थे, जिनके हित एक दूसरे के ख़िलाफ़ में खड़े थे। एक वर्ग अपने श्रम से उत्पादन की गति और मात्रा को निरंतर बढ़ाता जा रहा था और बदले में उसे अपने लिए मुफ़लिसी और बदतर से बुरी होती जा रही स्थितियां मिल रही थीं जबकि उनके शोषक वर्गों को मुनाफ़ा। एक को इस उत्पादन संबंध को और मजबूत, टिकाऊ तथा मुनाफ़ादायी बनाना था जबकि दूसरे वर्ग के पास 'अपनी दासता की बेड़ियों के अलावा कुछ भी और खोने को नहीं बचा था'[18]। मज़दूरों के जिस विशाल हुजूम पर नई पूंजीवादी व्यवस्था टिकी थी, उन्हें क्रमशः उत्पादन के किसी भी प्रकार के साधन से मुक्त कर दिया गया था।

इस प्रकार वर्गों के बीच का अंतर्विरोध जो अपने पहले के शताब्दियों से कई गुणा अधिक तेज़ और स्पष्ट था, 20वीं सदी का पहला महत्त्वपूर्ण संदर्भ बना। इसी पर आने वाले चार-पांच दशकों में दुनिया को दो-दो महायुद्धों को झेलना था और उनके बीच कई युगांतकारी सामाजिक-राजनीतिक क्रांतियों का अनुभव लेना था।

20वीं सदी की शुरूआत तक भी पूंजीपति देशों की अर्थनीति में राजकीय हस्तक्षेप प्रायः कम था। अब भी राज्य का प्रमुख कार्य शांति और व्यवस्था बनाना ही था। आर्थिक मामलों में टैक्स लगाना, मुद्रा ढालना, नोट छापना आदि तक ही राज्य का काम था। उत्पादन और मूल्य को लेकर यह प्रायः उदासीन थी। फ्रांसीसी क्रांति ने लोकतंत्र और उसके उदारतावादी मूल्यों की महत्ता भले ही बढ़ा दी हो, लेकिन अब भी लोगों के मताधिकार बेहद सीमित थे। औरतें वोट नहीं कर सकती थीं। यूरोप ने चर्च और राज्य सत्ता की लड़ाई देखी थी तथा पूंजीवाद के आगमन ने व्यवस्था को जकड़े सामंती मूल्यों पर चोट की थी। इसके बावजूद अब भी पार्लियामेंट में बड़े-बड़े ज़मींदार, पूंजीपतियों के प्रतिनिधि, वकील इत्यादि का बोलबाला था। जर्मन राइखस्टाग (संसद) में 1900 में कुल सदस्यों में 115 बड़े सामंत, 21 कारखानेदार और 22 पादरी थे। ब्रिटेन में भी ऐसी ही स्थिति थी।[19] कुल मिलाकर यह कि इन राज्यों के नीति-निर्धारण में उस वर्ग की महत्त्वपूर्ण भागीदारी और नुमांइदगी थी जो सारी दुनिया को अपने मुनाफे के लिए कच्चे माल का स्रोत और बाज़ार बनाने पर आमादा थे। शक्तिशाली देशों ने धड़ल्ले से अपने उपनिवेश बनाने और बढ़ाने तथा उसे हर स्तर पर जमकर लूटने की नीति बनाई। पूंजी की दुनिया में प्रतिस्पर्धा इस क़दर हावी थी कि कई बार किसी

इलाके पर कब्ज़ा करना इसलिए ज़रूरी हो जाता था कि, कहीं कोई अन्य राष्ट्र उसे अपने अधीन न बना ले। इस प्रकार, एक प्रक्रिया के तहत यहां आकर पूंजीवाद ने साम्राज्यवाद का रूप धारण कर लिया। 20वीं शताब्दी में यह साम्राज्यवाद पूरी दुनिया पर हावी हो गया। इस उन्माद की परिणति आपसी युद्धों में हो सकती है और होती भी रही थी, यह तो प्राय: सभी ने सोचा होगा लेकिन विश्वयुद्ध हो जाने की परिकल्पना विशेषज्ञों तक ने न की थी। तमाम स्थितियों के बावजूद '1900 में कोई भी सरकार ऐसी नहीं थी, जो 1930 के वर्षों की तरह उन लक्ष्यों पर चले जिनका नतीजा युद्ध या युद्ध की लगातार आशंका हो सकती थी।'[20] स्थिति ऐसी नहीं बनी थी कि कोई देश या राजनयिक विश्वयुद्ध जैसी भयावह स्थिति चाहते।

पिछले कुछ दशकों में साम्राज्यवादी युद्ध तो कई हुए थे, लेकिन वे विश्वयुद्ध नहीं थे। 1914 से पहले 'शांति सामान्य थी और यूरोपीय ज़िंदगियों की बुनावट का एक हिस्सा थी। ... 1871 के बाद किसी यूरोपीय देश ने अपनी सशस्त्र सेना को किसी अन्य देश के सैनिकों पर गोली चलाने के आदेश नहीं दिए थे।'[21] हालांकि 'यूरोप भर में एक युद्ध की संभावना पहले से दिखाई दे रही थी, और केवल सरकारें ही नहीं, उनके सैनिक दल ही नहीं, बल्कि आम जनता भी इस पर सोच रही थी।[22] 19वीं सदी के अंतिम दशक में युद्ध की चिंताएं इतनी सघन हो गईं थीं कि एक विश्व-शांति-सम्मेलन का आयोजन किया गया- इक्कीसवां सम्मेलन विएना में 1914 के सितंबर में होना था- नोबेल शांति पुरस्कार की स्थापना हुई (1897) और हेग में पहला शांति सम्मेलन हुआ। शांति स्थापना के लिए हो रहे इन आयोजनों के समानांतर यूरोपीय शक्तियों का ध्रुवीकरण भी बढ़ा। अपने उपनिवेशों को बढ़ाने और बचाने की नीति ने फ्रांस, जर्मनी, इंग्लैण्ड, रूस, ऑस्ट्रिया आदि महाशक्तियों को दो विरोधी ख़ेमों में बांट दिए। अगर युद्ध को भी छोड़ दें तो, इस तरह की खेमेबाजी यूरोप के इतिहास के लिए सर्वथा नई थी। इसका एक मुख्य कारण यूरोप के राजनीतिक पटल पर एकीकृत जर्मन की बढ़ती दावेदारी थी जिसे उसने मुख्य रूप से 1864 से 1871 के बीच युद्ध और कूटनीति से हासिल की थी।

20वीं सदी के पहले दशक में आकर खेमे में बंट रहे यूरोप को और उन्मादी बनाया हथियार-उद्योग ने। युद्ध-शैली और सैन्य तकनीक में हर दिन हो रहे बदलाव और तेज़ी से बढ़ता हथियार उद्योग- दोनों एक दूसरे को प्रोत्साहित कर रहे थे। यह सब कुछ आसन्न युद्ध की आशंका

को देखते हुए शांति-स्थापना के लिए हो रही वार्ताओं और संधियों-समझौतों के बावजूद था। पिछले पांच दशकों में छोटे हथियारों, तोपख़ाने और इनकी मारक क्षमता से लेकर टरबाइन के इस्तेमाल से और बेहतर पनडुब्बी में ज़बरदस्त बढ़ोतरी हुई। यूरोप के भविष्यदृष्टा जब युद्ध के आसन्न संकट से चिंतित थे, राज्य की सरकारों ने हथियारबंदी में खूब उत्साह दिखाया। हथियारों का कारोबार अचानक से बढ़ चला। 1892 में अपने मित्र डेनिलसन को लिखी एक चिट्ठी में एंगेल्स ने लिखा-''युद्ध विशाल उद्योगों की प्रशाखा बन गया था ... और विशाल उद्योग एक राजनैतिक आवश्यकता बन गए।''[23] हथियार-निर्माण के कारखानेदारों ने इसे बढ़ावा देने और सरकारों को उकसाने में कोई कसर नहीं छोड़ी।[24] सभी राष्ट्र अपने को युद्ध की तैयारी में चुस्त-दुरूस्त रखने की होड़ में आ गए थे। युद्ध की तैयारी अब मंहगी हो गई थी। 1870 और यहां तक कि 1880 के दशकों में ब्रिटेन का सैन्य ख़र्च 32 मिलियन पाउंड था, 1887 में बढ़कर 44.1 मिलियन पाउंड हो गया और 1913 तक आते-आते 77 मिलियन पाउंड। जर्मनी ने 1890 में 90 मिलियन मार्क के बजाय 400 मिलियन मार्क नौ-सेना पर खर्च किए।[25] युद्ध की आशंका, एक वर्ग और उसकी योजनाओं के लिए मुनाफ़ादायी हो गए थे। उन्माद यहां तक हो गया कि अधिकांश यूरोपीय देशों ने अपने यहां सैनिक प्रशिक्षण को अनिवार्य कर दिया था। यूरोप धीरे-धीरे जैसे एक सैनिक-शिविर में तब्दील होता जा रहा था। लोगों के बीच एक आमफ़हम समझदारी पैदा हो चुकी थी कि युद्ध न केवल एक सामान्य और कुदरती बात है, बल्कि अन्य श्रेष्ठताओं के माफ़िक इसके 'गुणों' का भी बख़ान होना चाहिए।

दरअसल, प्रथम विश्वयुद्ध के कारणों की पड़ताल युद्ध के दौरान के 'आक्रमणकारी' की पड़ताल नहीं है। यह लगातार उन्मादी होते जा रही देश की सरकारों और पूरे विश्व की लगातार अनियंत्रित होती जा रही स्थितियों में निहित थी। भले ही 28 जून 1914 को ऑस्ट्रिया के राजकुमार और उसकी पत्नी की सार्बिया में हत्या, युद्ध शुरू होने का तात्कालिक कारण बनी; लेकिन यह स्पष्ट था कि यूरोप युद्धोन्माद के जिस रास्ते पर चल चुका था और दुनिया की शक्तियां दो ख़ेमों में बंट रही थी, यह कहना संभव नहीं था कि आर्क ड्यूक की हत्या अगर न हुई होती तो यह महायुद्ध न होता। औद्योगिक रूप से पिछड़े देशों में किसानों की बदहाली और विकसित देशों में मज़दूरों की बेगारी और जहालत- जबकि इन्हीं वर्गों के कंधों पर सवार होकर वहां की अर्थव्यवस्था पूंजी की चाकरी कर रही थी। वर्गीय अंतर्विरोध इतिहास के किसी भी दौर से अधिक तीव्र हो रहे थे। अनुमान लगाया जा रहा था कि इस अंतर्विरोध को युद्धजनित परिस्थितियां और अधिक साफ़ कर

देंगी और मज़दूरों का आंदोलन अपने-अपने देशों में सत्ता पर काबिज हो जाएंगे। लेकिन, रूस के अलावा कहीं और ऐसा कुछ नहीं हुआ। स्पष्ट होते जा रहे वर्गीय अंतर्विरोधों के बीच यूरोपीय देशों के नीति-निर्धारकों में क़ायम कारख़ानेदारों और सामंतों के वर्चस्व ने आर्थिक मामलों को जिस प्रकार अपनी गिरफ़्त में लिया था उसने पूरे यूरोप की राजनीति को ज़बरदस्त रूप से केंद्रित-पूंजी और मुनाफ़े के पक्ष में ला दिया था। और, इन्हीं स्थितियों ने पूरी दुनिया के नक्शे पर एक ऐसी वीभत्सता को उसकी नियति बना दी जिसने मानव सभ्यता के भविष्य पर अनंत काल के लिए कई सवालिया निशान छोड़े। आने वाले दशकों को अभी तेज़ी से बदलते घटनाक्रमों के साथ संहार और सामाजिक-राजनीतिक क्रांतियों से होते हुए दूसरे विश्वयुद्ध की ओर बढ़ना था।

1.2 1914-45 के वैश्विक परिदृश्य की वैचारिकी

20वीं सदी के इतिहास-लेखन के क्रम में एरिक हॉब्सबाम ने इटली के इतिहासकार फ्रांको वेंच्यूरी के इस कथन को उधृत किया है[26] -'इतिहासकार इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकते। मेरे लिए बीसवीं सदी, इसे समझने के लिए बार-बार नए सिरे से किया जाने वाला प्रयास है।' आमतौर पर प्रथम विश्वयुद्ध के कारणों की खोज युद्ध के आक्रामकों और 'तात्कालिक कारण' की खोज के इर्द-गिर्द केंद्रित कर दी जाती है। लेकिन इस महायुद्ध से पहले के कुछ दशकों पर यदि नज़र डाला जाए तो यह बात साफ़ हो जाती है कि इस शताब्दी के पहले दशक के आते-आते तक यूरोप में राज्य की संकल्पना, लोकतंत्र का अर्थ, देशभक्ति और राष्ट्रीय सुरक्षा, देशोन्नति- सबको केंद्रित होती जा रही पूंजी ने अपने मुनाफ़े और सहूलियत के हिसाब से परिभाषित कर दिया था। इसी आधारभूमि पर लगभग अनियंत्रित और एक ख़ास तरह की परिस्थितियों ने पूरी दुनिया के ऊपर विश्वयुद्ध थोप दिया। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के लिए साम्राज्यवाद की नीति की अनिवार्यता और केंद्रित होते जा रहे मज़दूर वर्ग का भीषण शोषण और इसके ख़िलाफ़ प्रतिकार की चेतना- इन अंतर्विरोधों ने 20वीं सदी के अर्द्धांश की तारीख़ को रचा।

साम्राज्यी होड़, युद्धों, मंदियों और क्रांतियों को अपने में समेटे 20वीं सदी का इतिहास अपनी गतिशीलता, अतिरेकों और मानव अस्तित्व के सम्मान में एक ही साथ महान उत्थान और भयानक पतन के चलते, सभ्यता के पूर्व की शताब्दियों ही नहीं बल्कि, सहस्राब्दियों से भी अधिक जटिल और एक ही साथ दूरगामी प्रभाव डालने वाला है। पहले विश्वयुद्ध से लेकर के हिरोशिमा और नागासाकी पर बम गिरने और जापान के आत्मसमर्पण करने तक का ऐतिहासिक कालखंड नाटकीयता से भरा, एक साथ क्रुरतम और आशांवित करने वाला तथा संपूर्ण जगत को प्रभावित करने वाला रहा। प्रथम विश्वयुद्ध ने दुनिया के स्तर पर वर्ग-शक्ति के संतुलन को भी ज़बरदस्त तरीके से बदल दिया। युद्ध की भीषण तबाही, मज़दूर आंदोलनों का तेज़ उभार, रूस में सर्वहारा क्रांति, विभिन्न उपनिवेशों में उफ़ान पर चढ़ा राष्ट्रीय आंदोलन आदि ने आम जनता के राजनीतिक महत्त्व को पहले के किसी भी समय से बढ़ा दिया। संकट में पूंजीवाद ने जर्मनी-इटली के विशेष राजनीतिक-सामाजिक भूमिका पर खड़ा होकर फासीवाद को उत्पन्न किया। इन चुनौतीपूर्ण स्थितियों में साम्राज्यी ताक़तों की प्रतिस्पर्धा ने दूसरे विश्वयुद्ध को अंजाम दिया; और जैसा कि प्रचलित है, पहले महायुद्ध के अंत में ही दूसरे विश्वयुद्ध के बीज छीपे थे। विश्वयुद्ध काल की महत्त्वपूर्ण परिघटनाओं की वैचारिकी में ये बातें संदर्भ के रूप में सक्रिय थे।

1.2.1 साम्राज्यवाद

यहां हम जिस साम्राज्यवाद को रख रहे हैं वह प्राचीन या मध्यकाल में एक शासक का दूसरे शासक या राज्य पर हमले जैसी परिघटना से इतर है। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के उदय के बाद साम्राज्यवाद उन हमलों से एकदम भिन्न है। टॉम बॉटमोर द्वारा संपादित 'ए डिक्शनरी ऑफ़ मार्क्सिस्ट थॉट' में लिखा है कि 'यह वर्चस्वशाली पूंजीवाद के दौर में पूंजी संचयन की वैश्विक प्रक्रिया है'।[27] पूंजीवादी प्रतिस्पर्धा के इस दौर में यह महज़ उपनिवेश क़ायम करने के सिद्धांत से आगे बढ़ चुका था- ''साम्राज्यवाद का मतलब अब उपनिवेश मात्र नहीं रह गया--हालांकि उनका महत्त्व अभी भी था। अब वह संपूर्ण व्यवस्था का रूप ले चुका था जिसमें कहीं एक पूंजीवाद बिना दूसरे की क़ीमत पर विस्तार के अपना अस्तित्व नहीं बचा सकता था। यह एक ऐसी व्यवस्था थी जिसका तर्क था

संपूर्ण सैन्यीकरण और संपूर्ण युद्ध। इससे समाज अस्त-व्यस्त होता हो तो हो।''[28] यहां आकर साम्राज्यवादियों का निशाना सिर्फ एशिया या अफ्रीका के उपनिवेश नहीं रह गए थे, अब यूरोप के वे इलाके जो आद्योगिक दृष्टि से विकसित या महत्त्वपूर्ण थे, उनके लिए भी युद्ध की स्थितियां बन चुकी थीं।

एक विशेष परिस्थिति में पूंजीवादी अर्थव्यवस्था अपने को टिकाये और मज़बूत करने के लिए साम्राज्यवादी उन्माद को जन्म देती है। लेनिन की विश्व-प्रसिद्ध पुस्तक 'साम्राज्यवाद: पूंजीवाद की उच्चतम अवस्था' की भूमिका लिखने के क्रम में प्रभात पटनायक ने लिखा है कि उस दौर में पूरी विश्व की अर्थव्यवस्था ''... आमदनी के वितरण का छोटे उत्पादकों से एकाधिकारी पूंजीपतियों की ओर खिसकना, जहां तक अंतर्राष्ट्रीय मूल्यों का सवाल है, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के मूल्यों में खेतीहर उत्पादकों के ख़िलाफ़ और औद्योगिक उत्पादकों के पक्ष में सततपरिवर्तन के रूप में दिखेगा।... प्रतियोगी पूंजीवाद से एकाधिकारी पूंजीवाद में संक्रमण के दौर में खपत से ज़्यादा उत्पादन की प्रवृत्ति अंतर्निहित होती है। साम्राज्यवाद इसका निराकरण कर सकता है अगर साम्राज्यवादी देश अपने आयात से ज़्यादा निर्यात कर सकें यानी अपने यहां खपत से ज़्यादा उत्पादन को दूसरे देशों में खपा सकें और उन देशों को अपने उत्पादन खरीदने के लिए पूंजी भी मुहैया (पूंजी का निर्यात) करें।''[29] लेनिन अपनी इस पुस्तक में तत्कालीन पूंजीवादी राष्ट्रों में पूंजी के संकेन्द्रण और उद्योगों में एकाधिकारवाद को आंकड़ों से स्पष्ट करते हैं। जर्मनी के कुल औद्योगिक उपक्रमों में बड़े पैमाने के उपक्रमों की संख्या 0.9 फीसदी थी जबकि उसमें काम करने वाले मज़दूर कुल मज़दूरों की संख्या का 39.4 फीसदी थी। जबकि इन बड़े उपक्रमों द्वारा जर्मनी की कुल भाप अश्वशक्ति में से 75.3 फीसदी और कुल बिजली में से 77.2 फीसदी का इस्तेमाल होता था।[30] 19वीं सदी में 70 के दशक के आसपास से शुरू होकर यह परिघटना प्रथम विश्वयुद्ध के आते-आते तक तेज़ हो गई और एक प्रक्रिया के तहत इन चंद बड़े औद्योगिक उपक्रमों को नगद पूंजी और बैंकों ने और भी सहूलियत प्रदान की। लाखों छोटे, मंझोले और औद्योगिक 'मालिक' भी कुछ सौ करोड़पति वित्तदाताओं के अधीन होते गए।

यूरोप में औद्योगिक क्रांति के उपरांत पूंजीवाद की नई अर्थव्यवस्था तथा आधुनिक राष्ट्र की संकल्पना के उदय के बाद राष्ट्र उभार के मुखौटे में एकाधिकारवादी पूंजीपतियों को ज़बरदस्त ढंग

से बढ़ावा मिला। इस नई और क्रांतिकारी उत्पादन-प्रक्रिया ने आवश्यकता से अधिक उत्पादन करना शुरू किया, जिसमें अर्थव्यवस्था का नियंत्रण उपभोक्ता की आवश्यकता अथवा उसकी क्रय-शक्ति से नहीं बल्कि अधिक-से-अधिक मुनाफ़े को ध्यान में रखकर किया जाने लगा, अत: शीघ्र ही इस मुनाफ़ाखोर अर्थव्यवस्था ने राष्ट्रीय सीमाओं को अतिक्रमित करना शुरू किया। इस प्रकार, पूंजीवाद की एक अनिवार्य अवस्था के रूप में साम्राज्यवाद का आगमन हुआ।

साम्राज्यवादी युद्ध के उन्माद के बीच किस वर्ग को कुचल देने की तैयारी चल रही थी और किसे भरपूर मुनाफ़ा होने जा रहा था, यह तब दुनिया भर के साम्यवादी राजनीतिज्ञों और विचारकों के सामने स्पष्ट था। 1914 तक आते-आते यूरोप में समाजवादी दलों की शक्ति ज़बरदस्त तरीके से बढ़ चुकी थी। 1914 में जर्मनी, फ्रांस और इटली के समाजवादी दल इन देशों की संसदों के सबसे बड़े एकल दल के रूप में सामने आए थे। दूसरे इंटरनेशनल में लंबे बहस के बाद औपनिवेशिक देशों की पूर्ण आज़ादी का पक्ष मज़बूत हुआ।[31] इसके उपरांत कई साम्राज्यवादी देशों के समाजवादी दलों ने अपनी सरकार की औपनिवेशिक नीतियों का विरोध किया। 28 जुलाई 1914 को जब ऑट्रिया-हंगरी ने सार्बिया के विरूद्ध युद्ध की घोषणा की तो द्वितीय अंतर्राष्ट्र की आपातकालीन बैठक बुला कर इस ख़तरे पर निर्णय लिया गया। इस बैठक में साम्राज्यवादी युद्धों से घिरे सभी देशों के मज़दूरों से अपील की गई कि वे शांति-सभाओं का आयोजन करें तथा अपने सरकारों पर दबाव बनाकर युद्ध को रोकने का प्रयास करें। 'लड़ाई के ख़िलाफ़ लड़ाई' नारे के साथ तब ब्रुसेल्स में विशाल जुलूस निकाला गया था। इन सबके बावजूद भी जब युद्ध छिड़ गया तो अधिकांश समाजवादी दलों ने अपने-अपने सरकारों का समर्थन करने का फैसला ले लिया। वे युद्ध के ख़िलाफ़ स्वयं को असमर्थ महसूस कर रहे थे और अपने देश के शासकवर्गीय प्रचार माध्यमों द्वारा युद्ध के लिए जनसमर्थन जुटाने की सफल कोशिशों के सामने घुटने टेक दिए, उसके साथ हो लिए। लेनिन, जर्मनी में कम्युनिस्ट पार्टियों के संस्थापकों में एक रोज़ा लक्ज़मबर्ग और रादेक इत्यादि जैसे समाजवादी नेताओं ने इसका डटकर मुक़ाबला किया। दो साल के भीतर युद्ध की विभीषिका ने जनता के ऊपर असाधारण दबाव डाल दिया था, युद्धरत देशों के समाज टूटन के कगार पर आ चुके थे। ''जहां 1914 में युद्ध के प्रतिद्वंद्वी स्वयं को असहाय और एकाकी समझ रहे थे, वहीं उन्हें 1916 में लगने लगा कि वह बहुमत की आवाज़ है।''[32] रूस की बोल्शेविक पार्टी और लेनिन का आह्वान

था कि मज़दूर वर्ग संघर्ष की इस स्थिति को अपने देश के शोषक-साम्राज्यवादी सरकारों के ख़िलाफ़ मोड़ दें।

प्रथम विश्वयुद्ध, एक यूरोपीय युद्ध के रूप में शुरू हुआ था। इसमें एक तरफ़ फ्रांस, ब्रिटेन और रूस का त्रिपक्षीय गठबंधन था और दूसरी ओर जर्मनी-आस्ट्रिया-हंगरी के 'केंद्रीय शक्ति' के देश थे। इन 'गठबंधनों' की रूपरेखा इस तरह तैयार थी कि यहां आकर युद्ध का मतलब दो देशों की लड़ाई नहीं, बल्कि एक संपूर्ण युद्ध या कम-से-कम यूरोप का युद्ध हो चुका था। प्रथम विश्वयुद्ध वीभत्स तबाही लिए हुए था- फ्रांस, ब्रिटेन, और जर्मनी के क्रमशः 16 लाख, 8 लाख, और 18 लाख सैनिक खेत रहे। जिन्होंने जीत दर्ज की थी, जो पराजित हुए थे- सब हारे थे। राजनीतिक विशेषज्ञों के सामने स्पष्ट हो चुका था कि जनता 1914-18 की वीभत्सता अब सहने को तैयार नहीं है। दोनों ही ख़ेमों की सरकारें हिल गईं। 'पराजित राष्ट्रों' में क्रांतियां हुई और 'विजेताओं' को दिवालियापन और शिथिलता ने घेर लिया। युद्ध का अंत एक थोपे हुए शांति समझौते से हुआ था- 'वर्साई की संधि'। यह पांच कारणों से संदर्भित थी। पहला, यूरोप के शासनतंत्र का नष्ट हो जाना और रूस का एक 'विकल्प' के रूप में खड़ा होना; दूसरा, जर्मनी को नियंत्रित करना; तीसरा, यूरोप का पुनर्बंटवारे से एक तरफ़ जर्मनी को कमज़ोर करना और दूसरी ओर रूस के आसपास के 'स्वतंत्र' देशों को प्रोत्साहित कर बोल्शेविकों का विरोध खड़ा करना। चौथा था विजेता देशों ख़ासकर ब्रिटेन, फ्रांस और सं.रा.अमेरीका की घरेलू और आपसी राजनीति; और अंतिम यह बेचैनी कि भविष्य में ऐसा युद्ध असंभव हो जाए। स्थाई रूप से जर्मनी को पंगु बना देने के लिए उस पर दंडात्मक शांति थोप दी गई थी। उसके 'क्षेत्र' उससे छीन लिए गए और सामरिक दृष्टि से उसे तोड़ कर रख दिया गया। लेकिन, 30 के दशक तक आते-आते 'बर्साई की संधि' की औकात चंद क्षेत्रीय प्रावधानों के अलावा कुछ नहीं बचा था और शांति-स्थापना की पहलक़दमियों पर किसी का भी नियंत्रण नहीं रहा। 'लीग ऑफ़ नेशंस' बुरी तरह से विफल हो गई।

साम्राज्वादी युद्धों को 'रोकने' के तमाम 'उपायों' ने दुनिया के रंगमंच से जर्मनी और रूस नाम की दो शक्तियों को 'अनुपस्थित' कर दिया था और यह तय था कि 'शांति-स्थापना' के सारे प्रयास इस बात पर निर्भर थे कि ये 'अदृश्य खिलाड़ी' कब तक दृश्य में प्रवेश नहीं कर रहे हैं। जबकि, दुनिया अभी युद्ध की दुश्चिंताओं को पीछे छोड़ ही रही थी कि 1929-30 की नाटकीय

आर्थिक मंदी ने विकराल संकट का रूप ले लिया। यह औद्योगिक क्रांति के बाद की सबसे बड़ी मंदी थी जिसने जर्मनी और जापान में सैन्यवादी और अतिदंक्षिणपंथी सत्ता को काबिज करवा दिया। और, देखते-देखते विश्व-व्यवस्था में नियति बन चुकी अस्थिरता में दूसरा विश्वयुद्ध अवश्यंभावी हो गया। ''कुछ अत्यंत विरल अपवादों को छोड़कर किसी भी गंभीर इतिहासकार को इसमें संदेह नहीं था कि जर्मनी, जापान (और हिचक के साथ) और इटली आक्रांता थे। इन तीनों के विरूद्ध युद्ध में घसीटे गए राष्ट्र, पूंजीवादी या समाजवादी, युद्ध नहीं चाहते थे और उनमें से अधिकतर ने युद्ध टालने के लिए वह सब किया जो वह कर सकते थे। किसने और किन कारणों ने द्वितीय विश्वयुद्ध को घटित किया, इस प्रश्न का सीधा-साधा उत्तर दो शब्दों में दिया जा सकता है: एडोल्फ हिटलर।''[33] तीव्र होती जा रही अस्थिरता के सामने फ्रांस और इंग्लैण्ड केंद्रित 'शांति-समझौते' भहरा कर टूट रहे थे।

युद्ध ने दुनिया के स्तर पर शक्ति-समीकरण को मज़दूरों और आम जनता के पक्ष में बदल दिया, रूस में समाजवादी क्रांति हुई, 1929-30 के मंदी ने पूंजीवाद के आत्मविश्वास को पीछे धकेल दिया। युद्ध के पहले उदार लोकतंत्र की व्यापक स्थापनायें ढीली पड़ने लगी थी, बल्कि भरभराकर गिर रही थीं- ''1920 में पूरे विश्व को देखने पर हमें शायद पैंतीस के लगभग संवैधानिक और निर्वाचित सरकारें दृष्टिगत होती हैं। (यह इस बात पर निर्भर है कि हम लातीन अमरीका के गणतंत्र को कहां रखते हैं)। 1938 तक इन राज्यों की संख्या संभवत: सत्रह थी, और 1944 में दुनिया के कुल चौंसठ में से बारह देश ही इस सूची में आते थे। संसार का रूझान साफ़ दिखाई दे रहा था।''[34] 1933 में एडोल्फ हिटलर ने जर्मनी के चांसलर की गद्दी संभाली और विश्व-पटल पर साम्राज्यवादी उन्माद ने नये सिरे से प्रवेश किया। एक तरफ़ जर्मनी में नस्ल के आधार पर घृणा और हत्या का कारोबार चल निकला; दूसरी ओर, मज़दूर आंदोलनों की बुरी तरह कुचल दिया गया, कम्युनिस्टों और समाजवादियों के ख़िलाफ़ अभियान छेड़ा गया। बड़ी पूंजी को राहत की सांस मिली और फासीवादियों को बढ़ावा दिया गया। युद्ध की आशंका ने फिर से दुनिया को घेरना शुरू कर दिया। कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के घोषणा पत्र में उस दौर को इस प्रकार चित्रित किया गया-

''इटालियन फासिज़्म को इथोपिया पर आक्रमण की आज्ञा कोई भी दंड दिये बिना दी गयी। उसने सिर्फ इथोपिया को ही गुलाम नहीं बनाया, बल्कि वह स्पेन पर भी टूट पड़ा। जर्मन फासीज़्म को राइनलैंड में सेना रखने की इजाजत बिना रूकावट दी गयी। उसने इसका उपयोग स्पेन पर टूट पड़ने में किया। इसके बाद वह ऑस्ट्रेलिया को निगल गया और चेकोस्लोवाकिया को कुचल दिया। जापानी जलदस्युओं को मंचूरिया और चीन के उत्तरी प्रांतों को हथियाने का अधिकार दिया। बढ़ती उद्दंडता के साथ जापानी समरवादियों ने पूरे चीन को गुलाम बनाने का युद्ध शुरू किया। कदम-ब-कदम 'महान् पश्चिमी जनतंत्र' के देश फासिस्ट लुटेरों के सामने पीछे हटते गये। कदम-ब-कदम फासिस्ट लुटेरों ने अपनी स्थिति मज़बूत की, अपने आक्रमण बढ़ाये, नये हिंसात्मक कार्यों का सहारा लिया और साथ ही इस सबका उपयोग स्वयं अपनी जनता के गले में फंदे को कसने में किया।''[35] 'बर्साई की संधि' को अपमानजनक पूरा जर्मनी मान रहा था और जो कि सही भी था।[36] इसने जर्मनी में तथा 'विजयी' होने के बाद भी संतुष्ट न हो पाने की त्रासदी ने जापान और इटली में फ़ासीवाद के एक प्रतिक्रांतिकारी, अतिराष्ट्रवादी और साम्राज्यवादी आंदोलन को बल दिया।

दूसरा विश्वयुद्ध शुरूआत में यूरोपीय चरित्र का था। 22 जून, 1941 जब हिटलर ने सोवियत संघ पर हमला किया, एक निर्णायक दिन साबित हुआ। अगले साल उसने दुबारा-से हमला किया और हिटलर द्वारा रचा यह प्रकरण बेहद मूर्खतापूर्ण साबित हुआ। जर्मन सेना को रोक लिया गया और स्तालिनग्राद में उन्हें आत्मसमर्पण करना पड़ा। इसके बाद रूसी सैनिक आगे बढ़ कर बर्लिन, प्राग और विएना तक जा पहुंची थी। विभिन्न उपनिवेशों पर साम्राज्यवादी जकड़न कमज़ोर पड़ रहे थे और यूरोप में हिटलर की सफ़लता ने दक्षिण-पूर्व एशिया में एक साम्राज्यवादी रिक्तता (कम-से-कम आंशिक रूप से) पैदा कर दी। इसपर जापान ने हिंदचीन में फ्रांसीसी उपनिवेशों को जीत लिया और उसका हौसला बढ़ चला। पर्ल हार्बर पर जापान के हमले ने एकाएक युद्ध को विश्वव्यापी बना डाला।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जापान ने उग्रता के साथ साम्राज्यवाद की राह पर चलना शुरू किया। लीग ऑफ़ नेशन्स के लाख 'समझाने-बुझाने' के बावजूद इसने कोरिया, मंचूरिया और फिर चीन पर हमले किए। दो महासमर के बीच का वह काल मानव अस्तित्व के सामने नये-नये सवाल

पैदा कर रहा था। पूँजीवाद का विकसित रूप या कहें कि उसका घृणित रूप साम्राज्यवाद अपने उन्माद के साथ विश्व रंगमंच पर उपस्थित था। साम्राज्यवाद पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की विशेष परिस्थिति है जो एक अंतर्राष्ट्रीय परिघटना के रूप में कमज़ोर देशों और वर्गों के प्रत्यक्ष/अप्रत्यक्ष शोषण और दमन पर टिकता है। साम्राज्यवादियों के आपसी हितों की टकराहट से दूसरे विश्वयुद्ध की अनुगूँज सुनाई पड़ रही थी। जापान एशिया की एक महाशक्ति के रूप में यद्यपि यूरोपीय शक्तियों को ज़बरदस्त चुनौती दे रहा था। उस दौर में विश्व-शांति स्थापित करने में लगी शक्तियों जैसे अमेरिका, इंग्लैंड आदि राष्ट्रों का युद्धोन्माद की स्थिति में 'जिम्मेदार राष्ट्र' के प्रति क्या रवैया रहेगा, यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर था कि सामने वाला राष्ट्र कौन है तथा इससे उनके वर्चस्व को किस हद तक चुनौती मिल सकती है! अपने नुकसान और फ़ायदे के गणित को भली-भांति देख-समझ कर ही ये राष्ट्र जापान की उद्दंडता का विरोध या मूक समर्थन करते थे। साम्राज्यवादी होड़ के बीच उनकी आपसी समझदारी और लाभ-हानि के गणित को समझना महत्वपूर्ण है। अपने-अपने उपनिवेशों को बचाने और बढ़ाने में लगी इन ताक़तों की शांति-स्थापना के लिए प्रतिबद्धता उनके साम्राज्यी नफ़े-नुकसान से ही तय हो रही थी। ऐसा नहीं है कि जापान की साम्राज्यवादी नीतियों को लेकर सभी देश चुप ही रहें। अमेरिका ने दबे स्वरों में उसका विरोध भी किया। लेकिन इस विरोध करने के पीछे उनकी मंशा दुनिया में शांति स्थापना के प्रयास करना या साम्राज्यवाद का ही विरोध करना नहीं था, बल्कि जापान उसके प्रतिद्वंद्वी के रूप में तेज़ी से उभर रही शक्ति थी जिसे वैश्विक स्तर पर अलगाव में डालना उसके लिए ज़रूरी था।

साम्राज्यवाद का जन्म क्योंकि एकाधिकारवादी पूंजीवादी व्यवस्था को मज़बूत करने के उद्देश्य से हुआ था अत: यह केवल अपने उपनिवेशों के लिए ही शोषक नहीं था; वह अपने देश की जनता के प्रति भी अनुदार होती हैं। आर्थिक और राजनीतिक शक्ति को यह चंद घरानों में अधिक केंद्रीकृत कर देता है। दूसरी तरफ़ युद्धोन्माद, हथियारबंदी, सेना, युद्ध आदि पर पड़ने वाले ख़र्च का वहन उस देश की जनता को करना पड़ता है। इस दौरान उनके ऊपर कर बढ़ाए जाते हैं, उन्हें जान-माल की हानि उठानी पड़ती है, उनके मौलिक और लोकतांत्रिक अधिकारों का स्थगन हो जाता है, आदि।

1.2.2 राष्ट्रवाद

एक आधुनिक राजनीतिक वाद के रूप में यूरोप में राष्ट्रवाद ने 1880 से 1914 के दौर में बड़ी छलांग लगाई, और इसका प्रारंभिक स्वरूप चाहे जो हो इस दौर में इसकी वैचारिक और राजनीतिक नीहितार्थ में बड़े बदलाव आये। एरिक हॉब्सबाम के मुताबिक ''...'राष्ट्रवाद' शब्द पहले-पहल उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में सामने आया और यह फ्रांस तथा इटली की उन दक्षिणपंथी विचारधाराओं को मानने वाले समूहों का द्योतक था, जो विदेशियों के विरुद्ध झंडा उठाने पर आमादा थे, वह उदारवादियों और समाजवादियों का भी विरोध करते थे, अपने राज्य का आक्रामक विस्तार चाहते थे, ऐसे आंदोलनों का यही लक्ष्य बन गया।''[37] वैसे राजनीतिक शब्दावली में 'राष्ट्रवाद' का प्रयोग 1830 के आसपास से मिलने लगता है जहां इसे 'राष्ट्रीय सवालों' और 'आत्मनिर्णय के अधिकार' जैसे मसलों के दौरान प्रयोग में लाया जाता था। कालांतर में इसे एक आंदोलन का शक़्ल लेना था जिसके प्रवक्ताओं की संख्या 19वीं सदी के अंतिम दशकों में और 1914 के आते-आते तक काफी बढ़ चुकी थी। यह वो दौर था जब जर्मनी में 'सारे देशों में सर्वोपरि है जर्मनी...' गीत ने जर्मनी के राष्ट्रगीत का दर्जा पा लिया। राजनीति के लोकतांत्रीकरण अर्थात् चुनावों ने और आगे बढ़ कर इसे स्थापित कर दिया। एक समय तक समाजवादी विचारक रहे और बाद में इटली के फासिस्ट सरकार में मंत्री और अधिकारी रहे परम राजनीतिक विचारक अल्फ्रेड रोको ने इसे भांपते हुए 1914 में विश्वयुद्ध के आते-आते तक चिह्नित कर दिया था कि ''राष्ट्रवाद ... लोकतंत्र पर हमला करता है, पुरोहितवाद विरोध को ध्वस्त कर देता है, समाजवाद से लड़ता है, शांतिवाद, मानवतावाद और अंतर्राष्ट्रीयतावाद की अवहेलना करता है... यह उदारवाद के कार्यक्रमों के अंत की घोषणा है।''[38] उस दौर में 'राष्ट्रवाद' का यह राजनीतिक आधार प्राय: समान था।

19वीं सदी में यूरोपीय देशों में स्वयं को एक 'राष्ट्र' के रूप में स्थापित करने की लहर चल पड़ी। राज्यों को नये सिरे से गठित करने की चाहत ने यूरोप को 'राष्ट्रों का समूह' बना दिया। हॉब्सबाम के मुताबिक ''....'राष्ट्रीयता' का 'ऐतिहासिक' आग्रह उस राज्य के 'सत्तानशीं समूह' या पढ़े-लिखे लोगों द्वारा बनाए गए संस्थान, प्रतिष्ठान और उसका सांस्कृतिक व्यवहार था, जिसके साथ आम आदमी भी एक तरह की एकात्मकता महसूस करता था। मगर 'राष्ट्रीयता' की विचारधारा इससे भिन्न थी। वह इससे ज़्यादा उग्र, लोकतांत्रिक और क्रांतिकारी थी। यह उस तथ्य पर आधारित था

कि इतिहास और संस्कृति चाहे जो कहे, आयरिश, आयरिश ही होगा अंग्रेज़ नहीं, चेक, चेक ही होगा, जर्मन नहीं, फिनिश रूसी नहीं होगा और कोई भी किसी दूसरे के द्वारा शोषित और शासित नहीं होगा। इस तर्क की पक्षधरता में कई अन्य तर्क इजाद किए जा सकते हैं मगर इसके व्यवहारिक उदाहरण कितने थे?''[39] विचार के धरातल पर 'राष्ट्रवाद' के भीतर तत्कालीन अर्थराजनीति से उपजे साम्राज्यवाद की परिघटना को चुनौती देने की गर्हित शक्ति थी। परंतु इसके व्यवहारिक उदाहरण कम थे और आने वाले समय को देखना-परखना बाकी था।

एक राजनीतिक संकल्पना के रूप में यूरोप में राष्ट्रवाद का उभार और अर्थव्यवस्था के रूप में पूंजीवाद का जन्म- दोनों एक दूसरे से जुड़े हुए रूप में सामने आए थे। 20वीं सदी में आकर अपने सारे आयामों के साथ ये उफ़ान पर थे। राष्ट्र की अवधारणा के संबंध में विचार करते हुए गेल्नर ने इसे पूरी तरह से एक आधुनिक निर्मिति माना है[40]। यह प्राथमिक तौर पर एक राजनीतिक सिद्धांत है जो औद्योगिक क्रांति की मांगों और उसके बाद उत्पन्न आर्थिक व राजनीतिक परिस्थितियों की दबाव से उपजा है। औद्योगिक क्रांति ने अलग-अलग पृष्ठभूमि के समुदायों को शहरों की ओर खींचा और ऐसे में उनके लिए एक साझी अस्मिता के निर्माण की आवश्यकता पड़ी। इस दौरान उनकी पहली और बड़ी ज़रूरत, साझी भाषा थी। इस साझी भाषा की तलाश साझे अतीत और साझी संस्कृति की रचना से जुड़ी। इस तरह राष्ट्रवाद के भीतर राष्ट्रभक्ति अथवा देशभक्तिपूर्ण राष्ट्रवाद का उदय होने लगा जो एक मज़दूर को सिर्फ़ अपने लिए नहीं बल्कि 'अपने से बहुत ऊँचे राष्ट्र की उन्नति के लिए' ज़्यादा श्रम करने को तैयार करता है। इस प्रकार, साझी भाषा, साझी संस्कृति और साझे इतिहास ने नई गतिशील श्रमशक्ति को एकताबद्ध और औद्योगोन्नमुखी किया। बुर्जुआ वर्ग के इसमें निजी हित निहित थे; लेकिन श्रमिक वर्ग के लिए राष्ट्र की अवधारणा का कोई औचित्य नहीं है।[41] 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र' में कहा गया है कि 'श्रमिक जनता का कोई राष्ट्र नहीं होता'।[42]

मार्क्सवादी चिंतन राष्ट्रवाद को पूँजीवादी अर्थव्यवस्था से एक अनिवार्य संबंध के रूप में देखता है, जो पूँजीवाद के विकास के एक ख़ास चरण की निर्मिति और उसकी आवश्यकता है। राष्ट्रवाद, दरअसल पूँजीवाद के विकास की विशिष्टताओं से निर्धारित होता है। पूँजीवाद के अंतर्गत राष्ट्रों के बीच अन्त:संबंधों का स्वरूप प्रतिबिम्बित करते हुए राष्ट्रवाद दो रूपों में प्रकट होता है:

प्रभुत्वशाली राष्ट्रों का महाशक्तिशाली अंधराष्ट्रवाद, जिसकी विशेषता अन्य राष्ट्रों के प्रति घृणा या कम-से-कम तुलनात्मक बेहतरी का है, तथा उत्पीड़ित राष्ट्र का स्थानीय राष्ट्रवाद, जिसपर अपने को अलग घेरे में रखने की इच्छा और दूसरे राष्ट्रों के प्रति अविश्वास की छाप होती है। 'राष्ट्रहित' के नारों के माध्यम से एक वर्ग विशेष मेहनतकश वर्गों की चेतना को कुंठित करने, अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर आंदोलन में फूट डालने, उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यी युद्धों को जायज़ ठहराने का वैचारिक षड्यंत्र करता है।[43] अत: मार्क्सवादी चेतना में राष्ट्रीयता के बजाय 'अंतर्राष्ट्रीयतावाद' पर बल दिया जाता है। परंतु जैसा कि भारत जैसे औपनिवेशिक देशों में हुआ कि राष्ट्रवाद एक व्यापक संकल्पना के रूप में साम्राज्यवाद-विरोधी चेतना में अभिव्यक्त होने लगा और एक सीमा तक इसने स्वाधीनता संघर्षों में प्रगतिशील भूमिका भी निभायी। इसके बावजूद मार्क्सवादी चिंतन राष्ट्रवाद के इस महत्व को लेकर आलोचनात्मक रूख़ अपनाने पर ज़ोर देता है तथा इसे तभी तक सही मानता है जब तक कि इसमें आम जनवादी अन्तर्वस्तुएं निहित होती हैं अर्थात् जब तक इसका चरित्र साम्राज्यवाद-विरोधी हो और यह सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक स्वाधीनता के प्रति प्रतिबद्ध हो। इसकी वजह यह है कि राष्ट्रवाद का एक पहलू यह भी है जहाँ यह साम्राज्यवाद के प्रति समझौता-परस्ती का रूख़ अख़्तियार कर लेता है तथा एक सीमित वर्ग के हित में सामंतवाद, आर्थिक असमानता जैसे सवालों पर ढुलमुल रवैया अपनाता है। प्रथम विश्वयुद्ध की पूर्वपीठिका के रूप में और इसके उपरांत दूसरे महायुद्ध तक राष्ट्रवाद के इन दोनों प्रारूपों- 'ऐतिहासिक' और 'वैचारिक' का द्वंद्व सक्रिय था।

राष्ट्र की अवधारणा को लेकर एक प्रमुख चिंतन बेनेडिक्ट एण्डरसन की है। उन्होंने राष्ट्र को 'एक कल्पित राजनीतिक समुदाय' के रूप में देखा है जो 'सीमित भी हो सकता है और स्वायत्त भी'।[44] एण्डरसन द्वारा राष्ट्र को काल्पनिक कहने का आधार यह है कि ''राष्ट्र यहाँ तक कि सबसे छोटे राष्ट्र के सदस्य उसी राष्ट्र के दूसरे अधिकांश सदस्यों को सीधे तौर पर न जानते हैं, न मिलते हैं और न ही उसे सुनते है, जबकि उनमें से प्रत्येक के मानस में उस समुदाय को लेकर काल्पनिक एकसूत्रता का बिम्ब होता है...उस समुदाय में प्रबल वास्तविक असमानता और शोषण के बावजूद राष्ट्र हमेशा एक गहरा और व्यापक भाईचारे के रूप में देखा जाता है। परिणामत: इसी बिरादराने अथवा समरूपता के कारण यह संभव हो पाता है और जैसा कि पिछले दो दशकों में हुआ भी कि लाखों लोग न सिर्फ़ लोगों की हत्या कर देते हैं, बल्कि स्वयं भी खुशी-खुशी अपनी जान गंवा देते हैं।''[45] केंद्रित पूंजी के मुनाफ़े के लिए शक्तिशाली देशों द्वारा उत्पन्न किए जा रहे

साम्राज्यवादी युद्धोन्माद के लिए यह ज़रूरी था कि देश की जनता (विशेषकर तेज़ी से उभरते मध्यवर्ग को)और सनिकों को इस 'कल्पित समुदाय' की घुट्टी पिलायी जाए नहीं तो युद्ध जीतना तो दूर, लड़ा भी नहीं जा सकता था।

हालांकि भारत जैसे औपनिवेशिक देशों के लिए राष्ट्र की इस अवधारणा, जिसमें इसे 'कल्पित समुदाय' कहा गया है की कई आलोचनाएं है। पार्थ चटर्जी के अनुसार, भारत में राष्ट्रवाद को विकसित करने में यहाँ के पश्चिमी-शिक्षा प्राप्त राजनीतिक नेताओं का विशिष्ट योगदान है और यह पश्चिम से एक 'अलग' लेकिन 'व्युत्पन्न संवाद'(derivative discourse) के रूप में उभरा।[46] आशीष नंदी के अनुसार भी पश्चिमी साम्राज्यवाद के प्रत्युत्तर में भारतीय राष्ट्रवाद का निर्माण-निर्धारण भी उसी से हुआ जिसके प्रत्युत्तर में उसे खड़ा होना था।[47] पार्थ चटर्जी ने भारत जैसे देशों के संदर्भ में एंडरसन के 'राष्ट्र, एक काल्पनिक समुदाय' वाले सिद्धांत पर सवाल करते हैं कि राष्ट्र अगर कल्पित समुदाय है, तो वह किसकी कल्पना का समुदाय है तथा इस कल्पना का आधार क्या है।[48] पार्थ चटर्जी को उद्धरित करते हुए मैनेजर पांडेय ने लिखा है ''यह सवाल भारतीय राष्ट्रवाद के बारे में भी पूछा जाना चाहिए ताकि उसके सामाजिक आधार, राजनीतिक उद्देश्य और विचारधारात्मक अभिप्राय की वास्तविकता सामने आये। एंडरसन कहते हैं कि राष्ट्र में वास्तविक विषमता और शोषण होने के बावजूद राष्ट्रवाद में एक प्रकार के गहरे साहचर्य की कल्पना होती है। लेकिन भारत जैसे देशों में जहाँ उपनिवेशवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय संघर्ष हुए हैं, वहाँ कुछ ऐसे लेखक भी हैं जो विषमता और शोषण की वास्तविकता की उपेक्षा करने वाले राष्ट्रवाद के बारे में यह प्रश्न पूछते हैं कि राष्ट्र किसकी कल्पना का समुदाय है, सामंतों, पूँजीपतियों और उनके प्रतिनिधियों की कल्पना का या उनके द्वारा शोषित और दलित जनसमुदाय की कल्पना का...''[49] दरअसल आधुनिक अर्थों में जिसे राष्ट्रवाद कहा जाता है उसकी संकल्पना तो पूंजीवादी अर्थतंत्र की एक विशेष आवश्यकता से हुआ; लेकिन यही राष्ट्रवाद पूंजीवाद से निकले साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद से लड़ने का एक महत्वपूर्ण हथियार बन गया। विश्वयुद्ध काल में एक तरफ़ केंद्रित पूंजी के मुनाफ़े के लिए राष्ट्रवाद को उन्मादी स्वरूप को बढ़ावा दिया गया, वही दूसरी ओर दुनिया भर के उपनिवेशों में इसी राष्ट्रवाद को साम्राज्यवादी तेवर भी प्रदान किया गया और कमोबेश यह औपनिवेशिक जनता के हर तरह के शोषण से मुक्ति का एक वैचारिक आधार भी बना।

20वीं सदी के तीसरे और चौथे दशकों में फासीवाद जैसी सामाजिक-राजनीतिक क्रांति के उभार में राष्ट्रवाद का एक विशेष प्रकार और अत्यंत तीव्र उन्माद सक्रिय था। 'राष्ट्र' को एक अविछिन्न ऐतिहासिक परंपरा और शाश्वत सांस्कृतिक इकाई के रूप में देखने के कारण 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' अतीत और उत्पत्ति के सवाल को प्रमुखता देता है। यहां राष्ट्रवाद की अवधारणा का संबंध किसी नस्ल, समुदाय, संप्रदाय अथवा अस्मिता के प्रति पुनर्उत्थानवादी संकल्पना से जुड़ता है। यह संकल्पना आधुनिक परिस्थितयों, विचारधाराओं अथवा समय के कटू यथार्थ से घबराकर उनके समानांतर एक परंपरागत सुनहरे अतीत की कल्पना और दावा करता है और इसके 'ह्रास' के लिए किसी 'अन्य' समुदाय को 'ज़िम्मेदार' मानता है। जर्मनी में कम्युनिस्टों, वामपंथियों और यहूदियों के ख़िलाफ़ हिटलर की नाजी पार्टी ने यह प्रचार खुलकर चलाया और इसके बाद घृणा और हत्या का वीभत्स तांडव रचा गया।

दरअसल, राष्ट्रवाद को लेकर जो अलग-अलग मत हैं उनसे मुख्यत: दो तरह के राष्ट्रवाद देखे जा सकते हैं। पहला, 'सिविक नेश्नलिज़्म' अथवा 'नागरिक राष्ट्रवाद', जो समुदायों के बीच में आनुवांशिक रिश्तों की अपेक्षा नागरिक अधिकारों को ज़्यादा महत्व देता है, साझे सांस्कृतिक मूल्यों को प्रोत्साहित करता है और इसकी गुंजाइश बनाये रखता है कि विभिन्न उत्पत्तियों के लोग एक दूसरे के साथ घुल-मिल सके। दूसरा, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद या 'एथेनिक नेश्नलिज़्म' अथवा 'नृजातीय राष्ट्रवाद' समुदायों के बीच आनुवांशिक संबंधों पर ज़ोर देता है। यह किसी ख़ास नृजातीय विरासत को आधार बनाकर इसके तहत लोगों को जोड़ता है। ज़ाहिर है, इसकी प्रकृति अपेक्षाकृत अपवर्जी होती है। 19वीं सदी में इन दोनों तरह की राष्ट्रीयताओं ने अपने वैश्विक प्रभाव डाले। 'सिविक नेश्नलिज़्म' अथवा 'नागरिक राष्ट्रवाद' ने एक तरफ़ यदि कई देशों में जनता को एकजुट कर सामंतवादवाद विरोधी और साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष का आधार तैयार किया तो दूसरी ओर, सांस्कृतिक या 'एथेनिक नेश्नलिज़्म' अथवा 'नृजातीय राष्ट्रवाद' ने दो समुदायों, नस्लों और मान्यताओं के बीच घृणा का प्रचार कर एक वर्ग विशेष के हित में राजनीतिक अर्थव्यवस्था को मोड़ा। 20वीं सदी में कई देशों में उभरे फासीवाद के आधार के रूप में इसी तरह की राष्ट्रीयता काम कर रही थी। दरअसल, राष्ट्रवाद की उपर्युक्त दोनों तरह की संकल्पनाएं पूँजीवाद के चरित्र की द्वंद्वात्मकता से उपजी हैं।

1917 में, रूस में बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व में हुई पहली सर्वहारा क्रांति के बाद सोवियत संघ के सामने एक बड़ी चुनौती सोवियत संघ के भीतर परस्पर प्रतिद्वंद्वी राष्ट्रवादी आकांक्षाओं की टकराहट को सुलझाने के रूप में सामने आया। हर नृजातीय समुदाय को उसके आकार और इतिहास के अनुरूप शासन में सापेक्षिक स्वायत्तता प्रदान कर तथा उन्हें अपनी सांस्कृतिक उत्थान के लिए आज़ादी देकर इस समस्या का समाधान करने की कोशिश की गयी। इस दौरान स्टालिन ने एक महत्वपूर्ण लेख लिखा–'मार्क्सवाद और राष्ट्रीयताओं का सवाल'[50]। इसमें उन्होंने राष्ट्र को किसी नस्लीय अथवा आदिम जातीय परिघटना न मानकर एक ऐतिहासिक प्रक्रिया की निर्मिति कहा, जिसमें निश्चित और गतिशील सामुदायिकता, सम्मिलित भाषा, निश्चित क्षेत्र, आर्थिक संबद्धता और एक सम्मिलित चरित्र– पांच प्रमुख कारक होते हैं। इस क्रम में वे 'राष्ट्रीय अथवा सम्मिलित चरित्र' को राष्ट्र का सबसे आवश्यक चरित्र मानते हैं। एक ख़ास ऐतिहासिक प्रक्रिया से होकर ये सभी एक सकारात्मक राजनीतिक रूप में आकर राष्ट्र का रूप धारण करते हैं। आगे इस 'सकारात्मक राजनीतिक रूप' को स्पष्ट करते हुए स्टालिन कहते हैं कि यह पूँजीवाद के उभार तथा बुर्जुआ वर्ग के उदय के दौरान सामंतवाद से संघर्ष के क्रम में सामने आता है। इस संदर्भ में वे राष्ट्र की अवधारणा को उसके द्वंद्वात्मक निहितार्थ में देखने की कोशिश करते हैं।

1.2.3 बोल्शेविक क्रांति (सोवियत समाजवाद)

राष्ट्र की संकल्पना और उदारवादी लोकतंत्र को नित मज़बूत होती जा रही पूंजी के पक्ष में परिचालित व परिभाषित होते जाने और इस आधार पर शक्तिशाली देशों द्वारा उपनिवेश बनाने और उसका विस्तार करने की उन्मादी चाहत प्रथम विश्वयुद्ध का मूल कारण बने। इन स्थितियों के निर्माण में उन विचारों और आंदोलनों को भी ताक़त मिली जो पूंजीवादी अर्थव्यवस्था और इस पर निर्मित शासन–व्यवस्था को ख़तम करना चाहते थे। दुनिया भर में युद्ध ने जनता के सामने साम्राज्यवादियों की पोल खोल दी थी। जनता की राजनीतिक दावेदारी पहले से बढ़ जाने की ओर अग्रसर थी। रूस में ज़ार के शासन के ख़िलाफ़ जनता के तीव्र असंतोष को बोल्शेविक पार्टी,

व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन तक ले गई। यह एक ऐसा दौर था जिसमें दुनिया दो फाड़ में विभाजित हो गई– विजेता और विजित। जहां देशों ने या तो युद्ध छेड़ा या 'मजबूर' किए गए उसमें भाग लेने को; जब जनता को 'राष्ट्रप्रेम' की घुट्टी पिलाकर 'देशहित' में अपना सर्वस्व न्योछावर कर बड़ी पूंजी की ख़ातिरदारी करना देश की प्राथमिक नीति बन चुकी थी; 1917 में रूस में बोल्शेविक पार्टी ने अपना एक सुनिश्चित कार्यक्रम घोषित किया जिनके मुख्य आधार थे[51]–

– युद्ध का तत्काल अंत और जर्मनी से संधि।

– सामंतों की भूमि पर बिना मुआवज़ा दिए और बिना कानून की बारिकियों पर ध्यान दिए तुरंत अधिकार।

– कारखानों पर मज़दूरों का अधिकार तथा प्रबन्ध।

– सम्पूर्ण उत्पादन और वितरण पर राष्ट्र का नियंत्रण।

– हर स्तर पर मज़दूरों, किसानों और सैनिकों की सोवियत के हाथों में शासन और वर्तमान सरकारी तंत्र का अंत।

– संपतिधारी वर्ग के राजनीतिक अधिकारों का अंत।

यह घोषणा ही अपने आप में उस दौर के वैश्विक राजनीतिक अर्थव्यवस्था के मूल चरित्र के लिए चुनौती थी। यह घोषणा युद्धकाल में मेहनतकश जनता के पक्ष में बदलते राजनीतिक शक्ति-समीकरण का महानतम उदाहरण पेश करने जा रही थी। इसने रूस की जनता में 'सेना में शांति', 'किसानों को ज़मीन' और 'मज़दूरों को कारखाने' की उद्घोषणा की। यह बोल्शेविक पार्टी की युद्ध-विरोधी, साम्राज्यवाद-विरोधी, सामंत-विरोधी और समग्रता में पूंजीवाद-विरोधी एजेंडे की क्रांतिकारी प्रतिबद्धता थी।

औद्योगिक-क्रांति ने जिस तरह बड़े पैमाने पर मज़दूरों का संकेंद्रण किया था और पूंजीवादी अर्थव्यवस्था ने अमानवीय हद तक जाकर शोषण को उस 'प्रतियोगी अर्थव्यवस्था' का पर्याय बना दिया था; मज़दूरों की मुक्ति के विभिन्न प्रयास भी चलते रहे। मार्क्सवाद नाम की विचारधारा ने

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या कर शोषण के मूल को और उससे मुक्ति को सैद्धांतिक रूप से प्रस्तुत कर दिया। अब तक इस विचारधारा को पूंजीवादी समाजव्यवस्था को तोड़ कर, सर्वहारा क्रांति की भविष्यवाणी को अमली राजनीतिक रंग देना बाक़ी था। बोल्शेविक क्रांति ने यह कर दिखाया। ''फ्रांसीसी क्रांति ने अगर कुलीन-तंत्र का ख़ात्मा करके लोकतांत्रिक गणराज्यों के लिए रास्ता साफ़ किया था, तो अक्टूबर क्रांति ने कहीं अधिक रैडिकल रूख़ अपनाते हुए न केवल राजशाही को परास्त किया, बल्कि पूंजीवाद द्वारा राज्य, अर्थव्यवस्था और समाज को अपने आईने में गढ़ने की परियोजना के मुक़ाबले समाजवादी राज्य और समाज का वैकल्पिक मॉडल पेश करने की कोशिश की। ... रूसी क्रांति की कामयाबी के कारण मार्क्सवाद एशिया, अफ्रीका और लातीनी अमेरिका में भी अल्पविकसित देशों को समाजवाद और आधुनिकीकरण की दिशा में धकेलने वाले राजनीतिक परिवर्तनों का प्रेरक और वाहक बन गया।''[52] प्रभाव के लिहाज़ से इसे 20वीं सदी की केंद्रीय परिघटना कही जा सकती है जो अगले कम-से-कम सात दशकों तक भूमंडलीय स्तर पर किसी भी देश में हो रही क्रांति की कोशिशों के सामने आदर्श के रूप में विद्यमान रहा। आने वाले सभी दशकों के सामने इसने पूंजीवादी राजव्यवस्था के विकल्प के रूप में एक अन्य व्यवस्था को सामने रख दिया। आम लोगों में यह प्रभाव कितनी गहराई तक थी इसका एक महत्त्वपूर्ण आकलन अलग-अलग सेंसर के हवाले से एरिक हॉब्सबाम ने दिखाया है। हेब्सबर्ग सेंसर के अनुसार नवंबर, 1917 से लेकर मार्च, 1918 के बीच किसानों-मज़दूरों की पत्नियों द्वारा उन्हें लिखी चिट्ठियों में रूसी क्रांति की अनुगूंज थी। इनमें से एक-तिहाई में यह उम्मीद की गई थी कि शांति रूस से मिलेगी, एक तिहाई में कहा गया था कि शांति क्रांति से आएगी; और तक़रीबन बीस फीसद चिट्ठियों में इन दोनों के योग की बात की गई थी।[53] यह पूरे इतिहास की पहली वह घटना बनी जिसके स्वर लोगों की ज़िंदगी में इतनी अंतरंगता से घुस सका और व्यापकतर बना। स्वयं बोल्शेविज़्म के लिए भी रूस में क्रांति उनका पहला महत्त्वपूर्ण पड़ाव था वे आगे इस क्रांति को पूरी दुनिया भर में लाना चाहते थे। 1945 के बाद पूरी दुनिया में जो भी देश अपने को शक्तिशाली मानता उनके लिए पूंजीवादी राजव्यवस्था का मुखिया सं.रा.अमेरिका के समानांतर खड़ी सोवियत संघ भी एक विकल्प था; उन्हें इनमें से किसी एक के पीछे खड़ा होना था।

बोल्शेविक क्रांति 20वीं सदी के पहले दो दशकों में हुई तीन क्रांतियों का अंतिम परिणाम थी– 1905 में ज़ारशाही के मुक़ाबले में खड़ी हुई क्रांति, जिसे लेनिन ने अक्टूबर क्रांति का ड्रेस रिहर्सल कहा; फ़रवरी 1917 की क्रांति, जिसने ज़ारशाही को उखाड़ फेंका और तीसरी अक्टूबर 1917 में लेनिन और बोल्शेविकों के नेतृत्त्व में हुई क्रांति जिसने सोवियत आधार वाले दुनिया के पहले समाजवादी देश की स्थापना की। अभी तक शोषक और वीभत्स रूप से असमानताओं पर टिकी होने के बावजूद, जिस राजव्यवस्था को हिलाना भी मुश्किल लग रहा था, इस क्रांति ने साबित कर दिया कि मज़दूरों के पास पाने को सचमुच में पूरा जहां है– '23 फरवरी को ज़ार की सत्ता को लगता था कोई चुनौती नहीं दी जा सकती थी। उसने 2 मार्च को सिंहासन त्याग दिया। नवंबर तक लेनिन के नेतृत्त्व में एक क्रांतिकारी सरकार देश चला रही थी।'[54] लेकिन इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाना चाहिए कि यह सबकुछ एक झटके से या किसी 'गैर मानवीय शक्तियों के यांत्रिक उद्विकास का परिणाम' के रूप में 'बस्स हो गया'। यह भारी जनसमूहों– मज़दूर, किसान और सैनिकों के शक्तियों की अंतर्क्रिया पर निर्भर थी जिसे लेनिन और बोल्शेविकों ने नेतृत्त्व दिया। रूस के जो हालात बने हुए थे इसके बिना भी हड़तालें होतीं, कारख़ानों पर कब्जा किया जाता, ज़मींदारों पर किसानों के हमले होते, गैर-रूसियों द्वारा बग़ावत किए जाते– लेकिन तब इन सबके बावजूद भी कोई सोवियत स्थापना वाली समाजवादी क्रांति नहीं हो पाती; बल्कि संभावना इस बात की प्रबल होती कि ये 'आंदोलन' एक दूसरे के ख़िलाफ़ चली जाती। यहां तक कि उन स्थितियों में वहां भी किसी अन्य नाम से फासीवाद जन्म हो सकता था।[55] लेकिन 1903 में गठित रूसी सोशल डेमोक्रेटिक लेबर पार्टी (आरएसडीएलपी) में बहुसंख्यकों का गुट बोल्शेविकों के क्रांतकारी समाजवादी मसौदे पर व्यापक मज़दूर-किसान वर्गों का समर्थन तथा समय के अनुसार सही रणनीति ने यह संभव कर दिखाया।

एरिक हॉब्सबाम के अनुसार, 1917 की क्रांति पहले विश्वयुद्ध की संतान थी।[56] यह मान लेना कि केंद्रित पूंजी के पक्ष में शुरू हुए साम्राज्यवादी युद्धों को व्यापक जनसमर्थन था, सही नहीं है। नये बाज़ार के बेताब पूंजीपतियों के पक्ष में सरकारों और उनके पक्षधर बुद्धिजीवियों द्वारा जबकि जनता के बीच राष्ट्रप्रेम का आवेग पैदा करने की कोशिश और प्रदर्शन लगातार चल रहे थे लेकिन उस समय भी राल्फ फॉक्स के अनुसार, एक मेहनतकश नौजवान के रूप में वह लंदन के किसी

पार्क में वह युद्ध-विरोधी सभायें कर लेता था।[57] दरअसल, युद्ध की भावना को राजव्यवस्था के सबसे ऊपरी लोगों ने अपने से नीचे के वर्गों पर और उन्होंने और नीचे के वर्गों तक पहुंचाया था। समाजवादियों और ट्रेड यूनियन के संगठनों ने शुरूआत में शांति के पक्ष में लगातार मीटिंग करते रहे पर जब युद्ध शुरू हुआ तो ये ही लोग या तो युद्ध-समर्थक बन गयें या फिर 'शांत' हो गये। रूस के बोल्शेविकों के अलावा सर्बिया के समाजवादी पार्टी ने ही अंत तक संगठित रूप से इसका विरोध किया। रूस में हुई बोल्शेविक क्रांति सर्वप्रथम युद्ध-विरोधी था। वह युद्ध जो 20वीं सदी के केंद्रित पूंजी को बचाने-बढ़ाने के उद्देश्य से छेड़ा गया था और जिसकी तबाही की वीभत्सता में किसानों-मज़दूरों-सैनिकों को समा जाना था। इस प्रकार 'युद्ध के विरूद्ध युद्ध'[58] उस दौर की एक अन्य विशेषता और ज़रूरत थी जिसे बोल्शेविक क्रांति ने लड़ा।

युद्ध में शामिल देशों में पहले और फिर अन्य देशों में लोगों को इस जंग की निरर्थकता का बोध जल्दी ही होने लगा था। युद्ध के विरोध में अभियान छेड़ने वाले जो लोग 1914 में स्वयं को असहाय महसूस करते थे वही 1916 तक आते-आते यही स्वर बहुमत की आवाज़ बन चुकी थी। इसके साथ ही एक नये विकल्प की अकुलाहट हर कहीं दिखने लगी थी। यूरोप के देशों में समाजवादी पार्टियों को लगातार विस्तृत होती जा रही मज़दूर आबादी का ज़ोरदार समर्थन मिलने लगा था। विश्वयुद्ध के संताप को हरने वाली किसी भी क्रांतिकारी परिघटना की जैसे पूर्वपीठिका हर कहीं तैयार दिखने लगी थी और ऐसा कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि पूरी राजव्यवस्था को बदल देने को आतुर जनता को केवल एक चिन्गारी या उचित नेतृत्व की ज़रूरत भर थी। प्रथम विश्वयुद्ध के समय दुनिया भर में राजनीति का शक्ति-समीकरण जो अब तक पूंजी मालिकों द्वारा चल रहे शक्तिशाली राज्यों के पक्ष में था बदल कर आम मेहनतकश जनता के पक्ष में झुक गया। यह सकारात्मकता 'नए विश्व के प्रसवकाल की पीड़ा और अकुलाहट थी'[59]। 1917 की रूसी क्रांति ने इसकी अगुवाई कर दी।

सोवियत क्रांति को लेकर भले ही मज़दूर-किसानों, समाजवादियों आदि में उत्साह था लेकिन पूंजीपतियों और उनके प्रभाव वाली सरकारों-देशों को यह बहुत नागवार गुज़री थी। सोवियत संघ को चारों ओर से घेर लेने और क्रांति को विफ़ल करने की साज़िशें शुरू हुई। क्रांति को बरकरार रखने की सबसे पहली चुनौती तो उसे युद्ध से निकालना ही लग रहा था। बोल्शेविक पार्टी ने सत्ता

संभालने से पूर्व ही ऐलान कर दिया था कि वह इस जंग में अब और नहीं रहने वाली, दूसरी ओर जर्मनी उसपर लगातार युद्ध थोपता रहा। क्रांति के दौरान ही जैसाकि तय माना जा रहा था[60] सोवियत रूस को 'अपमानजनक' ब्रेस्ट लिटोस्क समझौते ने वहां की अर्थव्यवस्था को ध्वंस के कगार तक ला दिया। इस समझौते ने (हांलाकि जिसे क्रांतिकारी अपमानवाद कहा गया) ने हालत यहां तक पहुंचा दी कि वहां के आद्यौगिक उत्पादन ठप्प होने की हालत में आ गए। पेट्रोग्राद में जनवरी 1918 में रोटी का राशन 150 ग्राम हो गया और कुछ हफ्तों में यह महज़ 50 ग्राम तक आ गया। अप्रैल तक फैक्टरियों में 40 फीसद मज़दूर बचे थे।[61] इन सबके बाद भी क्रांति का उत्साह यदि कम नहीं हुआ और यह पूंजीवाद के समानांतर एक चुनौती बना रहा तो इसका कारण था कि किसान-मज़दूर-सैनिकों में इसकी लोकप्रियता बढ़ती जा रही थी। दूसरे, इसने यह अपने को एकमात्र ऐसी सरकार के रूप में स्थापित कर लिया था जो रूस को एक राष्ट्र के रूप में संगठित रख सकती थी।

1.2.4 फासीवाद

20वीं सदी तेज़ बदलाव और प्रभावी घटनाक्रमों का युग था जिसे 'अतिरेकों का युग'[62] भी कहा कहा जा सकता है। यूरोप के परंपरावादी-सामंती उत्पादन-व्यवस्था को और साथ ही सामाजिक जीवन ढर्रे को भी तकरीबन ध्वस्त कर आई नई अर्थव्यवस्था, यहां आकर एक विश्वव्यापी प्रभाव वाली परिघटना बन गई थी। पूंजीवाद केंद्रित पूंजी का स्वरूप अख़्तियार कर अपनी गति में आ चुका था, युद्ध को अवश्यंभावी बताया-बनाया गया। विश्वयुद्ध ने भीषण तबाही पैदा कर दी और रूस में क्रांति भी। कुल मिलाकर यह पूरा दौर ज़बरदस्त उठा-पटक का रहा। पिछले कुछ शताब्दियों की सामाजिक राजनीतिक उपलब्धियों और क्रांतियों से उत्पन्न राजनैतिक उदारवाद और इससे उपजे मूल्य को इसने देखत-देखते नाकाफ़ी साबित कर दिया। पहले विश्वयुद्ध के खत्म होते-होते दुनिया भर के राजनीतिक पटल पर एक विराट गिरावट देखी गई- ''1920 में पूरे विश्व को देखने पर हमें शायद पैंतीस के लगभग संवैधानिक और निर्वाचित सरकारें दृष्टिगत होती हैं। (यह इस बात पर निर्भर है कि हम लातीन अमरीका के गणतंत्र को कहाँ रखते हैं)। 1938 तक इन राज्यों की संख्या संभवत:

सत्रह थी, और 1944 में दुनिया के कुल चौंसठ में से बारह देश ही इस सूची में आते थे। संसार का रूझान साफ़ दिखाई दे रहा था।''[63] यहां आकर एक अप्रत्याशित घटना का उदय हुआ जब 1933 में एडोल्फ हिटलर ने जर्मनी के चांसलर की गद्दी संभाल ली।

जिस प्रकार रूस की क्रांति युद्ध की संतान थी, इटली-जर्मनी में फासीवाद का उभार भी उसी युद्ध की व्युत्पत्ति थी। रूस में 1905 की क्रांति के बाद कहने के लिए ही सही लेकिन शासन का नियंत्रण कुछ हद तक ड्यूमा के हाथ मे आया और ज़ार के अधीन एक बेहद कमज़ोर उदारवादी शासन-तंत्र की स्थापना हुई। 1914 में आकर यह ढांचा 'निस्सहाय और बेचारा' बन गया जिससे सत्ता का लगाम बोल्शकविकों ले भर लेना था। ऐसी ही स्थिति युद्धोपरांत जर्मनी और इटली की हो गई थी। ये युद्ध में क्रमशः पराजित और विजेता राष्ट्र थे, लेकिन इनके जनमानस के बीच पर्याप्त असंतोष व्याप्त हो गया था। यहां भी उदारवादी राजसत्ता को अपदस्थ होना था, लेकिन मज़दूर वर्गों को नेतृत्त्व करने वाली किसी समाजवादी अथवा कम्युनिस्ट पार्टी के बजाय एक फासीवादी विचारों वाली पार्टी के हाथों। उत्पादन की पूंजीवादी पद्धति ने जिस उदार लोकतंत्र को अपना आवरण बनाया था उसे रूस की वैकल्पिक साम्यवादी व्यवस्था ने बड़ी चुनौती दी थी। दूसरी ओर, इस उदारवादी लोकतंत्र पर एक बड़ा हमला धुर दक्षिणपंथी विचारधारा की ओर से भी हुआ। इसे फ़ासीवाद या नाज़ीवाद कहा गया। यद्यपि विश्वयुद्ध के बाद इन दोनों ही जगहों पर समाजवादी पार्टियों को बड़ा जनसमर्थन मिलना शुरू हुआ था और उस दौर के राजनीतिज्ञों को लगने लगा था कि यहां भी बोल्शेविज़्म के नेतृत्त्व में कोई क्रांति की घटना हो सकती है। यह अपने आप में महत्त्वपूर्ण है जो भले ही स्थायी न हो सके लेकिन पूंजीवादी अर्थव्यवस्था को भीतर तक हिला देने के लिए और उसे अपनी रणनीति बदलने के लिए मजबूर करने के लिए पर्याप्त थे।

रूस की क्रांति के तुरंत बाद जर्मनी में इसी तरह की क्रांति की उम्मीद की जा रही थी। बोल्शेविकों में इसे लेकर पर्याप्त उम्मीद भी थी और उनकी ज़रूरत भी। लेनिन ने 1918 में ही कह दिया था कि 'बिना जर्मनी में क्रांति हुए हम बर्बाद हो जाएंगे'[64] रूस के साथ हुई संधि 'ब्रेस्ट लिटोस्क' की संधि के पश्चात भी रूसी क्रांतिकारियों ने जर्मनी के मज़दूरों व सैनिकों के बीच लाखों पर्चे फेंक विद्रोह पैदा करने की कोशिश की; लेकिन हाल में हुए लाखों मज़दूरों के हड़ताल के दमन के बाद यह विद्रोह उत्पन्न न हो सका। लेकिन इतना ज़रूर था कि युद्ध की तबाही और

हार के बाद बर्बाद कर देने वाले समझौते (बर्साय की संधि) ने मज़दूरों और सैनिकों को सड़कों पर उतार दिया। आंदोलनकारियों ने कई नगरों को और यहां तक कि बर्लिन को अपने अधीन कर लिया। व्यवस्था को धीरे-धीरे 'दुरूस्त' करने के दावे के साथ नई सरकार को आंदोलनकारियों ने सत्ता सौंप दी थी। युद्ध-विरोधी और मज़दूरों में ज़बरदस्त लोकप्रिय नेताओं (रोज़ा लुक्ज़ेमबर्ग और कार्ल लीब्कनेख्ट) की हत्या की गई। इसके बावजूद भी विद्रोहों के पक्ष में जनउभार को रोका न जा सका। भाषणों में वामपंथी लेकिन पूंजीपति-परस्त सोशल डेमोक्रेट सरकार ने इससे जूझने के लिए 'भाड़े की फ़ौज' (फ्राइकोर्प्स) बनाई जिसके केंद्र में रिटायर्ड सैनिक अधिकारी थे। इनकी भाषा उग्र राष्ट्रवाद और घृणा वाली थी। इसके झंडे पर 'स्वास्तिक- 卐' का निशान था और आगे चलकर यह आर्मी, नाज़ी पार्टी से जुड़ गयी।

युद्धोपरांत असंतुष्ट जनता को उग्र राष्ट्रवाद की घुट्टी पिलाकर, मज़दूर आंदोलन का तीव्र दमन और समाजवादी आंदोलन की संभावनाओं पर हमला कर, मंदी से आक्रांत पूंजीपति वर्ग को आशा की रोशनी दिखायी गई। दुस्साहसवाद और हिंसा को प्रत्यक्ष राजकीय मूल्य के रूप में स्थापित कर 1922 में इटली में असाधारण अधिकारों के साथ मुसोलिनी इटली का प्रधानमंत्री बना। उसकी पार्टी का नाम 'फ़ासिस्ट दल' था और उसकी राजनीति फ़ासीवाद कहलाई। जर्मनी में हिटलर का 'नाज़ीवाद फ़ासीवाद का अधिक नस्लवादी और अधिक गतिमान जर्मन संस्करण है'[65]। मार्क्सवादी चिंतक रजनी पाम दत्त के अनुसार यह ख़ास परिस्थितियों में आधुनिक पूंजीवादी नीतियों और प्रवृत्तियों में पतन की पराकाष्ठा आने से पैदा होने वाली चीज़ है और यह उसी पतन की संपूर्ण और सतत अभिव्यक्ति करता है। यह कहा जा सकता है कि सभी आधुनिक पूंजीवादी देश फ़ासीवाद की तरफ़ बढ़ते जा रहे हैं; हालांकि यह ज़रूरी नहीं कि हर देश में फ़ासीवाद का विकास बिलकुल एक ही तरह से हो।[66] लेकिन इतना ज़रूर था कि उस दौर में इस उभार का तात्कालिक फ़ायदा वहां के बड़े पूंजीपतियों को होता दिख रहा था -''मंदी से बढ़ती कठिनाई ने उच्चवर्ग को बता दिया था कि वर्साइ की संधि का अंत होना ही चाहिए। युद्ध का मुआवज़ा बंद किया जाना चाहिए और मज़दूरों की शक्ति को तोड़ना अनिवार्य है अगर मंदी से निपटना है...1931 की गर्मियों में बड़े व्यवसायियों के नेताओं ने वाइमार गणतंत्र को 'अपमान की व्यवस्था' करार दिया और एक 'राष्ट्रीय सर्वसत्तावाद' का आह्वान किया।''[67] इस परिघटना का अपना वर्गीय चरित्र था। युद्ध के बाद की दुनिया में

आर्थिक विपन्नता से उपजे असंतोष और असुरक्षा के बीच एक वर्ग-विशेष की आवश्यकता ने फ़ासीवाद के उभार को गति दी। शुरूआत में कई जगहों पर इस उभार को युगीन पूंजीघरानों और उनकी नुमांइगी के लिए खड़ी राजनीतिक दलों का प्रत्यक्ष समर्थन मिला। जो विरोध में खड़े रहे, एक-एक कर कुचल दिए गए।

यह सबकुछ महज़ साज़िशों के बल पर नहीं, जनवाद के कंधों पर सवार होकर आया था। इतिहास में एक चक्र ऐसा आया जब हिटलर का दल अचानक सबसे बड़ा दल हो गया। इस नये तरह के 'जनवाद' को यह कहकर बल दिया गया कि - 'सब चोर हैं, बस इन्हें मौक़ा नहीं मिला; मौक़ा दो! परख तो लो! और चरवाहे से नाराज़ भेड़ों ने कसाई को मौक़ा दे दिया।'[68] जर्मनी के मध्यवर्ग को एक स्थिर सरकार चाहिए थी, जो काम करती हो, जो देशप्रेमी हो। और यह देश अल्पसंख्यक यहूदियों का नहीं क्योंकि वे 'मलेच्छ' थे, किसानों और मज़दूरों का नहीं, क्योंकि इनका खून गंदा था; एक साफ़ ख़ून वाला देश, आर्य नस्ल का देश! हिटलर अल्पमत में था, उसे 33% वोट मिले थे। दूसरे दलों को कहीं अधिक मत मिले थे। हिटलर के चुनाव-प्रचार के लिए 1933 में एक मीटिंग हुई। देश के बड़े पूंजीपतियों ने 30 लाख मार्क जमा किए, इनमें 'फक्लेयर' और 'पॉश' कंपनियां शामिल थीं। होना तो यह चाहिए था कि इस सरकार को अपने अंतर्विरोधों से टूटकर स्वयं गिर जानी थी। लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ। 'संविधान और जनवाद की कसमें खाकर सत्ता में आई इस मिलीजुली सरकार ने जर्मनी को जनवाद और संविधान दोनों से पाक़ कर दिया।'[69] कई छोटे-छोटे दलों ने हिटलर के साथ मिलकर सरकार बनाई थी। लेकिन कोई बचा नहीं, एक-एक कर उनका नामों-निशान तक मिटा दिया गया। जनवरी 1933 में हिटलर को सत्ता मिल गई, 27 फ़रवरी को राइख़रास्ट में आग लगा दी गई, कम्युनिस्टों और वामपंथियों पर झूठे इलजाम लगाए गए; दोनों पर हमले हुए। फिर कलाकारों, वैज्ञानिकों, यहूदियों पर हमले बढ़े। भूखमरी, बेरोज़गारी और बेईमानी ख़त्म करने के वायदे से बनी यह सरकार ने आते ही सबसे पहले आर्य ख़ून की दुहाई दी- '' भविष्य में कोई भी जर्मन इंसान महज़ सीखता हुआ एक इंसान नहीं बल्कि वह स्वयं में एक 'चरित्र' होगा। यहूदी विद्वता का दौर अब समाप्त होगा।'' धर्म और नस्ल से लोगों को बांट दिया गया। फासीवाद ने सत्ता के राजकीय चरित्र का क्रूरतम रूप में सामने ला दिया। कुमार अंबुज की कविता 'क्रूरता' इस परिस्थिति को सामने ला पाती है-

धीरे धीरे क्षमा-भाव समाप्त हो जाएगा

प्रेम की आकांक्षा तो होगी

मगर ज़रूरत न रह जाएगी

झर जाएगी पाने की बेचैनी और खो देने की पीड़ा

क्रोध अकेला न होगा

वह संगठित हो जाएगा

एक अनंत प्रतियोगिता होगी जिसमें लोग

पराजित न होने के लिए नहीं

बल्कि अपनी श्रेष्ठता के लिए युद्धरत होंगे

तब आएगी क्रूरता

पहले हृदय में आएगी

और चेहरे पर न दीखेगी

फिर घटित होगी धर्मग्रंथों की व्याख्या में

फिर इतिहास में

और फिर भविष्यवाणियों में

फिर वह जनता का आदर्श हो जाएगी

निरर्थक हो जाएगा विलाप

दूसरी मृत्यु थाम लेगी पहली मृत्यु से उपजे आँसू

पड़ोसी सांत्वना नहीं, हथियार देने आएगा

तब आएगी क्रूरता और आहत नहीं करेगी हमारी आत्मा को

फिर वह चेहरे पर भी दिखेगी

लेकिन अलग से पहचानी न जाएगी

सब तरफ होंगे एक जैसे चेहरे

सब अपनी-अपनी तरह से कर रहे होंगे क्रूरता

और सभी में गौरव भाव होगा

वह संस्कृति की तरह आएगी

उसका कोई विरोधी न होगा

कोशिश सिर्फ यह होगी कि किस तरह वह अधिक सभ्य

और अधिक ऐतिहासिक हो

वह भावी इतिहास की लज्जा की तरह आएगी

और सोख लेगी हमारी सारी करुणा

हमारा सारा श्रृंगार

और यही ज्यादा संभव है कि वह आए

और लंबे समय तक

हमें पता ही न चले उसका आना।

जर्मनी में हिटलर की शासन-व्यवस्था ने वहां घृणा और हत्या की एक संस्कृति शुरू कर दी। जिनकी मदद से ऐसा हुआ था, सहसा उनके हाथों में कुछ न रह गया था।

फासीवाद के वर्गीय चरित्र को लेकर इतिहासकारों के बीच अलग-अलग मत है। माइकल गात्र जैसे चिंतकों ने नाज़ियों को मिलने वाले समर्थन को वर्ग आधरित नहीं माना है। दूसरी ओर, क्रिस हरमन, हॉब्सबाम आदि ने इस उभार को एक वर्गीय दृष्टिकोण से देखने की कोशिश की है। नोक्स और प्रिडहैम के 'नाज़ीज़्म, भाग-1' (इक्ज़ीटर-1983) को आधार बनाकर क्रिस हरमन ने नाज़ी पार्टी के वर्गीय आधार को रेखांकित किया है। हिटलर के सत्ता में आने के पूर्व उसके पार्टी सदस्यों में 17.3 प्रतिशत लोग कारोबारी थे, 20.6 प्रतिशत लोग सफ़ेद कॉलर वाले कामों में थे और 6.5 प्रतिशत लोग सिविल सर्वेंट थे। ये पार्टी की शक्तियां थीं और इनकी स्थिति अपेक्षाकृत बेहतर थी। हालांकि इस आधार-वर्ग में मज़दूर भी थे, लेकिन इनकी संख्या काफी कम थी और ये प्रायः प्रशा के खेत-मज़दूर थे जहाँ किसी भी तरह के मज़दूर संगठन बनने की संभावना को ख़तम कर दिया गया था।[70] फ़ासीवाद का मुख्य आधार-वर्ग प्रारंभ में, पूंजीपति वर्ग द्वारा उग्र राष्ट्रवाद के लिए चलाये अभियान से प्रेरित मध्य-वर्ग रहा और यह प्रायः उसी को अपना आधार-शक्ति बनाता है। इससे होकर यह फिर मज़दूर वर्ग तक पहुंचता है।

विशेष परिस्थितियों में हर देश में बुर्जुआ तानाशाही या उदारवादी लोकतंत्र ने स्वयं फ़ासीवाद को सत्ता सौंपी। इटली में वहां के महाराजा ने फासीवादियों को सत्ता सौंपी। उसने देश में सैनिक शासन लगाने के आदेश पर दस्तख़त करने से इनकार कर मुसोलिनी को बुलाकर सत्ता उसे दे दी। जर्मनी में वहां के राष्ट्रपति ने फासीवादियों को सत्ता तब सौंपी जब उसका अपना आधार समाप्त होने लगा था। उस समय हुए चुनावों से भी यह बात ज़ाहिर हुई। यद्यपि इन अति दक्षिणपंथियों के चरमवादी आंदोलनों का अस्तित्व 1914 के पूर्व भी था 'जो दीवानगी की हद तक राष्ट्रवादी और विदेशियों के प्रति जुगुप्सात्मक थे, युद्ध और हिंसा जिनके आदर्श थे, वह असहिष्णु थे और बाहुबल से दमन में विश्वास रखते थे, वह उदारवाद के शत्रु थे, लोकतंत्र-विरोधी, सर्वहारा-विरोधी, समाजवाद-विरोधी और बुद्धिवाद के विरोधी थे, वह रक्त और ज़मीन में एक स्वप्निल-लोक में जीते थे और ऐसे मूल्यों में लौटना चाहते थे जिन्हें आधुनिकता विचलित कर रही थी।'[71] लेकिन यह कभी

भी उस गति से उभर नहीं पाया जैसे कि 1922 के बाद इटली में और 1932 के बाद जर्मनी में उभरा था।

फासीवाद ने पूरी उग्रता के साथ मानवता पर हमला बोल दिया। इसने देश के भीतर एक समुदाय को 'दूसरा' घोषित किया और उसके ख़िलाफ़ घृणा और हिंसा के राजकीय अभियान चलाये गये। मज़दूर आंदोलनों को कुचल कर रख दिया गया, वामपंथी और कम्युनिस्टों के दमन का एक वीभत्स सिलसिला शुरू हुआ, फ़नकारों और वैज्ञानिकों को देश छोड़ने को मजबूर किया गया, उनकी रचनाओं को जलाया गया। विदेश नीति के तौर पर इसने अनियंत्रित और उग्र साम्राज्यवाद को अपनाया। डिमिट्रॉफ़ ने फ़ासीवाद को पूंजीवादी समाज-व्यवस्था के सबसे प्रतिक्रियावादी हिस्से द्वारा निर्मित खुला आतंक कहा है।[72] गंभीर यह कि इसे जनता के एक हिस्से का समर्थन भी हासिल हो जाता है।

उदारवादी लोकतंत्र को नष्ट कर फासीवाद ने राष्ट्र के मायने को अत्यंत सीमित कर दिया। जबकि, बोल्शेविज़्म ने इसकी जगह अंतर्राष्ट्रीयतावाद की अवधारणा को मजबूत किया था। लियॉन ट्रॉट्स्की ने फासीवाद के संबंध में लिखा है- ''मानवीय सभ्यता के इतिहास को राष्ट्र के इतिहास तक सीमित कर देने के बाद जर्मनी में फ़ासीवाद ने इसे और संकुचित कर राष्ट्र को नस्ल और फिर रक्त तक सीमित किया।''[73] इस प्रकार उन वास्तविक भौतिक आधारों और कारणों से लोगों को काट दिया गया जो जनता की बदहाली, उसकी कुंठा और हताशा के कारण थे। उसकी जगह एक अतार्किक, गैरभौतिक मतों और आग्रहों जैसे, ज़िम्मेदारी, आज्ञापालन, सम्मान, कर्त्तव्य, पूर्वजों की विरासत, नस्ल आदि पर बल देकर एक समुदाय-विशेष को इनकी क्षति के लिए ज़िम्मेदार और जनता का सबसे बड़ा शत्रु घोषित किया गया। यह समुदाय-विशेष यहूदी हो सकता है, कोई भी अल्पसंख्यक या फिर काले भी, या फिर जिप्सी या विदेशी। घृणा की ऐसी ही राजनीति ने उस दौर में अमरीका के भीतर 50 लाख से अधिक काले नागरिकों को जानवर से भी बदतर ज़िंदगी गुजारने को विवश कर दिया था। उन पर दमन ढाहने और उनके ख़िलाफ़ घृणा का प्रचार करने के लिए श्वेत कट्टरपंथियों का एक समूह 'कू क्लक्स क्लान' (**Ku Klux Klan**) इसी प्रकार सक्रिय था।

20वीं सदी के इन दशकों तक आकर पूंजीवाद के 'स्वर्णिम दिन' ख़तरे में दिखने लगे थे। युद्ध, क्रांति और मंदी ने उसके स्वरूप को विकृत कर दिया था। मार्टिन किचेन (Martin

Kitchen) ने इस संदर्भ में फ़ासीवाद और पूंजीवादी व्यवस्था के अंत: संबंधों पर विचार किया है। उनके अनुसार, फ़ासीवाद पूंजीवादी समाज का उत्पादन है और अपने तमाम पूंजीवाद-विरोधी भाषणबाजी, विशेषकर अपनी प्रारंभिक अवस्था में करने के बावजूद यह उससे उबरने या लांघ पाने में न तो इच्छुक होता है और न ही इस योग्य।'[74] इस प्रकार 20वीं सदी के इन दशकों ने एक साथ मेहनतकश आवाम के पक्ष में मानवीय मूल्यों की गरिमा, इसकी क्षुद्रता तथा पतन देखा था।

संदर्भ सूची

1 एरिक हॉब्सबाम ने अपनी पुस्तक 'अतिरेकों का युग' में इस दौर की क्रांतियों को 'बीसवीं शताब्दी के युद्ध की संतान' कहा है। दरअसल इन युद्धों का प्रभाव राष्ट्रों और जनता पर इतना अभूतपूर्व तरीके से पड़ा कि दोनों ही अपनी सीमाओं को लांघ बैठे। विकल्प की तलाश ने तत्कालीन शासन पद्धतियों को बेकार साबित करना शुरू कर दिया और उसपर यह चीनी कहावत चरितार्थ होने लगी कि इसने 'ईश्वर की सहमति खो दी है'। एरिक हॉब्सबाम, अतिरेकों का युग; अनुवाद: प्रकाश दीक्षित, भाग-1, संवाद प्रकाशन, 2009, पृ. 73

2 लाल बहादुर वर्मा, अधूरी क्रांतियों का इतिहासबोध; संवाद प्रकाशन, 2009, पृ.21

3 कृस हरमन, विश्व का जन इतिहास; अनु. लाल बहादुर वर्मा, संवाद प्रकाशन, मेरठ, 2009; पृ. 332 में उद्धरित

4 अर्जुन देव, इंदिरा अर्जुन देव; समकालीन विश्व का इतिहास (1890-2008), ओरियंट ब्लैकस्वॉन, 2009, पृ. 20

5 अर्जुन देव, इंदिरा अर्जुन देव; समकालीन विश्व का इतिहास (1890-2008), ओरियंट ब्लैकस्वॉन, 2009, पृ. 20

6 एक राजनीतिक और सामाजिक मूल्य जो कथित लोकतंत्र के आवरण में श्रम-शक्ति के शोषण का समर्थन करता है। साथ ही इसे सामान्यीकृत करता है।

[7] कार्ल मार्क्स, पूंजी भाग-1; प्रगति प्रकाशन, मास्को, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा) लिमिटेड, भाग 8, अध्याय 28 का शीर्षक। इस भाग में मार्क्स ने उन ऐतिहासिक प्रक्रियाओं को सूत्रबद्ध किया जिसके तहत उत्पादक वर्गों को 'जबरन' उनके उत्पादन के पारंपरिक स्रातों आदि से मुक्त कर एक 'स्वतंत्र और अनाश्रित' सर्वहारा के रूप में श्रम की मंडी में फेंक दिया गया। इस पूरी प्रक्रिया का आधार था- खेतिहर उत्पादकों- किसानों- की ज़मीनें छीन लिया जाना। इसे मार्क्स ने इतिहास में रक्तरंजित और आग्नेय अक्षरों में लिखी गई कहानी कहा। (वही. पृ. 749-752)

[8] कार्ल मार्क्स, पूंजी भाग-1; प्रगति प्रकाशन, मास्को, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा) लिमिटेड, भाग 8, पृ 775

[9] पॉल बैरोक और गैरी जॉर्ज, Factors of Urbanisation in the Nineteenth Century Developed Countries: A Descriptive and Econometric Analysis, पत्रिका, अर्बन स्टडीज़, 1986 (3), पृ. 289

[10] लिबरल विचारक और एडम स्मिथ के विचारों के प्रचारक *जीन बापतिस्त से* जो फ्रांस के उद्योगपति और अर्थशास्त्री थे ने 'मुक्त बाज़ार', 'प्रतिस्पर्धा' आदि का जमकर समर्थन किया। उनके विचार 'से कानून' (Say's law) के रूप में प्रचलित है।

[11] डेविड मैक्नाली, अगेंस्ट द मार्केट, लंदन: वर्सो, 1993, पृ.101

[12] एरिक हॉब्सबाम, पूंजी का युग ; अनुवाद: वंदना राग, संवाद प्रकाशन, पहला संस्करण 2009, पृ. 23

[13] क्रिस हरमन, विश्व का जन इतिहास; अनु. लाल बहादुर वर्मा, संवाद प्रकाशन, मेरठ, 2009; पृ. 331

[14] दिनेश कुमार शुक्ल, काव्य संग्रह 'नया अनहद', की 'आगमन' शीर्षक कविता से,

[15] कार्ल मार्क्स, फ्रेडरिक एंगेल्स, कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो

[16] क्रिस हरमन, विश्व का जन इतिहास, अनु. लाल बहादुर वर्मा, संवाद प्रकाशन, मेरठ; 2009, पृ. 286

[17] चार्टिस्ट आंदोलन 1838 से 1858 तक चला श्रमिक वर्ग द्वारा राजनीतिक बदलाव के लिए चलाया गया एक आंदोलन था। जनता का चार्टर, 1838 को आधार बनाकर चलाये जाने के कारण इस आंदोलन का नाम चार्टिस्ट आंदोलन पड़ गया। इसमें ऐतिहासिक रूप से जन भागीदारी थी। लेकिन, इंग्लैण्ड में इतिहास को पढ़ाये जाने के क्रम में इसे लगभग महत्त्वहीन और असफल आंदोलन कहकर छोड़ दिया जाता है। जबकि इसकी लोकप्रियता का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि लीड्स शहर में इस आंदोलन का अपना अख़बार 'नॉर्दर्न स्टार' का प्रसार उस समय शाषकों के मुख्य अख़बार 'टाइम्स' के बराबर था।

[18] कार्ल मार्क्स, फ्रेडरिक एंगेल्स, कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो

[19] अयोध्या सिंह, साम्राज्यवाद का उदय और अस्त, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली; 2010, पृ 48

[20] एरिक हॉब्सबाम, साम्राज्य का युग, अनु. प्रकाश दीक्षित, संवाद प्रकाशन 2009, पृ. 413

[21] एरिक हॉब्सबाम, साम्राज्य का युग, अनु. प्रकाश दीक्षित, संवाद प्रकाशन 2009, पृ. 403

[22] एरिक हॉब्सबाम, साम्राज्य का युग, अनु. प्रकाश दीक्षित, संवाद प्रकाशन 2009, पृ. 404

[23] एंगेल्स डेनिलसन के नाम, 22 सितंबर 1892, मार्क्स-एंगेल्स वर्क्स-38, बर्लिन, पृ 491

[24] मशीनगन निर्माण करने वाली जर्मन संस्था ने 'ले-फिगारो' में यह ख़बर छपवाई कि फ्रांस की सरकार मशीनगन को दुगुना करने वाली है। देखते ही देखते जर्मन सरकार ने चालीस मिलियन मार्क के मशीनगन का आदेश दे दिया और इससे उक्त कंपनी को मुनाफ़े में बत्तीस गुने तक की वृद्धि हुई। इसी प्रकार ब्रिटेन की एक संस्था ने तर्क दिया कि उसकी सरकार जर्मनी के शस्त्रीकरण को कम करके आंकने की भूल कर रही है और ब्रिटेन ने अपने लिए दुगुने हथियार खरीदे और संस्था को ढाई लाख पाउंड का लाभ हुआ।

[25] एरिक हॉब्सबाम, साम्राज्य का युग; अनुवाद-प्रकाश दीक्षित, संवाद प्रकाशन, 2009, पृ. 409

[26] एरिक हॉब्सबाम, अतिरेकों का युग; अनुवाद-प्रकाश दीक्षित, भाग-1, संवाद प्रकाशन, 2009, पृ. 13-14

[27] टॉम बॉटमोर (सं), ए डिक्शनरी ऑफ़ मार्क्सिस्ट थॉट', दूसरा संस्करण, ब्लैकवेल पब्लिशर्स लि., 1991, पृ. 252

[28] क्रिस हरमन, विश्व का जन इतिहास, अनु. लाल बहादुर वर्मा, संवाद प्रकाशन, मेरठ; 2009, पृ. 353

[29] प्रभात पटनायक, लेनिन का 'साम्राज्यवाद' और समकालीन साम्राज्यवाद; वी.आई. लेनिन की पुस्तक 'साम्राज्यवादः पूंजीवाद की उच्चतम अवस्था' ग्रंथशिल्पी प्रकाशन (अनु. चैतन्य कृष्ण) की भूमिका, 2001, पृ. 23

[30] वी.आई. लेनिन, साम्राज्यवादः पूंजीवाद की उच्चतम अवस्था, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन (अनु. चैतन्य कृष्ण), 2001, पृ. 51

[31] दूसरे इंटरनेशनल में समाजवादी देश पूंजीवादी देशों द्वारा अपनाए जा रहे उपनिवेशवादी नीतियों को लेकर एक अस्प्ष्ट सहमति थी साथ ही समाजवादी राज्य द्वारा अपने उपनिवेशों को सभ्य बनाने की ज़िम्मेदारी ले सकते हैं, यह तर्क भी दिया जा रहा था। कुछ समाजवादी दल दरअसल इस आधार पर परोक्ष रूप से अपने-अपने सरकारों की औपनिवेशिक नीतियों को तार्किक ठहराने की कोशिश कर रहे थे। अंततः दूसरे इंटरनेशनल ने 'सभ्य बनाने की ज़िम्मेदारी' वाले तर्क से स्वयं को मुक्त किया, इस घोषणा के साथ कि स्वाधीनता का अधिकार समाजवाद का मूलमंत्र है।

[32] एरिक हॉब्सबाम, अतिरेकों का युग; अनुवाद-प्रकाश दीक्षित, भाग-1, संवाद प्रकाशन, 2009, पृ. 77

[33] एरिक हॉब्सबाम, अतिरेकों का युग; अनुवाद-प्रकाश दीक्षित, भाग-1, संवाद प्रकाशन, 2009, पृ. 50

[34] एरिक हॉब्सबाम, अतिरेकों का युग; अनुवाद-प्रकाश दीक्षित, भाग-1, संवाद प्रकाशन, 2009, पृ. 135

[35] कम्युनिस्ट इंटरनेशनल का घोषणा पत्र, 7 नवंबर, 1938; विलियम जेड, फास्टर पूर्वोक्त पुस्तक, पृ. 408

[36] जर्मनी का हर राजनीतिक दल, धुर वापंथी से लेकर घोर दक्षिणपंथी हिटलर की 'नेशनल सोशलिस्ट पार्टी' तक इसे अन्यायपूर्ण और अस्वीकार्य मान कर उसकी भर्त्सना करने के लिए एकमत थे।

[37] एरिक हॉब्सबाम, साम्राज्य का युग; अनुवाद- प्रकाश दीक्षित, संवाद प्रकाशन 2009, पृ. 201

[38] एरिक हॉब्सबाम, साम्राज्य का युग; अनुवाद- प्रकाश दीक्षित, संवाद प्रकाशन 2009, पृ. 200 में उद्धृत

[39] एरिक हॉब्सबाम, पूंजी का युग; अनुवाद- वंदना राग, संवाद प्रकाशन 2009, पृ. 119

[40] Gellner, E. (1983), Nations and Nationalism, Ithaca; Cornell University Press.

[41] A DICTIONARY OF MARXIST THOUGHT; Edited by TOM BOTTOMORE, पृ. 392

[42] कम्युनिस्ट घोषणपत्र-कार्ल मार्क्स, एंगेल्स; खण्ड-2

[43] Dictionary of Philosophy Edited by I.T. Frolov हिन्दी अनुवाद, दर्शनकोश नाम से, प्रगति प्रकाशन, मास्को 1988, पृ. 537-38

[44] Anderson, B. (1991) Imagined Communities: Reflections on the origin and spread of Nationalism, Revised Edition, London and New York: Verso.

[45] Anderson, B., Imagined community: Reflections on the Origins and Growth of National Consciousness (London: Verso, 1983) page-7

[46] Partha Chatterjee (1986), Nationalist Thought and the Colonial World: A Derivative Discourse? London: Zed Books. page 50-51

[47] Ashis Nandy (1994), The illegitimacy of Nationalism: Rabindranath Tagore and the Politics of Self; Delhi: Oxford University Press, page 3-4

[48] Partha Chatterjee (1994), The Nation and its Fragments , Delhi: Oxford University Press

[49] मैनेजर पांडेयराष्ट्रवाद, उपन्यास और प्रेमचंद; 'अनभै सांचा' में संकलित, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, 2002 पृ. 150

[50] Stalin, J.V. 'Marxism and the National Question' (1913) ; in Omar Dahbour, Micheline R. Ishay (editors); The Nationalism Reader , Humanity Books. page- 192-197

[51] लाल बहादुर वर्मा, अधूरी क्रांतियों का इतिहासबोध; संवाद प्रकाशन, 2009, पृ. 112-13

[52] अभय कुमार दुबे (सं), समाज-विज्ञान विश्वकोष; खण्ड-3, राजकमल प्रकाशन,2013, पृ. 1050

[53] एरिक हॉब्सबाम, अतिरेकों का युग; अनुवाद-प्रकाश दीक्षित, भाग-1, संवाद प्रकाशन, 2009, पृ. 78

[54] क्रिस हरमन, विश्व का जन इतिहास, अनु. लाल बहादुर वर्मा, संवाद प्रकाशन, मेरठ; 2009, पृ. 356

[55] क्रिस हरमन, विश्व का जन इतिहास, अनु. लाल बहादुर वर्मा, संवाद प्रकाशन, मेरठ; 2009, पृ. 360

[56] एरिक हॉब्सबाम, अतिरेकों का युग; अनुवाद-प्रकाश दीक्षित, भाग-1, संवाद प्रकाशन, 2009, पृ. 73

[57] क्रिस हरमन, विश्व का जन इतिहास, अनु. लाल बहादुर वर्मा, संवाद प्रकाशन, मेरठ; 2009, पृ. 351 में उधृत

[58] 'शांति के लिए ब्रिटिश और जर्मन मज़दूरों का प्रदर्शन' नाम से 1908 में युद्ध के बढ़ते ख़तरे के विरोध में बर्लिन में आयोजित एक मज़दूर रैली के लिए लिखा था। इसमें उन्होंने मज़दूरों से 'युद्ध के विरूद्ध युद्ध' छेड़ने का आह्वाहन किया था। व्ला. इ. लेनिन, सर्वहारा अंतर्राष्ट्रीयतावाद, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड, 1983, पृ. 21

[59] एरिक हॉब्सबाम, अतिरेकों का युग; अनुवाद-प्रकाश दीक्षित, भाग-1, संवाद प्रकाशन, 2009, पृ. 73

[60] रूस और रूसी भाषा की जानकारी रखने वाले *मैनचेस्टर गार्जियन* के संवाददाता फिलिप्स प्राइस जिसने उन हफ़्तों में रूस का दौरा किया था ने अपने रिपोर्ट (जो दिसंबर, 1917 में छपी थी) में इस बात की आशंका जाहिर की थी कि रूस की जनता का युद्ध से नफ़रत

नेपोलियन जैसा कोई शांतिप्रिय तानाशाह पैदा करेगी जो रूस के कुछ इलाके गंवाने और क्रांति से प्राप्त आज़ादी को थोड़ा कम करके भी युद्ध से बाहर आएगा। और, ऐसा होते ही क्रांति टूट कर ख़तम हो जाएगी।

[61] क्रिस हरमन, विश्व का जन इतिहास, अनु. लाल बहादुर वर्मा, संवाद प्रकाशन, मेरठ; 2009, पृ. 366

[62] एरिक हॉब्सबाम ने अपने इतिहास-लेखन श्रृंखला में 1914-1991 के तक के इतिहास को 'द एज ऑफ एक्सट्रीम्स' अर्थात 'अतिरेकों का युग' कहा है।

[63] एरिक हॉब्सबाम, अतिरेकों का युग; अनुवाद-प्रकाश दीक्षित, भाग-1, संवाद प्रकाशन, 2009, पृ. 135

[64] लेनिन, संकलित रचनाएं, भाग 27, मास्को 1962, पृ. 98

[65] लाल बहादुर वर्मा, आधुनिक विश्व इतिहास की झलक (1789-1945); अभिव्यक्ति प्रकाशन, 2010, पृ. 222

[66] रजनी पाम दत्त, फ़ासीवाद और सामाजिक क्रांति; अनुवादक अरविंद मोहन, ग्रंथ शिल्पी, 2002, पृ 93-94

[67] क्रिस हरमन, विश्व का जन इतिहास; अनुवाद: लाल बहादुर वर्मा, संवाद प्रकाशन, 2009, पृ. 412

[68] जुल्मतों के दौर में, लघु फिल्म, मैक्समूलर भवन, नई दिल्ली, गांधी फिल्म फाउंडेशन, मुंबई और आनंद पटवर्धन द्वारा निर्मित, से

[69] वही.

[70] क्रिस हरमन, विश्व का जन इतिहास; अनुवाद: लाल बहादुर वर्मा, संवाद प्रकाशन, 2009, पृ. 410

[71] एरिक हॉब्सबाम, अतिरेकों का युग; अनुवाद-प्रकाश दीक्षित, भाग-1, संवाद प्रकाशन, 2009, पृ. 150

[72] एरिस्टोटल ए. कालिस (Aristotle A. Kallis) द्वारा संपादित 'द फ़ासिज़्म रीडर' में उद्धृत, Routledge, London And New York, 2003, पृ. 59

[73] लियॉन ट्राट्स्की द्वारा 1934 में लिखा गया लेख 'राष्ट्रवाद और आर्थिक जीवन' से। अप्रैल, 1934 में विदेश मंत्रालय द्वारा प्रकाशित, पुन:प्रकाशन चौथे इंटरनेशनल में।

Online Version: *Vera Buch & Albert Weisbord Internet Archive*. Transcribed/HTML Markup: Albert Weisbord Internet Archive/David Walters.

[74] लेख 'फ़ासिज़्म एंड द केपिटलिस्ट सिस्टम: ए मार्क्सिस्ट वीउ', एरिस्टोटल ए. कालिस (Aristotle Kallis) द्वारा संपादित 'द फ़ासिज़्म रीडर' में संकलित, Routledge, London And New York, 2003, पृ. 58

दूसरा अध्याय

साम्राज्यवाद और हिन्दी का कथेतर गद्य

यूरोप में आए आद्योगिक क्रांति को आने वाले चंद शताब्दियों में जैसे वैश्विक राजनीतिक-आर्थिकी को एकदम से बदल देने का सबसे महत्त्वपूर्ण कारक बनना था- उसने नई अर्थव्यवस्था और उससे निर्मित बाज़ार के आधार पर राष्ट्रवाद की नई संकल्पना को बढ़ावा दिया, राज्य के पारंपरिक ढांचे को तोड़कर उसके समानांतर 'मुनाफ़ाख़ोर' नाम की एक नये और विकट वर्ग को उभारा जिसे जल्द ही राज्य-संचालन में महत्त्वपूर्ण घुसपैठ करना था। स्वाभाविक था इस पूरी प्रक्रिया ने मज़दूर वर्ग की एक फ़ौज़ खड़ी कर दी; और जैसाकि इस सदी की महानतम क्रांति का नायक लेनिन ने कहा है इसने पूंजीवाद के सर्वोच्च शिखर के रूप में साम्राज्यवाद को इस सदी की सबसे बड़ी क्रूरता के रूप में स्थापित कर दिया।

2.1 साम्राज्यवाद की पृष्ठभूमि

यूरोप में आए आद्योगिक क्रांति को आने वाले चंद शताब्दियों में जैसे वैश्विक राजनीतिक-आर्थिकी को एकदम से बदल देने का सबसे महत्त्वपूर्ण कारक बनना था- उसने नई अर्थव्यवस्था और उससे निर्मित बाज़ार के आधार पर राष्ट्रवाद की नई संकल्पना को बढ़ावा दिया, राज्य के पारंपरिक ढांचे को तोड़कर उसके समानांतर 'मुनाफ़ाख़ोर' नाम की एक नये और विकट वर्ग को उभारा जिसे जल्द ही राज्य-संचालन में महत्त्वपूर्ण घुसपैठ करना था। स्वाभाविक था इस पूरी प्रक्रिया ने मज़दूर वर्ग की एक फ़ौज़ खड़ी कर दी; और जैसाकि इस सदी की महानतम क्रांति का नायक लेनिन ने कहा है इसने पूंजीवाद के सर्वोच्च शिखर के रूप में साम्राज्यवाद को इस सदी की सबसे बड़ी क्रूरता के रूप में स्थापित कर दिया।

20वीं सदी में साम्राज्यवाद अपने वीभत्स रूप में सामने आया। हालांकि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के स्वाभविक परिणाम के रूप में यह 18वीं सदी में भी खूब चला। यूरोप के कुछ देशों

(जैसे इंग्लैण्ड, फ्रांस, इटली, जर्मनी आदि) ने पहले यूरोप के व्यापारिक रूप से महत्त्वपूर्ण लेकिन कमज़ोर प्रांतों को अपना उपनिवेश बनाया, बाद में उन्होंने यूरोप के बाहर सुदूर देशों पर कब्जा करना शुरू किया। अलग-अलग समय में यूरोप के अलावा एशिया, अफ्रीका व अमेरिका के कई प्रांत व देश इन शक्तिशाली देशों के अधीन होते गए। आगे चलकर दो गैर यूरोपिय देश- जापान और अमेरिका, साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा में चुनौती बनकर सामने आए। साम्राज्यवाद की परिघटना भले ही पिछली कुछ शताब्दियों से वैश्विक राजनीति की महत्वपूर्ण धूरी बन गई थी, लेकिन प्रथम विश्वयुद्ध के दौर में इस साम्राज्यवाद के चरित्र में कुछ गुणात्मक परिवर्तन हुए। यहां आकर पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में कुछ विशेष प्रकार की प्रवृत्तियों का जन्म हुआ जिसने अगले कुछ दशकों में साम्राज्यवाद को अर्थराजनीतिक पैमाने पर इस कदर उभारा कि दुनिया दो फाड़ों में विभाजित होकर रह गई- विजेता और विजित। इसने दो विनाशकारी महायुद्धों की ओर पूरी दुनिया को जैसे धकेल दिया।

उत्पादन का संकेद्रण और एकाधिकार इस दौर की पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की सबसे बड़ी विशेषता थी। औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप मज़दूरों का जो संकेद्रण शुरू हुआ था वह यहां आकर बढ़ा लेकिन इससे भी अधिक ज़ोरदार तरीके से 20वीं सदी में उत्पादन का संकेद्रण हुआ। बड़े उपक्रमों की संख्या बढ़ी और उनकी उत्पादन की मात्रा के लिहाज से उनकी गुणवत्ता भी। बड़े उपक्रमों में श्रमिकों की उत्पादकता कहीं अधिक होती है। 1907 के आसपास जर्मनी में कुल उपक्रमों का 0.9 प्रतिशत बड़े उपक्रम थे, जिसमें कुल मज़दूरों का 39.4 प्रतिशत मज़दूर काम करते थे। इन उपक्रमों में कुल उर्जा से 75.3 प्रतिशत भाप और 77.2 प्रतिशत बिजली का इस्तेमाल होता था।[1] अन्य विकसित देशों की भी कमोबेश यही स्थिति थी। ये बड़े उपक्रम उत्पादन के मामले में अत्यंत विशालकाय थे। अमेरिका के कुल अद्योगिक उपक्रमों का सौवां हिस्सा (जो कि बड़े उपक्रम थे) कुल उत्पादन का तकरीबन आधा उत्पादन करते थे।[2] उत्पादन के इस संकेंद्रण ने एकाधिकारवाद को जबरदस्त रूप से बढ़ा दिया। चंद उपक्रमों के हाथ में उत्पादन का एक बड़ा हिस्सा आ गया और चंद लोगों में हाथ में ये बड़े उपक्रम थे। हांलाकि यह पूरी प्रक्रिया 20वीं सदी के इन कुछ दशकों में अचानक से नहीं फूट पड़ी, लेकिन यहां आकर यह पूरी उत्पादन प्रक्रिया की सबसे बड़ी विशेषता बन गई। नगद पूंजी और बैंकों की भूमिका ने इस प्रक्रिया को और भी अभिभूत कर दिया।

इस नई पद्धति में उत्पादन की तेज़ गति ने एक नई और अत्यंत प्रभावशाली संस्था को खड़ा कर दिया- बैंक। यह उत्पादन में मुनाफ़ाखोर बिचौलिये की तरह था जो निष्क्रिय मौद्रिक पूंजी को मुनाफ़ा देने वाली पूंजी में बदल देता। यह वृहद् पैमाने पर मौद्रिक पूंजी एकत्र कर बड़े पूंजीपतियों को सौंप देता और उससे संकेंद्रित उत्पादन और एकाधिकारवादी पूंजी का निर्माण होता। बैंकों में सिर्फ वही टिक सकते थे जो बहुत बड़े थे। बाकियों को या तो ख़तम हो जाना था या फिर बड़े बैंकों की एक शाखा मात्र बनकर रह जाना था। जर्मनी में 10 लाख मार्क से अधिक की पूंजी वाले बैंकों का कुल जमा रकम 1907 में 7 अरब मार्क से बढ़कर 1912 में 9 अरब 80 करोड़ मार्क हो गई। यह 5 सालों में 40 प्रतिशत की बढ़ोतरी थी। इसमें केवल 9 बड़े बैंकों के पास आधी रकम थी और दस लाख मार्क से कम की पूंजी वाले सारे बैंकों के पास कुल का 3 से 4 प्रतिशत धन ही था।[3] अगर बड़े बैंकों और उनसे 'संबद्ध' बैंकों को मिलाकर देखा जाए तो 1909 में जर्मनी के बैंकों में जमा हुई कुल पूंजी का 83 प्रतिशत सिर्फ इनके पास थी। माइकल कौलिन्स ने ब्रिटेन में सन् 1800 से 1939 तक बैंकों और औद्योगिक वित्त के बीच के संबंधों को दिखाया है। 20वीं सदी के आरंभ से ही जर्मन बैंकों ने बड़े पैमाने पर मौद्रिक पूंजी को औद्योगिक उपक्रमों में लगाया और न सिर्फ उन्हें धन मुहैया करवाया बल्कि और नये उपक्रमों को लगाने में उन्होंने सक्रिय भूमिका भी निभायी।[4] बैंकों और बड़े औद्योगिक व वाणिज्यिक उपक्रमों के बीच एक तरह का व्यक्तिगत रिश्ता कायम हो गया। दोनों एक दूसरे का शेयर खरीद कर, या एक दूसरे के निरीक्षण या निदेशक मंडल में अपने अपने निदेशक भेज कर विलय करते जाते थे। इस संदर्भ में जर्मन अर्थशास्त्री जीडेल्स ने विस्तारपूर्वक अध्ययन किया है। बर्लिन के 6 सबसे बड़े बैंकों के निदेशक 344 औद्योगिक कंपनियों में और उन बैंकों के बोर्ड सदस्य 407 दूसरी कंपनियों में प्रतिनिधि थे।[5] कहने का तात्पर्य यह है कि पूंजी के संकेन्द्रण और उसे बढ़ावा देते बैंकों की भूमिका की आधार-भूमि पर खड़े होकर 20वीं सदी के आते-आते तक अर्थव्यवस्था में एक बड़ी लकीर खीच गई- 'बड़ी मछली छोटी मछली को खाकर ही ज़िन्दा रह पाएगी'।

यहां आकर तेज गति से वित्तीय पूंजी[6] की परिघटना सामने आयी। अब वस्तुओं या उत्पादन के बजाय पूंजी का निर्यात इस दौर की अर्थव्यवस्था की एक चारित्रिक विशेषता बन गई। श्रम-शक्ति खुद एक वस्तु बन गई। उत्पादन का संक्रेद्रण, एकाधिकारवाद, बैंकों की भूमिका, वित्तीय पूंजी का उभार आदि के कारण विभिन्न उपक्रमों व उत्पादनों का तथा अलग-अलग देशों का

विकास असमान रूप से हुआ। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध तक इंग्लैण्ड का दावा था कि वह पूरी दुनिया के लिए एकमात्र और सबसे बड़ा कारखाना है। वह पूरी दुनिया को उत्पाद निर्यात करता व उधर से कच्चा माल प्राप्त करता। 19वीं सदी के अंतिम दो-तीन दशकों में यह स्थिति बदलने लगी। कई देशों ने विदेशी वस्तुओं के आयात को रोकने के लिए मोटे-मोटे आयात कर लगा दिए, और स्वयं को एक स्वतंत्र पूंजीवादी देश के रूप में विकसित करने लगे।

20वीं सदी के आते-आते तक कई देशों ने स्वयं को एक शक्तिशाली पूंजीवादी देश के रूप में विकसित कर लिया, जिसके पास पूंजी का आधिक्य था। एकाधिकारवादी पूंजी के मालिकों के कई शक्तिशाली संघ बन चुके थे। पूंजीपतियों के इन संघों के बीच, सबसे पहले अपने देशों के बाज़ार का बंटवारा हुआ। इसके बाद शुरू हुआ, 20वीं सदी में साम्राज्यवाद का वह खेल, जिसपर किसी का कोई नियंत्रण नहीं रहा और इसे जैसे पहले विश्वयुद्ध की विभीषिका के रूप में सामने आना था! देशी बाज़ार, क्योंकि विश्व बाज़ार के साथ बंध चुके थे और पूंजी का निर्यात अनवरत रूप से चल ही रहा था, अत: देखते ही देखते एकाधिकारवादियों के संघों के बीच अंतर्राष्ट्रीय स्तर के समझौते शुरू हो गए। पहले की किसी भी अवस्था से बहुत अधिक पैमाने पर पूंजी और उत्पादन का विश्वव्यापी संकेद्रण शुरू हो गया। साम्राज्यवादियों द्वारा दुनिया भर में अपने उपनिवेश बनाने की होड़ शुरू हो गई। नीचे की तालिका में इसका विवरण प्रस्तुत है-

यूरोप के साम्राज्यवादी ताक़तों का दुनिया के विभिन्न हिस्सों पर 1876 के बाद 1900 ई. में कब्जा किए गए क्षेत्रफल की स्थिति इस प्रकार थी [7]-

क्षेत्र	कुल आबादी का वह % जिसपर कब्जा कर लिया गया		परिवर्तन
	1876 ई. में	**1900 ई. में**	
अफ्रीका	10.8	90.4	+79.6
पोलिनेशिया	56.8	98.9	+42.1
एशिया	51.5	56.6	+5.1
ऑस्ट्रेलिया	100.0	100.0	----
अमेरिका	27.5	27.2	-0.3

पूंजीवादी उत्पादन पद्धति से शक्तिशाली हुए देशों में राजनयिकों की एक पूरी कतार खड़ी थी। वे साम्राज्यवाद को अपने देश के लिए न सिर्फ ज़रूरी बल्कि अनिवार्य बता रहे थे। अभी तक भी शक्तिशाली स्थिति में मौजूद सामंत और इजारेदार पूंजी के मालिक ही मुख्य रूप से राज्य की अर्थनीति को निर्धारित करते थे। राज्य की भूमिका इसमें प्राय: नगण्य थी। कर लेना और साामान्य शांति व व्यवस्था बनाये रखने तक ही उनकी मुख्य भूमिका थी। धनकुबेरों और उनके संघों ने दुनिया के उन सारे भूभागों पर अपना आधिपत्य स्थापित करने की नीति अपनाई जो अब तक 'आज़ाद' थे। और जब इन सारे भूभागों पर कब्जा कर लिया गया तब स्थिति आपसी टकराहट की बनी। इस लिहाज से 1914 तक आते-आते शक्तिशाली देशों की स्थिति प्रकार है[8]-

साम्राज्यवादी देश	**अपना क्षेत्रफल** (लाख वर्ग किमी में)	**उपनिवेश का क्षेत्रफल** (लाख वर्ग किमी में)	**कुल**
ग्रेट ब्रिटेन	3	335	338
रूस	54	174	228
फ्रांस	5	106	111
जर्मनी	5	29	34
सं.रा.अमेरिका	94	3	97
जापान	4	3	7

दरअसल उत्पादन की तेज़ रफ़्तार एकाधिकारवादी पूंजी के आधिक्य ने 20वीं शताब्दी के आते-आते तक अर्थव्यवस्था में एक विडंबना पैदा कर दिया। अब उत्पादन बाज़ार की ज़रूरत के हिसाब से नहीं बल्कि मुनाफ़े और उसके विस्तार को ध्यान में रखकर किया जाने लगा। जब उत्पादन खपत से बहुत अधिक होना शुरू हो गया तो खपत बढ़ाने के लिए नई तैयारियां भी हुईं और किसी भी तरह उत्पादन और मुनाफ़े की रफ़्तार को कम न होने देने की कोशिशें चली। इस रफ़्तार को राजनीतिक सरहदों को नहीं मानना था या उससे भी बढ़कर उसे अपने हित में इस्तेमाल व परिभाषित करना था। इंग्लैण्ड के नेत्तृत्व में यह यूरोप के कई देशों में उभरा। देशों के लिए शक्तिशाली होने

का अभिप्राय इस प्रवृत्ति को और आगे बढ़कर आत्मसात कर लेना होने लगा। अपने इस रूप में साम्राज्यवाद की परिघटना 20वीं सदी की केंद्रीय परिघटना बनी।

इस रूप में साम्राज्यवादी उन्माद ने पहले विश्वयुद्ध को जन्म दिया। इसने मज़दूर आंदोलन के सामने व्यवहार का एक गहरा संकट उत्पन्न कर दिया क्योंकि यह युद्ध राष्ट्रों के बीच था। पूंजी और बाज़ार की कोशिशों ने राष्ट्रवादी उन्माद में मज़दूरों को भी विभाजित करने की पुरज़ोर कोशिश की थी। मज़दूरों को संबोधित करते हुए अगस्त, 1915 में लेनिन ने लिखा–

''यह युद्ध किस चीज़ के लिए लड़ा जा रहा है, जो मानवजाति को अभूतपूर्व विपत्ति और दु:ख ला रहा है? प्रत्येक युद्धरत देश की सरकार तथा बुर्जुआ वर्ग पुस्तकों और अखबारों पर करोड़ रूबल बर्बाद कर रहे हैं, ताकि दोष शत्रु के मत्थे मढ़ा जाए, शत्रु के प्रति जनता की प्रचंड घृणा भड़कायी जाए और अपने को ऐसे 'प्रतिरक्षक' पक्ष के रूप में पेश करने के लिए किसी भी झूठ से बाज न आया जाए, जिसपर अन्यायपूर्ण ढंग से आक्रमण किया गया हो। वास्तव में यह लूटेरी महान शक्तियों के दो गुटों के बीच युद्ध है जो उपनिवेशों के बंटवारे के लिए, अन्य राष्ट्रों को अपने अधीन बनाने के लिए तथा विश्व मंडी के लाभों और विशेषाधिकारों के लिए लड़ा जा रहा है। यह सबसे प्रतिक्रियावादी युद्ध है, पूंजीवादी दासता को बनाए रखने और मजबूत बनाए रखने के लिए आधुनिक दास-स्वामियों का युद्ध है।''[9]

पूंजीवादी साम्राज्यवाद के समानांतर इसके मुखर विरोध में मज़दूर-वर्ग के समाजवादी आंदोलनों का उभार काफी पहले से चला आ रहा था। प्रथम विश्वयुद्ध के आते-आते तक प्रतिरोध की यह ताक़त इतनी मज़बूत हो गई थी कि 1914 के पहले तक समाजवादी जनवादी पार्टियों के सिर्फ जर्मनी में 86 दैनिक अख़बार निकलते थे।[10] लेकिन युद्ध के दौर में सामाजिक अंधराष्ट्रवाद की चुनौती में यह जनवादी क़िला जैसे भहराकर गिर पड़ा। इस साम्राज्यवादी युद्ध से आये व्यवहार के संकट में जनवादी ताक़ते तीन भागों या निष्कर्षों में बंट गईं। पहला वे लोग जो इस युद्धोन्मादी राष्ट्रवाद की गोद में जा बैठे। तक़रीबन सभी समाजवादी जनवादी पार्टियों के शीर्ष का बहुमत की यही स्थिति थी। रूस में प्लेखानोव, जासुलिच और पोत्रेसोव जैसे लोग इसके मुखर प्रवक्ता बने। दूसरी क़तार में 'मध्यमार्गी' थे जो काउत्स्की, लौंग्युट, रैमसे मैकडोनाल्ड, तुराती और मार्तोव जैसी

हस्तियों के नेतृत्व में सक्रिय थे। ये ऊपर से तो युद्ध के विरोधी थे लेकिन सामाजिक जनवादी ताक़तों के बीच युद्धोन्मादी राष्ट्रवादियों से अलग नहीं होना चाहते थे। वे 'शांति' के समर्थक थे। तीसरी धारणा के साथ लेनिन, जर्मनी में कम्युनिस्ट पार्टियों के संस्थापकों में एक रोज़ा लक्ज़मबर्ग और रादेक इत्यादि थे। इन्होंने साम्राज्यवादी युद्ध को पूंजीपतियों की महत्वकांक्षा की टकराहट कहा– मुख्य दुश्मन देश के भीतर है। इन्होंने जनवादी क्रांतिकारी संगठनों के लिए इस बात पर बल दिया कि उन्हें इस साम्राज्यवादी युद्ध को क्रांतिकारी गृहयुद्ध में बदल देने की रणनीति बनानी चाहिए। सितंबर 1915 में बर्न (स्वीट्जरलैंड की राजधानी) के समीप समाजवादियों का एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया गया। इसमें कुल 11 देशों (फ्रांस, जर्मनी, रूस, इटली, पोलैंड, रूमानिया, बुल्गारिया, स्वीट्जरलैंड, नीदरलैंड, नार्वे और स्वीडन) के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। ये वो देश थे जिनमें से कईयों का उस समय आपस में युद्ध चल रहा था। हांलाकि इसमें सिर्फ युद्ध की निंदा की गई और लेनिन द्वारा लाया हुआ प्रस्ताव हार गया। इसमें लेनिन का प्रस्ताव था कि युद्धरत देशों के भीतर समाजवादियों द्वारा गृहयुद्ध छेड़ दिया जाए। लेनिन ने साम्राज्यवाद से संबंधित अपने सिद्धांत को अपनी पुस्तक 'साम्राज्यवाद: पूंजीवाद की उच्चतम अवस्था' में सामने लाया। तत्कालीन साम्राज्यवाद पर लेनिन ने अपने सिद्धांत में युद्धकालीन दौर में उपनिवेशों में बढ़ती क्रांति की संभावनाओं को विशेष रूप से उल्लेख किया है।

20वीं सदी की परिघटनाएं अपेक्षाकृत अधिक नाटकीय और गतिशील थीं। किसी भी अन्य युग के मुकाबले यह बात यहां आकर और भी उल्लेखनीय हो गयी कि इतिहास में घटनाओं को महज़ घटना–कारक के ध्रुव में बांधकर नहीं देखा जा सकता। औद्योगिक क्रांति के बाद उपजी उत्पादन व्यवस्था और इसके नियंत्रकों का राज–सत्ता पर प्रभाव व हस्तक्षेप ने साम्राज्यवाद की स्थिति को उत्पन्न किया। दूसरी ओर, साम्राज्यवादी उन्माद ने भी उत्पादन–प्रणाली और राज्यसत्ता के चरित्र को और भी मुखर होकर प्रभावित किया।

साम्राज्यवाद जिस केंद्रित और एकाधिकारवादी पूंजी के चरम उभार से जन्मा था, उसने मज़दूरों को अब तक के किसी भी समय से अधिक संकेंद्रित भी कर दिया था। पिछली कुछ शताब्दियों में हुए युरोप के विभिन्न सामाजिक–राजनीतिक क्रांतियों का इतिहास–बोध और नई परिस्थितियों में आम लोगों के पक्ष में राजनीति का शक्ति–संतुलन में आए बदलाव ने रूस में आकर

बोल्शेविक क्रांति को अंजाम दे दिया। इस परिघटना ने वैचारिक और राजनैतिक स्तर पर साम्राज्यवाद को सबसे बड़ी चुनौती दी। बोल्शेविकों ने सबसे पहले रूस को साम्राज्यवादी विश्वयुद्ध से बाहर कर लिया। जर्मनी से इसके लिए उन्होंने 'क्रांतिकारी अपमान' भी झेला।

दूसरी ओर युद्धोपरांत बड़े विनाश और सामाजिक-राजनीतिक क्रांतियों ने आम जनता के बीच उदारवादी लोकतंत्र की लोकप्रियता ज़बरदस्त ढंग से गिरा दिया। यह साफ़ हो चुका था कि साम्राज्यवादियों के मुनाफ़े के लिए अब युद्ध को जनता स्वीकार्य नहीं करेगी। समाजवादी दलों और उनके उद्देश्यों के लगातार बढ़ते जाने का भी 'ख़तरा' सामने आने लगा था। इससे निजात पाने के लिए जर्मनी के विशेष संदर्भ में हिटलर के आगमन को उकासाया गया। अपनी आंतरिक नीतियों में हिटलर की शासन-प्रणाली क्रूर दमन और घृणा की प्रचारक थी। उसकी विदेश-नीति उग्र राष्ट्रवाद से परिचालित साम्राज्यवाद की थी।

हिटलर के नेतृत्त्व में जब जर्मनी अपने साम्राज्यवादी मंसूबे लिए दुस्साहसपूर्ण अन्य ताक़तों के ख़िलाफ़ युद्ध को ललकारा था तो इसने दूसरे विश्वयुद्ध की भूमिका सामने रख दी थी। सोवियत संघ और जर्मनी को आमने-सामने आना ही था। दोनों की अपनी सेनाएं उनके साथ थी, लेकिन दुनिया भर में इसे लेकर ख़ास तरह की चाहत उत्पन्न हो रही थी। इस बीच स्वाभाविक रूप में सोवियत संघ युरोप के विभिन्न देशों के सरकारों का पहला शत्रु था, लेकिन उन देशों की जनता का शायद यह मिज़ाज नहीं था। ''जनवरी, 1939 में अमेरिकावासियों से पूछा गया था कि यदि जर्मनी और सोवियत संघ के बीच युद्ध छिड़ जाए तो किसे जीतता हुआ देखना चाहेंगे, जर्मनी की जीत की कामना करने वाले सत्रह प्रतिशत के विरुद्ध तिरासी प्रतिशत लोग सोवियत संघ की जीत चाहते थे।''[11] एक धूर पूंजीवाद-विरोधी देश जिसका प्रतिनिधित्त्व रूस करता था के प्रति साम्यवाद-विरोधी अमेरिका के भीतर यह तथ्य चौंकाने वाला ज़रूर है, लेकिन यह उस दौर की 'विसंगति' थी। दूसरी ओर इस दौर में कम-से-कम 1933-1941 के बीच युरोप की महाशक्तियों ने आवश्यकता के अनुसार जर्मनी को 'तुष्ट' भी किया। रूस ने इन देशों से फासीवाद के ख़िलाफ़ मिलकर एक समझौते की पहल की थी लेकिन तब उनके लिए संभवतः समाजवाद ही उससे बड़ा ख़तरा लगा। 1933 से 1939 के बीच सोवियत संघ ने 'फासीवाद-विरोधी शिविर' निर्माण की कोशिश की, लेकिन अन्य शक्तियां तब जर्मनी के फासीवादी साम्राज्यवाद के लिए 'तुष्टीकरण' में मशगूल थे।

सोवियतों ने जर्मनी से समझौते और छोटे-मोटे युद्धों समेत अनेक पहलकदमियों के आधार पर पहले स्वयं को सुरक्षित किया। इसने साम्राज्यवाद का अभिप्राय बन चुके जर्मनी की गति का 'नथ' दिया। जैसाकि हिटलर को भ्रम था कि एक 'तटस्थ राष्ट्र' के रूप में सोवियत संघ महज़ एक मामूली अड़चन बनेगा। लेकिन 1940 के ख़तम होने न होने तक '' हिटलर ने देखा कि सोवियतों की अकेली तटस्थ शक्ति ने उसे सारे यूरोप की संयुक्त सैनिक शक्ति से अधिक धक्का पहुंचाया था। पोलैंड, नार्वे, डेनमार्क, हॉलैंड, बेल्जियम, फ्रांस, यूनान, युगोस्लाविया और ब्रिटिश की मिली-जुली शक्ति से भी ज़्यादा। इसलिए वह मुड़ा और उसने मानव इतिहास के सबसे शक्तिशाली आक्रमण के साथ सोवियत संघ पर वार किया।''[12] और स्वयं हिटलर के अनुसार 'विश्व-इतिहास का सबसे बड़ा सैन्य अभियान' था।

फासीवादी साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ सोवियत संघ का यह युद्ध इतिहास के लिए बेहद निर्णायक होने जा रहा था। सोवियत ने अपनी कूटनीतिक सफलताओं के साथ अब तक दुनिया की अन्य शक्तियों से 'हिटलर के ख़िलाफ़ समर्थन' हासिल कर लिया था। 1939 तक अधिकांश शक्तियों के लिए बाहर-भीतर के लिए साम्यवाद सबसे बड़ा शत्रु था, लेकिन इन बाइस महिनों में हिटलर के ख़तरनाक इरादे सबके सामने खुल चुके थे। उसके ख़िलाफ़ एक 'विश्व-मोर्चा' निर्मित हो चुका था। साम्यवाद-विरोधी चर्चिल को ज़ोरदार शब्दों में रूस के समर्थन की घोषणा करनी पड़ी- ''नाजीवाद के ख़िलाफ़ लड़ने वाले हर आदमी को हमारी मदद मिलेगी। रूस पर ख़तरा हम पर ख़तरा है।''[13]

वो जर्मनी जिसके शुरूआती साम्राज्यवादी अभियानों को अलग-अलग तरीके से समर्थन (अथवा मौन समर्थन) मिला था, 1940 के आते-आते तक अपने 'फ़ासीवादी' आग्रहों से सोवियत संघ और युरोप की अन्य शक्तिशाली देशों के लिए स्वयं को एक 'साझा शत्रु'[14] बना डाला। अंतत: सावियत सेना ने जर्मनी को रौंदते हुए बर्लिन जा पहुंची। साम्राज्यवादियों के ख़िलाफ़ सोवियत संघ को यह सफलता उस दौर में मिली थी जब 24 जून, 1941 को न्यूयार्क टाइम्स में सेनेटर हैरी ट्रूमैन ने यह वक्तव्य दिया कि 'अगर जर्मन जीत रहे हों तो हमें रूसियों की मदद करनी चाहिए और अगर रूसी जीत रहे हों तो हमें जर्मनों की मदद करनी चाहिए और इस तरह उन्हें आपस में ज्यादा से ज्यादा मर-कट जाने देना चाहिए।'[15] साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ सोवियत संघ का यह युद्ध अब पूरी

जनता का युद्ध बन चुका था। उन्होंने घोषणा कि- 'मोर्चा सिर्फ वही नहीं है जहां तोपे गरजती हैं। यह हर कारखाने में है। हर खेत में है।'[16] उस पूरे दौर को एक पत्रकार की हैसियत से देखने वाली अमेरिकी पत्रकार अन्ना लुई स्ट्रांग के लिए सोवियत सेनाओं का कौशल, जज़्बा और इच्छाओं की महानता ने मिलकर जो लड़ाई लड़ी वह 'किसी महान संगीत रचना के समकक्ष थी।'[17] युद्ध में जर्मन पीछे धकेल दिए गए। 1943 में वे यूक्रेन से बाहर थे। 1944 की गर्मियां आते-आते के किसी भी सोवियत सरहद के भीतर नहीं बचे। अप्रैल 1945 तक लाल सेना बर्लिन पहुंच चुकी थी।

साम्राज्यवाद को एक अन्य स्तर पर चुनौती राष्ट्रवाद की विचारधारा से भी मिली। राष्ट्रवादी उन्माद एक तरफ तो साम्राज्यवादी शक्तियों की जनता में श्रेष्ठता-बोध को पैदा कर अपने उपनिवेश स्थापित-विस्तृत करने की अनुमति ले लेता है। वहीं दूसरी ओर इसी राष्ट्रवादी विचारधारा के भीतर उपनिवेशों में साम्राज्यवादी संघर्ष के आधार बन जाने की गुंजाईश भी होती है। राष्ट्रवाद संबंधी अपने विचारों को व्यक्त करते हुए एरिक हॉब्सबाम ने उसके 'एतिहासिक आग्रह' को 'सत्तानशीं समूहों' के प्रतिष्ठानों का राजनीतिक आग्रह कहा लेकिन उसके विचारधारा में एक संभावना भी होती है जहां वह कहीं अधिक उग्र, लोकतांत्रिक और क्रांतिकारी थी। इस वैचारिक आयाम का मुख्य आधार था कि इतिहास और संस्कृति की तमाम व्याख्याओं के बावजूद आयरिश, आयरिश ही होगा अंग्रेज़ नहीं, चेक, चेक ही होगा, जर्मन नहीं, फिनिश रूसी नहीं होगा और कोई भी किसी दूसरे के द्वारा शोषित और शासित नहीं होगा।[18] इसके व्यवहारिक उदाहरण भी सामने आने लगे; विशेषकर प्रथम विश्वयुद्ध के बाद। पुरानी साम्राज्यी प्रभुता पर अनिश्चितताओं के बादल आने लगे थे; ख़ासकर ब्रिटेन के।

साम्राज्यवाद वित्तीय पूंजी पर आधारित उत्पादन-प्रणाली के बाज़ार को और भी व्यापकतर बना देने के उद्देश्य से एक परिघटना के रूप में सामने आया। नये आविष्कारों के साथ-साथ वित्तीय पूंजी, तैयार माल और बाइबिल लेकर उनके दूत उन सभी जगहां पर पहुंचने लगे जहां मानव निवास की कोई भी संभावना थी। 1600 ई. में ईस्ट इंडिया कंपनी के दूत भारत आये। ये दूत नए देशों के राजाओं के दरबार में आते और उनसे अपने व्यवसाय शुरू करने की अनुमति मांगते। पहले यहां के बाज़ार और उत्पादन प्रणाली और फिर देखते ही देखते यहां की राजनीति में अपनी दख़ल शुरू कर देते। 1664 में बक्सर के युद्ध में जीत से इनका दायरा बढ़ा और 1757 में प्लासी के युद्ध ने इन्हें भारत में अत्यंत ही प्रभावशाली और एक प्रकार से यहां का शासक बना दिया। अगले सौ

सालों में कई महत्त्वपूर्ण विरोधों और आंदोलनों के बावजूद ब्रिटेन के औपनिवेशिक शासन ने यहां की राजनीतिक, सामजिक और आर्थिक ढांचों में ज़बरदस्त घुसपैठ बना ली। 1857 में भारतीय जनता का आक्रोश कंपनी राज के ख़िलाफ़ विराट आंदोलन के रूप में सामने आया।

औद्योगिक क्रांति और इसके उपरांत उभरी अर्थव्यवस्था में सबसे तेज़ गति से ब्रिटेन आगे बढ़ा। 20वीं सदी तक ब्रिटेन की अपनी आबादी 3 लाख वर्ग किमी से भी कम थी; लेकिन उसका साम्राज्य 338 लाख वर्ग किमी तक विस्तृत था। भारत न सिर्फ बिटिश राज के अंतर्गत था, यह उसके साम्राज्यी प्रभुता की आत्मा भी था। प्रथम विश्वयुद्ध और इसी क्रम में हुए बोल्शेविक क्रांति ने दुनिया भर में राजनीति के शक्ति-संतुलन को बदल दिया था। पहले की स्थितियों से महान आर्थिक मंदी के जुड़ते-जुड़ते तक उपनिवेशों में बग़ावत की लहर दौड़ पड़ी थी। भारत में भी 20वीं सदी अपने दूसरे दशक में आते-आते क्रमशः सशक्त होती जा रही साम्राज्यवादी अंतर्विरोधों को अधिक मुखरता से चिह्नित करने लगी थी। अपनी दिशा और बोध को लेकर अस्पष्ट लेकिन एक लोकप्रिय आंदोलन में भारत की आम जनता का समर्थन कांग्रेस और अन्य नेतृत्त्वकारी वर्गों के साथ होने लगा।

साम्राज्यी उपनिवेशों में 20वीं सदी के दूसरे दशक तक आते-आते बग़ावत और जनांदोलनों का जोर बढ़ना शुरू हो गया। ईरान, अफगानिस्तान, इराक में साम्राज्यवाद के विरोध में उग्र आंदोलन शुरू हुए। एक लंबे संघर्ष, साम्यवादी लक्ष्य और क्रांतिकारी रणनीति पर चलते हुए चीन 1925 में एक स्वतंत्र देश बन गया। इंडोनेशिया में डच साम्राज्यवादियों के ख़िलाफ़ आंदोलन शुरू हो गए। साम्राज्यवाद अपने ढलान पर था।

2.2 भारत की राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलनः वर्ग चरित्र

हिन्दी साहित्य के कथेतर गद्य लेखन में साम्राज्यवाद पर की गई प्रतिक्रियाओं के विश्लेषण से पूर्व आवश्यक है कि उस दौर के भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के तथाकथित मुख्यधारा के नेतृत्वकारी वर्ग की वर्गीय स्थिति को स्पष्ट कर लिया जाए। उस दौर में हिन्दी लेखन में जो

साम्राज्यवाद-विरोधी स्वर मौजूद हैं वह स्वाभाविक तौर पर राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन से अपनी अंतर्वस्तु और वैचारिक खुराक लेते हैं।

के.एन. पणिक्कर ने भारत में मध्यवर्ग और राष्ट्रवादी बुद्धिजीवी वर्ग के संदर्भ में लिखा है- ''भारतीय शरीर में अंग्रेज़ी दिमाग पैदा करने की मैकाले की महत्वकांक्षा की उपज मध्यवर्ग ने, पश्चिमी शिक्षा के जरिए उदारतावाद में अंतर्निहित राजनीतिक परिप्रेक्ष्य को आत्मसात कर लिया था। उनके अनुसार ब्रिटेन उदारता की सर्वोत्तम परंपरा का प्रतिनिधित्व करता है। ख़ास बात यह थी कि, उनकी दृष्टि में भारत जैसे देशों में अंग्रेज़ी राज उदारतावाद के ज्ञान का प्रसार करने के लिए ईश्वरीय वरदान था।''[19] इन्हीं उदारतावादी सिद्धांतों के प्रचार-प्रसार करने वाले राजा राममोहन राय को 'आधुनिक भारत का जनक' कहा जाता है। न्यायपूर्ण प्रशासन, राजस्व वसूली और प्रेस की स्वतंत्रता- उदारतावाद के ये वो सिद्धांत थे जिससे विचलित होने पर बुद्धिजीवी वर्ग के भीतर ब्रिटिश राज के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण का विकास हुआ।[20] धीरे-धीरे उदारतावाद पर आधारित उनकी मान्यताएं टूटीं और वे समझने लगे कि अंग्रेज़ी राज भारत की राजनैतिक और आर्थिक विकास में बाधा है। विकास की इन्हीं प्रक्रियाओं से होते हुए वैसे वर्ग जो 1857 के विद्रोह के कटू आलोचक थे और विद्रोह के दौरान ब्रिटिश राज की जीत की दुआ कर रहे थे, उपनिवेशवाद और भारतीय समाज के अंतर्विरोधों (मुख्यत: आर्थिक) को मुखर करने लगे। दूसरी ओर, 1857 के विद्रोह में जो पुराना सामंती वर्ग अंग्रेज़ी शासन के ख़िलाफ़ संघर्ष में थे, उन्होंने बाद में उनका सहयोग करना स्वीकार किया।

इस प्रकार, औपनिवेशिक साम्राज्य ने यहां की पूर्ववर्ती और उभरती शक्तियों के साथ दोहरे संबंध स्थापित किए। ये शक्तियां मुख्य रूप से यहां गहरे रूप में अपनी जड़ जमा चुका सामंतवाद (भारत की सामाजिक संरचना की आधारभूत इकाई के रूप में जातिवाद, भूमिपति-ज़मींदार वर्ग आदि), शिक्षित उच्च मध्य-वर्ग और उभरता नया पूंजीपति-वर्ग के रूप में थीं। स्वाधीनता आंदोलन को नेतृत्व देने वाली पार्टी मुख्यत: कांग्रेस रही है; और उसमें सामान्यत: इसी वर्ग का वर्चस्व रहा।

1885 में कांग्रेस की स्थापना हुई। रजनी पाम दत्त ने लिखा है, कांग्रेस की स्थापना इस उद्देश्य के साथ हुई थी कि अंग्रेज़ी राज्य को जनता की बढ़ती हुई बेचैनी और अंग्रेज़-विरोधी भावना से बचाने के लिए एक भारतीय-सी दिखने वाली संस्था का इस्तेमाल किया जाए।[21] कांग्रेस

के दूसरे अधिवेशन में दादा भाई नौरोजी ने अध्यक्षीय-भाषण में औपनिवेशिक सरकार से अपील करते हुए कहा- ''इस शक्ति को अपनी तरफ़ खींचने के बजाय वे इसे अपना दुश्मन न बनाएं।''[22] यह वर्ग अंग्रेज़ी राज से शांतिपूर्ण सहअस्तित्व का पक्षधर था। अपने विकास के क्रम में अगर कांग्रेस को इन सीमाओं को तोड़ना पड़ा तो इसलिए नहीं कि इस संस्था का अथवा इसका नेतृत्व करने वाले वर्ग का औपनिवेशिक शासन-व्यवस्था से कोई गहरा अंतर्विरोध था; बल्कि साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था और जनता के अंतर्विरोध इतने तीखे होते जा रहे थे कि कोई भी संस्था इसकी अवमानना कर जनता के बीच लोकप्रिय नहीं हो सकती थी। भारतीय राष्ट्रवादी बुर्जुआ का यह दोरंगापन ''भारत के पूंजीपति वर्ग की दोहरी या ढुलमुल भूमिका का प्रतिबिम्ब है, जिसकी ब्रिटिश पूंजीपति वर्ग से टक्कर होती है और इसलिए जो भारतीय जनता का नेतृत्व करना चाहता है, लेकिन इसके साथ-साथ जिसे सदा यह डर भी बना रहता है कि जन-आंदोलन की रफ़्तार कही 'इतनी तेज़' न हो जाए कि साम्राज्यवादियों के साथ-साथ उसके विशेषाधिकारों का भी सफ़ाया हो जाए।''[23] अर्थात उन्हें भारतीय जनता के उपनिवेशवाद से अंतर्विरोधों को अभिव्यक्त करना है लेकिन साथ ही यह भी ध्यान रखना है कि कहीं वे आंदोलन की शक्ल में वर्ग संघर्ष में न बदल जाएं और उनके विशेषाधिकारों को चुनौती मिलने लगे।

भारतीय जनता के साथ अपने तमाम छोटे-बड़े अंतर्विरोध के बावजूद यह वर्ग अपने दौर का सबसे प्रगतिशील संगठित शक्ति था। यह समाज-सुधार को लेकर सक्रिय था, जो हांलाकि सीमित थे पर अपने समय के हिसाब से महत्वपूर्ण। यह जनता में इन सुधारों को लेकर जागृति उत्पन्न करने की कोशिश करता, उनमें शिक्षा और नये विचारों का प्रचार करता था। यह उद्योग-धंधों में भारत की और उभरते भारतीय पूंजीपतियों के विकास की मांग करता था।[24] उन्हें लंबे समय तक यह लगता रहा कि उनकी इन मांगों को ब्रिटिश सरकार मान लेगी; लेकिन उनका यह भ्रम क्रमशः टूटता गया या कम-से-कम कमज़ोर होता गया। परिणामस्वरूप, इस वर्ग के भीतर से औपनिवेशिक राजव्यवस्था की आलोचनाएं भी होने लगी थीं। लेकिन इस आलोचना और इसके उद्देश्यों की अपनी कुछ वर्गीय सीमायें और मजबूरियां थीं।

प्रारंभ में भारत के बुर्जुआ राष्ट्रवादियों की सुधार की मांगों के प्रति औपनिवेशिक शासन ने उत्साह दिखाया। लेकिन, जैसे ही उन्हें लगने लगा कि सुधार की मांग कर रही यह नई ताक़त जो

अपने पीछे एक जनसमर्थन भी रखती है कभी साम्राज्यवादी शासन और शोषण से भी टकराने लगेगी, यह संबंध असहज होने लगा। 1890 में सरकार ने एक सर्कुलर जारी कर कहा कि कांग्रेस के किसी अधिवेशन में कोई भी सरकारी कर्मचारी दर्शक के रूप में भी भाग नहीं लेगा।[25] 20वीं सदी तक आते-आते यह टकराहट दिखने लगी। कांग्रेस के भीतर नरमदली और सुधारवादी नेताओं के लिए ये नई स्थितियां चौंकाने वाली थी। उन्हें ब्रिटिश सरकार से इस तरह के असहयोग की उम्मीद नहीं थी। ऐसे में एक नई धारा का उदय होना स्वाभाविक था जो पुराने प्रतिनिधित्व की नीतियों के आलोचक थे और साम्राज्यवादी व्यवस्था के अपेक्षाकृत मुखर विरोधी हो गए। इस नई धारा में बाल गंगाधर तिलक तिलक, विपिनचंद्र पाल, अरविंद घोष, लाला लाजपत राय आदि लोकप्रिय हुए। पुराने नरमपंथी नेताओं के समानांतर यह धारा गरमदल कहलायी। स्वयं को 'राष्ट्रवादी', 'अखंड राष्ट्रवादी' और 'कट्टर राष्ट्रवादी' कहने वाली यह धारा साम्राज्यवाद-विरोध का मुखर प्रतिरोध 'भारतीयता', 'आर्य-सभ्यता' 'हिन्दुत्व' आदि को सुरक्षित रखकर करना चाहती थी। इन आधारों पर ही इसने अपने पूर्ववर्ती नेतृत्व की आलोचना की। 'इस प्रकार गरमदली नेताओं ने पुराने नेताओं की उन चीज़ों का ही विरोध करना शुरू कर दिया जो दरअसल उनकी सबसे प्रगतिशील बातें थीं।[26] भारतीयता, जो दरअसल उनके लिए हिन्दुत्व तक सीमित थी की रक्षा से इन्होंने साम्राज्यवाद-विरोध को जोड़ा। पुराने नरमपंथी और सुधारवादी नेता आधुनिक सुधारों और नए विचारों के प्रति एक हद तक उदार थे। लेकिन गरमपंथी नेताओं और कट्टरवादी राष्ट्रवादियों ने इसे 'भारतीयता' के ऊपर 'अंग्रेज़ी संस्कृति' का हमला कह कर अपने ब्रिटिश उपनिवेशवाद-विरोधी आंदोलन को इससे जोड़ दिया। दरअसल उस दौर में जो राष्ट्रवादी बुर्जुआ नेतृत्व पूंजीवाद और उपनिवेशवाद के विरोध में संघर्ष छेड़ने का पक्षधर था वह भी पूंजीवाद की अच्छाईयों और बुराईयों को नहीं समझ पाया।

साम्राज्यवाद-सामंतवाद के प्रति ढुलमुल रवैया और इसके साथ तीखे होते जनहितों के अंतर्विरोध की द्वंद्वात्मकता में ही कांग्रेस का पूरा विकास हुआ। 20वीं सदी के दूसरे दशक तक आते-आते भारतीय जनता का इस औपनिवेशिक व्यवस्था के साथ अंतर्विरोध अत्यधिक तीखे हो गए और अनेक राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय घटनाक्रमों के चलते आंदोलनों का ज्वार भी फूटने लगा।

अपनी गति और गुणात्मकता में 20वीं सदी में हुए बदलाव काफी तेज़ रहे, विशेषकर इसके पूर्वार्द्ध के दशकों में। पहले के दो शताब्दियों में तेज़ी से उभरे पूंजीवादी अर्थव्यवस्था इस सदी में आकर अधिक जटिल, अधिक वर्चस्वशाली, अधिक उग्र और विकृत होती चली गई। इसने वैश्विक स्तर पर अपने विस्तार की सफलताएं, उसके वीभत्स परिणाम, अपनी कमज़ोरियों और विकृतियों में उभरे अतिवादों तथा अपने विकल्प और ज़बरदस्त प्रतिद्वंद्विता में उभरी एक दूसरी अर्थव्यवस्था को इन दशकों में देखा। दरअसल, यह पूरी सदी 'अतिवादों का युग'[27] बनी रही। एक ऐतिहासिक तनाव से गुज़रती इस सदी के पूर्वार्ध ने एक ओर साम्राज्यवादी होड़, विश्वयुद्ध, फ़ासीवाद, विराट आर्थिक गिरावट को देखा तो दूसरी ओर रूस में हुई बोल्शेविक क्रांति तथा दुनिया भर में साम्राज्यवाद-पूंजीवाद विरोधी जनउभार को भी देखा। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद विशेषकर रूस में हुई क्रांति के बाद वैश्विक राजनीति में जनता की हैसियत बढ़ी। इस बढ़ी हुई हैसियत के साथ अनेक देशों में औपनिवेशिक राजव्यवस्था के विरोध की दिशा आर-पार की लड़ाई की तरफ़ बढ़ने लगी।

वैश्विक घटनाक्रमों से संदर्भित भारत में चल रहे स्वाधीनता आंदोलन में 1920 के बाद एक गुणात्मक और गत्यात्मक उभार देखा जा सकता है। कांग्रेस का नेतृत्व गांधी के हाथ में आ गया था। गांधी के अपने व्यक्तित्व और समय की ऐतिहासिक मांग ने जनता के एक बड़े हिस्से को आंदोलन के क़रीब लाया। स्वाधीनता के प्रति तीव्र आकांक्षी इस जनसमुदाय की भावनाओं को जो यद्यपि ठोस भौतिक आधारों पर निर्मित हुए थे को अब और रोकना अथवा टालमटोल करना इस आंदोलन के नेतृत्वकारी वर्ग के हाथ में नहीं रह गया था। परिणामस्वरूप, 1929 के लाहौर अधिवेशन में कांग्रेस को पूर्ण स्वाधीनता की मांग को स्वीकार करना पड़ा। लेकिन इस नेतृत्व की वर्गीय पृष्ठभूमि साम्राज्यवाद, जो कि पूंजीवाद की एक ख़ास अवस्था से उपजा था, से निर्णायक लड़ाई के पक्ष में नहीं थी। सुधारवाद की मांग और इसके लिए शांतिप्रिय ढंग से लड़ाई से शुरू होकर इनके लक्ष्य अंततः सत्ता-परिवर्तन तक ही सीमित रहे। नेतृत्व और जनउभार के बीच एक तनाव निरंतर बना रहा। इस संग्राम में उतरे किसानों-मज़दूरों, आम संघर्षशील वर्ग आदि इस लड़ाई को अपने लोकतांत्रिक और बुनियादी सामाजिक व राजनीतिक अधिकार की लड़ाई में परिवर्तित करने की ओर बढ़ रहे थे; जबकि उनके नेतृत्वकारी बुर्जुआ वर्ग का सदा यह प्रयास रहा कि इस संघर्ष को किसी भी हालत में वर्ग-संघर्ष में न बदलने दिया जाए।

20वीं सदी की शुरूआती दशक तक भारतीय राजनेताओं का साम्राज्यवादी शासन के प्रति रूख 'समन्वय' और 'सहयोग' का था। औपनिवेशिक शासन व्यवस्था और भारत की जनता के बीच के अंतर्विरोध अभी तक भारतीय राजनीति के मुख्य धारा का सवाल नहीं बन पाया था। अंग्रेजी शासन-व्यवस्था के विरोध में कई स्तरों पर हुए थे लेकिन ये प्राय: कुछ सुधारों-बदलावों की मांग तक सीमित थे। इनका चरित्र प्राय: क्षेत्रीय स्तर का था और इन्हें क्रुरतापूर्वक दबा दिया गया था। अखिल भारतीय स्तर पर साम्राज्यवाद के विरोध में हलचल उठनी अभी बाकी थी। और असल में, एक स्थाई और क्षेत्रीय राजनैतिक ईकाई के रूम में एक स्वतंत्र संप्रभु राष्ट्र के रूप में भारत की अपनी पहचान भी स्पष्ट नहीं थी, कम-से-कम गांवों के स्तर पर, आम जनता के लिए। यद्यपि साम्राज्यवादी हमलों ने एक राजनीतिक ईकाई के रूप में इसकी सीमाओं को काफी हद तक निर्धारित कर दिया था। भारत दुनिया के सबसे बड़े साम्राज्यवादी देश का सबसे महत्त्वपूर्ण उपनिवेश था, जिसकी पारंपरिक उत्पादन व्यवस्था अपने तमाम पिछड़ेपन के बावजूद महत्त्वपूर्ण थी। शासकों के इरादा न होने के बावजूद अन्य देशों से जोड़ने वाले बंदरगाहों के समीप उद्योगों का विकास होता रहा। संरचना की दृष्टि से भारत की अर्थ-व्यवस्था काफी जटिल थी और इसके उत्पादन-व्यवस्था का लंबा इतिहास रहा था। इसके पास प्रभावशाली तकनीक, मानवीय संसाधन और क्षमताएं थीं।

प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान भारत में अहमदाबाद और चीन में शंघाई लंकाशायर से आयात किए जा रहे कपड़ों की जगह स्वयं निर्माण करना शुरू कर चुके थे। ब्रिटेन की कमर टूट चुकी थी। अब इन स्थानीय पूंजीपतियों के बीच एक ऐसे राज्य की चाह उत्पन्न होने लगी जो विदेशियों के मुकाबले उनके हितों की रक्षा कर सके। युद्ध ने सामान्य लोगों पर बोझ सहसा बढ़ा दिया था। 10 करोड़ पौंड बाहर भेजा जा चुका था। हर स्तर पर असंतोष बढ़ चुका था।

इस बीच वह समुदाय तो सक्रिय था ही जो पश्चिम को 'विधर्मी' और उसकी 'आधुनिकता' को अव्यवस्था मानकर उनसे घृणा करते थे[28], और जो साम्राज्यवाद से 'अपने देश' को उबारने में ही देश का कल्याण समझते थे; एक साझे मोर्चे के निर्माण की संभावना पहले के किसी भी समय से अधिक बढ़ गई थी। 1918-1920 पूरे देश में आंदोलनों की अभिव्यक्ति के साल रहे। बंबई में कपड़ा उद्योग में लाख से ज़्यादा मज़दूर हड़ताल पर चले गए। मद्रास, बंबई और कलकत्ता

में हिंसक झड़पें हुईं। जलियांवाला बाग हत्याकांड के बाद प्रदर्शन और भी उग्र हो उठे। सरकारी इमारतों पर हमले हुए, तार की लाइनें काट दी गईं। जनता में अभूतपूर्व एकजुटता दिखाई दी।

आंदोलनों के इन विस्फोटों ने राष्ट्रवादी नेताओं को यह संदेश दे दिया था कि अब वे औपनिवेशिक शासन तंत्र को और बर्दाश्त नहीं करेंगे। 1920 तक पूरे देश में साम्राज्यवादी शासन-व्यवस्था से आम जनता का मोहभंग काफी मुखर होकर सामने आ चुका था। अगर उस समय भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को देश की स्वाधीनता की आकांक्षा को अभिव्यक्त करने वाली राजनीतिक ईकाई मान लिया जाए तो यह स्पष्ट हो चुका था कि यह ईकाई अब तक इस मामले में अत्यंत ढुलमुल थी। यह अब भी औपनिवशिक शासन-व्यवस्था में सुधारवादी फेरबदल और उसकी 'सुरक्षित आलोचना' तक ही सीमित थी।

1920 में कांग्रेस में महात्मा गांधी नाम के एक शख़्स का कद अचानक काफी बढ़ गया। भारतीय राजनीति में गांधी का आगमन एक महत्वपूर्ण घटना थी। उसने इससे पहले दक्षिण अफ्रीका में नस्लवादी भेदभाव के ख़िलाफ़ लड़ रहे भारतीयों का नेतृत्त्व किया था और साथ ही बिहार के चम्पारण में किसानों के आंदोलनों को स्वर दिया था। उन्होंने साम्राज्यवाद विरोधी आलोचनाओं के लिए कांग्रेस को खड़ा किया। साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ निम्नमध्य वर्ग की आकांक्षाओं और संघर्षों को कांग्रेस की कार्यनीतियों में स्थान मिलने की गुंजाइश बढ़ कर किसी भी समय से अधिक हो चुकी थी। गांधी इसके राजनीतिक पुरोधा बने। वे जानते थे कि ''किसानों की तरह के कपड़े पहनने और हिन्दू प्रतीकों पर ज़ोर देने से अंग्रेज़ी बोलने वाले पेशेवर मध्य-वर्ग तथा गांव की सारी जनता के बीच का भाषागत और सांस्कृतिक अंतर कम किया जा सकता है।''[29] गांधी ने जनआकांक्षाओं की उन मांगों को समझा जो ब्रिटिश सरकार के ख़िलाफ़ उभर रहे थे, तथा उपनिवेशवाद के विरोध में एकजुट होकर लड़ना चाहते थे। अभी तक कांग्रेस के नेतृत्व ने इन्हें सामाजिक व प्रशासनिक सुधारवाद और कुछ सीमित राजनीतिक अधिकारों की मांग तक रोके रखा था। इससे पूर्व 1906 में यद्यपि कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में स्वराज-प्राप्ति को कांग्रेस का लक्ष्य होने का प्रस्ताव पास हुआ था; लेकिन इस स्वराज की परिभाषा थी- ब्रिटिश साम्राज्य में रहते हुए भारत को खुद अपना शासन प्रबंध चलाने का अधिकार मिल जाना चाहिए। गांधी के आगमन ने स्वतंत्रता आंदोलन को एक नई गति दी। वीर भारत तलवार ने इस संदर्भ में लिखा है- ''गांधी शिक्षित उच्च मध्यवर्ग के

सदस्य थे। लेकिन राष्ट्रीय आंदोलन के नेतृत्व में उनकी पहली झड़प बोल्शेविकों से नहीं, बल्कि शिक्षित उच्च मध्यवर्ग के ही उस हिस्से से हुई जो अंग्रेज़ी राज के ख़िलाफ़ संघर्ष छेड़ने के लिए तैयार न था। झड़प में गांधी जीत गए। इस जीत का एक कारण उनको उस निम्न और साधारण मध्यवर्ग का समर्थन था जो अंग्रेज़ी राज के खिलाफ़ लड़ाकू संघर्ष चलाना चाहता था। इस वर्ग ने गांधी के नेतृत्व को अपना लिया। यह वही साधारण और निम्न मध्यवर्ग था जो मज़दूर-किसानों के संघर्ष का हिमायती था। इसी वर्ग के बुद्धिजीवी बोल्शेविज़्म की लहर को भारत में फैला रहे थे। 'प्रेमाश्रम' इसी काल की रचना थी जब बोल्शेविज़्म के असली अर्थ का लोगों को पता न था, यानी उसका वर्ग-आधार उसे अभी न मिला था। एक ही वर्ग गांधी के उच्च मध्यवर्गीय नेतृत्व और बोल्शेविज़्म, दोनों का समान भाव से स्वागत कर रहा था। आने वाले दिनों में दो अलग-अलग राहें फूटने को थीं।''[30] गांधी की पहली टकराहट कांग्रेस के ही भीतर के उन लोगों से हुई जो उपनिवेशवाद के ख़िलाफ़ उभर रही जनता की ताक़त को समझ नहीं पा रहे थे। उन्होंने देश भर में औपनिवेशिक शासन-प्रणाली के विरोध में एक सीमित उद्देश्य को लेकर ही, लेकिन लोकप्रिय आंदोलन छेड़ने का फ़ैसला लिया। इसके लिए उन्होंने आत्मशुद्धि, सत्य, अहिंसा, आदि को अपने आंदोलन का आधार बनाया। इन आध्यात्मिक मूल्यों की वर्गीय पक्षधरता क्या थी, यह निश्चित रूप से विचारणीय है; लेकिन इस दौरान चल रहे आंदोलनों ने समाज के सभी वर्गों के भीतर यह विश्वास पैदा करने में काफी हद तक सफलता पाई कि स्वाधीनता आंदोलन को नेतृत्व केवल गांधी ही दे सकते हैं। विशेषकर, मध्यवर्गीय बौद्धिक समाज में गांधी ज़बरदस्त ढंग से लोकप्रिय हो गये। 20' से 30' तक आते-आते गांधी कांग्रेस के सर्वेसर्वा हो गए और भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के 'ब्रांड एम्बेस्डर'। प्रेमचंद और गणेश शंकर विद्यार्थी जैसे कई विचारक-लेखक इसी मध्यवर्गीय बौद्धिक समाज से आते थे। प्रेमचंद ने स्वयं को 'गांधी का कुदरती चेला' कहा है।[31]

इस बीच भारतीय पूंजीपतियों का कांग्रेस से जुड़ाव और उम्मीदें भी बढ़ चुकी थीं। वे गांधी और कांग्रेस की ओर आशा की नज़र से देखते थे। इस प्रकार, कांग्रेस को एक तरफ ज़मीन्दारों और स्थानीय पूंजीपतियों का 'दोस्त' भी होना था दूसरी ओर एक औपनिवेशिक दासता के भीतर इनके ही शोषण की शिकार जनता की मुक्ति की आकांक्षाओं को स्वर भी देना था। गांधी ने इसका हल ढूंढ़ा- शांतिपूर्ण और अनुशासित सहयोग, इस अंकुश के साथ कि कहीं यह वर्ग-संघर्ष में न बदल जाए!

दूसरे दशक के ख़तम होते-होते तक भारत में आंदोलनों ने वे तेवर अख़्तियार कर लिए जो गांधी या किसी नेता-मात्र के नियंत्रण के बाहर भी थे। 1920-21 में एक लोकप्रिय जनांदोलन (असहयोग आंदोलन) ने संभावनाओं को बड़े फलक पर उजागर कर दिया था। अपनी मांगों के साथ इस आंदोलन को क्रमशः साम्राज्यवाद विरोध पर केंद्रित होते जाना था, लेकिन यह सफल न हुआ। फरवरी, 1922 में इसे बीच में ही रोक लिया गया। कारण बताया गया- पूर्वी उत्तर प्रदेश में आंदोलनकारियों और पुलिस के बीच हिंसक झड़प; जिसमें 22 पुलिस और 172 प्रदर्शनकारी मारे गए थे। असल में स्वाधीनता आंदोलन की मुख्य-धारा अब भी औपनिवशिक शासन-व्यवस्था में सुधारवादी फेरबदल और उसकी सुरक्षित आलोचना तक ही सीमित थी। पूर्ण स्वराज की मांग यहां तीसरे दशक में आकर ही उठ पाई। ऐसा नहीं है कि साम्राज्यवाद की मुखर आलोचना और उसका व्यापक प्रतिरोध उत्पन्न करने की कोशिशें पहले से सक्रिय नहीं थी। हां, राष्ट्रीय आंदोलन की मुख्यधारा का स्वर इसे लेकर स्पष्ट नहीं था। हिन्दी के कई आलोचक व लेखक ने साम्राज्यवादी बुनावट को समझा और मुखर होकर लिखा। प्रेमचंद, गणेश शंकर विद्यार्थी, महावीर प्रसाद द्विवेदी, यशपाल, जैनेन्द्र, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि का लेखन इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

कांग्रेस के नेतृत्त्व में चल रहे आंदोलनों के समानांतर और उसकी आलोचना करते हुए भी साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ भारत में अन्य आंदोलन चल रहे थे। विश्वयुद्ध के पहले से ही यह धारा मुखर हो उठी थी। उसमें कांग्रेस के गरमदल के कुछ नेताओं ने उग्रता से अंग्रेजों का विरोध करना शुरू किया। लेकिन उनकी बात पार्टी के अंदर उस तरह से उभर नहीं पाई। कम-से-कम नीतियों के स्तर पर कांग्रेस ने उन्हें स्वीकार नहीं किया और पहले विश्वयुद्ध के शुरू हो जाने पर राष्ट्रीय आंदोलन के गांधी और तिलक समेत पूरी कांग्रेस पार्टी ने अंग्रेज़ों का साथ देने की बात की। उन दिनों इससे अलग रणनीति के साथ चल रहे ग़दर पार्टी का संघर्ष इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। यह औपनिवेशिक शासन-व्यवस्था से पूरी तरह मुक्त कर भारत को एक स्वाधीन और शोषणमुक्त देश बनाने की चाहत रखने वाले आज़ादी के दिवानों का संगठन था। इसकी प्रारंभिक गतिविधियां अमेरिका, कनाडा, जापान, जर्मनी, ... आदि देशों में शुरू हुई। बाद में ये भारत की आज़ादी के लिए स्वदेश लौटे। इसकी स्थापना 1913 में लाला हरदयाल और सोहन सिंह भखना ने कैलिफोर्निया में की। इन्होंने भारतीय भाषओं में पार्टी का एक अख़बार निकालना शुरू किया, 'ग़दर' नाम से।

विदेशों में रह रहे भारतीय मज़दूरों के बीच इसका मुफ़्त वितरण होता था। इसके पहले अंक का एक अंश है–

तुम्हारा नाम – बग़ावत

तुम्हारा काम – बग़ावत

कहां बग़ावत – भारत में

क्यों बग़ावत – ''ब्रिटिश हुकूमत के ज़ुल्म असहनीय हैं – इसलिए''

अख़बार के हर अंक में एक विज्ञापन छपता था: ''ज़रूरत है– भारत में बग़ावत के लिए उत्साही और साहसी स्वयंसेवकों की। वेतन– मृत्यु, पुरस्कार– शहीदी, वृत्ति– स्वाधीनता, रणक्षेत्र– भारत''

एक अन्य अंक में छपा–

''बात करो तो ग़दर की, सपना देखो तो ग़दर का, खाओ तो ग़दर के लिए। रोक दो बाकी सब बातें। मज़हब के झगड़ों में पड़ा रहना बेवकूफी है, वेदों और कुरआन के मामलों में उलझना बेवकूफी है।''[32]

साम्राज्यवादी विश्वयुद्ध शुरू होने के बाद ग़दर पार्टी ने फैसला किया– वे भारत लौटेंगे। पार्टी ने माना कि युद्ध के दौरान भारत की आज़ादी के लिए अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ युद्ध छेड़ देने का यह बढ़िया अवसर है। तय हुआ, 21 फरवरी 1915 को वे एक साथ अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ बग़ावत शुरू करेंगे। लेकिन उनके बीच के एक सरकारी गुप्तचर ने इसकी सूचना सरकार तक पहुंचा दी। उनका तीव्र दमन हुआ, सैकड़ों फांसी चढ़े, आजीवन कारावास झेले आदि। ग़दर आंदोलन विफल हो गया लेकिन उसके संघर्ष का इतिहास–बोध आगे बढ़ता रहा। 1917 में हुए बोल्शेविक क्रांति का भारत पर ज़बरदस्त प्रभाव पड़ना ही था। हुकुमत की लाख कोशिशों के बाद भी नई सोवियत व्यवस्था से जुड़ी ख़बरें लोगों तक पहुंचने लगी थी। एक मुखर साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन की यह धारा आगे बढ़ती है जिसे सरदार भगत सिंह जैसे महान क्रांतिकारियों ने और ऊंचाई प्रदान की।

2.3 साम्राज्यवाद और हिन्दी के लेखक

साम्राज्यवाद के इस नए दौर ने अपनी व्यापकता और प्रभाव में भारत जैसे महत्त्वपूर्ण उपनिवेश को सीधे-सीधे प्रभाव में ले लिया। 20वीं सदी तक आते-आते यहां औपनिवेशिक शासन व्यवस्था की आलोचना शुरू हो गई थी। विभिन्न राजनीतिक-सामाजिक व आर्थिक सुधारों के साथ आंदोलनों की एक पूर्वपीठिका पहले से ही तैयार थी। वैसे में इसके प्रति साम्राज्यवादी और शक्तिशाली देशों की नीतियां क्या होगी यह काफी कुछ वैश्विक स्तर पर महाशक्तियों के आपसी संबंध और टकराव से निर्मित परिस्थितियों पर भी निर्भर था। देश की जनता की हालत को लेकर हर सचेत लेखक इन वैश्विक घटनाक्रमों को उसकी संपूर्णता में देखने की कोशिश करता; यह स्वाभाविक है। इस औपनिवेशिक व्यवस्था में जनता और व्यवस्था के बीच के अंतर्विरोध क्रमशः मुखर होते जा रहे थे। साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ भारतीय जनता का स्वर और एकजुटता बढ़ रही थी। एक स्वतंत्र और शोषणमुक्त देश की आकांक्षा प्रबल हो रही थी। चेतना के इस प्रसार और राष्ट्रीय मुक्ति की आकांक्षा को भी अंतर्राष्ट्रीय घटनाक्रमों से संदर्भित करना आवश्यक था। इसकी दशा और दिशा को अधिक परिपक्व बनाने तथा उसे अंतर्राष्ट्रीय आधार प्रदान करने के लिए यह जरूरी था कि जनमानस को राष्ट्रीय घटनाक्रमों के साथ-साथ अंतरराष्ट्रीय घटनाओं के बारे में भी चौकस रखा जाय। प्रेमचंद ने पं कृष्णकांत मालवीय द्वारा संकलित-संपादित पुस्तक की समीक्षा की थी जो 'माधुरी' में सितंबर 1924 में छपी थी। इसमें अंतरराष्ट्रीय घटनाओं के प्रति पाठकों में दिलचस्पी बढ़ाने के उददेश्य से वे लिखते हैं- '' दुनिया किस तरफ जा रही है, इस मौके पर हमारा क्या लक्ष्य होना चाहिए, हमें किन बाधाओं का सामना करना पड़ेगा, कौन हमारा सहायक होगा, किसके शत्रु होने की आशंका है, इस प्रकार की सब धारणाएं राजनीतिक परिस्थिती के ज्ञान पर ही निर्भर है। राजनीति की धारा क्षण-क्षण पर बदलती रहती है। इसलिए हमें भी अप-टू-डेट रहने के लिए विशेष प्रयत्न करना - इस विषय के पत्र-पत्रिकाओं को देखते रहना - चाहिए। इस लेखमाला से पाठकों को योरोप की राजनीति समझने में बड़ी सहायता मिलेगी''[33]

यह वैश्विक उपनिवेशवाद के विरोध में खड़ी जनता को अंतर्राष्ट्रीय घटनाक्रमों के प्रति सचेत रहने की अपील है। साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था ने दुनिया को दो भागों में बांट दिया था- विजेता और विजित। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था ने भी इसे शोषक और शोषितों में बांटा। भारत जिस स्वधीनता के लिए संघर्ष कर रहा था उसमें इसके दोस्त भी थे और दुश्मन भी। इसकी पहचान ज़रूरी थी। अपने पाठकों को 'अप-टू-डेट' रखना महज़ अंतरराष्ट्रीय घटनाओं के प्रति जिज्ञासा का मामला नहीं था; बल्कि यह उस पूरे दौर को समझकर देश को उन खतरों से आगाह करने का प्रयास था जिससे उस समय के अधिकांश देश जूझ रहे थे, ख़ासकर कमज़ोर देश। दूसरी तरफ, अमीर और शक्तिशाली देशों की किन नीतियों से वहाँ के किन वर्गों को फ़ायदा हो रहा है तथा उसके अधिसंख्यक मेहनतकश आवाम पर उन नीतियों का क्या प्रभाव पड़ रहा है, भारतीय जनता और समग्र मानवता के हित-अहित किन वैश्विक नीतियों से किस तरह जुड़े हैं, इसे समझना भी आवश्यक था। भारत में चल रहे तमाम सारे सुधार आंदोलन अपनी कमियों और सीमाओं के बावजूद ब्रिटिश राज की राजनीतिक-आर्थिक नीतियों के प्रति आलोचनात्मक होने लगे थे। अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं के प्रति उनका सचेत रहना निश्चित तौर पर उनकी आलोचना दृष्टि को और भी अधिक व्यापकतर तथा वैश्विक स्तर का बनायेगा। हिंदी में वैश्विक घटनाओं को लेकर 'अप-टू-डेट' रहने की प्रेमचंद की यह अपील 1924 की है।

औपनिवेशिक भारत अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के मातहत था। दुनिया भर में तेज़ गति से हो रहे बदलाव इसे प्रभावित कर रहे थे। वैश्विक स्तर पर पूंजी का संकेंद्रण, एकाधिकारवादी पूंजी का बढ़ता प्रभाव और उत्पादन में बेतहाशा वृद्धि ने पिछली कुछ सदियों से भारत समेत कई देशों को विजित बना कर रख छोड़ा था। इसी के आलोक में प्रथम विश्वयुद्ध हुआ। इसपर महान क्रांतिकारी विचारक और बोल्शेविक क्रांति के अग्रणी नेता लेनिन ने 'साम्राज्यवाद; पूंजीवाद की उच्चतम अवस्था' में विस्तार से विचार किया है। इस विचारधारा का भारत की स्वाधीनता आंदोलन पर गहरा प्रभाव पड़ा। इस संदर्भ में संभवत: शुरूआती पुस्तक रामचंद्र वर्मा की 'साम्यवाद' है जो 1911 में छपी। इसके उपरांत 1924 में राधामोहन गोकुल की किताब छपी- 'कम्युनिज़्म क्या है?'। 'विप्लव' पत्रिका में एक स्थाई स्तंभ आता था- 'मार्क्सवाद की पाठशाला' नाम से। इसे यशपाल लिखा करते थे। ब्रिटिश सरकार आतंकवश भारत में इस विचारधारा के किसी भी प्रकार के विस्तार-प्रचार की संभावनाओं को कुचलना चाहती थी। इसलिए यशपाल इस स्थाई स्तंभ के लिए छद्म नाम

'विलक्षण' का सहारा लेते रहे। इसके विभिन्न लेख बाद में 1940 में एक निबंध संग्रह 'मार्क्सवाद' के रूप में सामने आया। इसके एक लेख 'मार्क्सवाद अर्थशास्त्र' में उन्होंने साम्राज्यवाद की परिघटना के उदय और इसके प्रभाव को इस प्रकार देखा है- ''व्यक्ति के जीवन से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति तक में संकट का कारण आर्थिक विषमता ही है। पूंजीवादी समाज में पैदावर समाज के हित के लिए नहीं बल्कि श्रेणी-विशेष के मुनाफे के लिए होती है। यही विषमता का कारण है। यह विषमता कायम रखने के लिए पूंजीवादी समाज में सरकार की व्यवस्था और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में साम्राज्य की व्यवस्था की जाती है।... साम्राज्यवाद या पूंजी की साम्राज्य की नीति संसार को युद्ध के भय से मुक्ति नहीं दिला सकती क्योंकि वह साम्राज्य के साधन से शोषण की होड़ को समाप्त नहीं कर सकती। वह केवल कुछ समय के लिए ही दूसरे देशों को दबा सकती है। 1914 का युरोपीय महायुद्ध लड़ते समय, उस समय के साम्राज्यवाद का नेता ब्रिटेन का दावा था कि वह संसार से युद्ध की संभावना समाप्त कर देने के लिए युद्ध लड़ रहा है। परन्तु 25 वर्ष बाद ही साम्राज्यवादी नीति के परिणाम में उससे भी बड़ा संसारव्यापी युद्ध सामने आ गया।''[34] साम्राज्यवाद को बेहद आसान शब्दों में पाठकों के सामने रखा गया। उसकी उत्पत्ति, परिणाम और उसके दावों की हक़ीकत के साथ।

भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का मुख्य कारण आर्थिक था। यद्यपि इस आर्थिक लूट को जायज़ ठहराने के उद्देश्य से उन्होंने कई तर्क गढ़ें। मसलन यह कि भारत में ब्रिटिश शासन की यह ज़िम्मेदारी है कि वे यहां से अशिक्षा और अज्ञानता दूर कर इसे एक सभ्य देश बनायें। इस संदर्भ में बालकृष्ण भट्ट द्वारा लिखित एक रूपक को देखा जा सकता है। जनवरी 1986 में 'हिन्दी प्रदीप' में बालकृष्ण भट्ट ने एक रूपक लिखा। यह भारत और इंग्लैण्ड- दोनों देशों के बीच का संवाद है। पहला अंश है[35]-

इंग्लैण्ड- भारत! हमारी संतान तुम्हारी आरत हरण करने को कितना क्लेश उठाती है! इसका एहसान तुन मानते हो कि नहीं!

भारत- तुम्हारी संतानें यहां आकर स्वर्ग-सुख का अनुभव करती हैं। जब तक रहती हैं हमारी नस-नस का लहू चूसती रहती हैं और जाते समय रंक से राजा बन जहाजों में रुपया भर कर ले जाती हैं तब एहसान किस बात का है?

इंग्लैण्ड- ऐं ऐं ऐं भारत! तुम-सा कृतघ्नी भी दूसरा न होगा। अरे, हम तुम्हारे शिक्षा-गुरू हैं। हमने तुम्हें आंखें दीं, तुम्हें समझ दी, रूस ऐसे प्रबल शत्रुओं से तुम्हें बचाने की फिकिर में दिन-रात रहते हैं। इसका कुछ एहसान ही नहीं है।

भारत- हा, हा, हा (हंसता हुआ) चालाकी की बोल-चाल इसी का नाम है। रूस की जो आप फिकिर कर रहे हैं उसका हम पर क्या एहसान। आप अपना बचाव न किजीए। हम आपकी दी हुई समझ लेकर ओढ़ें या बिछावें। तुम्हारी यह समझदारी ऐसा मनहूस पैसा लेकर हमारे यहां आई कि हम दाम-दाम सुरफ गए, अन्न-वस्त्र के लिए भी तरस रहे हैं। सब ओर से हमें पंजे में कसे हुए हो। जरा भी हिलने नहीं देते। ऊपर से तुर्रा यह कि हम तुम पर एहसान करते हैं, वाह रे चालाकी।

2 मार्च 1929 को 'मतवाला' में प्रकाशित कार्टून जो औपनिवेशिक दासता और शोषण से कराहते भारत को दिखाता है।

औपनिवेशिक शासन-व्यवस्था के प्रति यह आलोचनात्मक दृष्टि सुधारवाद की मांगों के समानांतर मजबूत होती जा रही थी। भारत के राष्ट्रीय आंदोलन में जिस साम्राज्यवाद का विरोध होना था, वह सहसा उत्पन्न नहीं हुआ। सामाजिक सुधारवाद और लोगों में नई चेतना का प्रवाह को लेकर एक सक्रियता 19वीं सदी के मध्य से दिखाई पड़ने लगती है। इसके साथ ही औपनिवेशिक भारत की अर्थव्यवस्था को लेकर भी कई विचारकों ने उसकी आलोचना की। दादा भाई नौरोजी, रमेशचंद्र दत्त आदि ने ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत में लागू की जा रही नीतियों पर गंभीर विचार किए। हिन्दी में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'संपत्तिशास्त्र' लिखी और औपनिवेशिक भारत में आर्थिक अराजकता तथा लूट का विस्तृत वर्णन किया। 1879 में 'सारसुधानिधि' में मदनमोहन भट्ट, सदानंद मिश्र और सरयूप्रसाद मिश्र ने क्रमशः 'अर्थशास्त्र', 'वाणिज्य' और 'धन' शीर्षक से धारावाहिक लेख लिखा। 1904 में बांग्ला में सखाराम गणेश देउस्कर

ने 'देशेर कथा' लिखी। 1910 में बाबूराव विष्णु पराड़कर द्वारा अनुवाद होने के बाद इस पुस्तक ने धूम मचा दी। इसमें देश के किसानों, कारीगरों और संपूर्ण जनता के ऊपर औपनिवेशिक सरकार की नीतियों का विस्तृत और विचारोत्तेजक वर्णन है। साथ ही अपने लूट और झूठ के तंत्र को ढकने के लिए अंग्रेज़ी व्यवस्था जिन हथकंडों का सहारा ले रही थी उसकी तीखी आलोचना भी। अकाल और इसके कारण, भारतीयों की औसत आमदनी में हो रही गिरावट, बढ़ती मृत्यु दर, शिक्षा और शिल्प शिक्षा पर सरकार की हमलावर नीतियां, किसानों की स्थिति को बदतर बनाने पर अमादा सरकार, स्थानीय उत्पादन और कारीगरों का नाश पर विद्वतापूर्वक विचार किया है। इसके पश्चात लेखक ने 'सम्मोहनः चित्त-विजय' शीर्षक अध्याय खण्ड में उन लोगों को संबोधित किया है जो इन सबके बावजूद भी सरकार के सम्मोहन में पड़े हुए हैं। जनता में आत्मगौरव का बोध जगाकर उन्हें मुक्ति के रास्ते पर चलने को प्रेरित करते हैं। ब्रिटिश हुकुमत को इस पुस्तक पर प्रतिबंध लगाना पड़ गया। 'देशेर कथा' औपनिवेशिक भारत की अर्थव्यवस्था और देश की जनता पर उसके मार्मिक प्रभावों को खोलकर कर सामने रख देने वाला ऐतिहासिक दस्तावेज़ है। 1908 में राधामोहन गोकुल की पुस्तक छपी- 'देश का धन'। यह छोटी और सारगर्भित पुस्तक है। इसके एक लेख में लागत पूंजी, श्रम और मुनाफ़े पर विचार करते हुए वे लिखते हैं कि कल-कारखानों से सिर्फ मालिक को फ़ायदा होता है ऐसा नहीं है, मज़दूर भी इससे लाभ कमाते हैं उनकी दशा में सुधार होता है, वे अधिक जागरूक और एकताबद्ध होते हैं। वे कारख़ानेदारों को सुझाव देते हैं कि वे 'मजूरों का पक्ष लें और उनको अधिक लाभ में कुछ अंश देकर उनको संचित पूंजी वाला बनाने का सच्चा प्रेम मन में रखें'[36]। मुनाफ़े में मज़दूरों का हिस्सा हो, यह उस दौर में एक 'रेडिकल' विचारधारा से उपजी मांग थी।

भारतेन्दु और उनके समकालीन रचनाकारों की रचनाओं में औपनिवेशिक व्यवस्था पर जो व्यंग्य और वैचारिक लेखन शुरू हुआ था, यहां आकर अधिक गंभीर तथा आलोचनात्मक हो गए थे। अपनी संकीर्णताओं और प्रतिगामी विचारधाराओं से युक्त हिन्दी में इस नई चेतना वाहन को 'हिन्दी नवजागरण' कहते हैं। वास्तव में यह कोई 'नवजागरण' था या नहीं इसे लेकर बहस की गुंजाइश है, लेकिन इनता अवश्य है कि हिन्दी के वैचारिक लेखन में समाज, राजनीति, अर्थनीति और संस्कृति को लेकर नये विचार सामने आ रहे थे। इन विचारों को आगे चलकर साम्राज्यवाद विरोध की चेतना से लैस होना था। 1925 में राधामोहन गोकुल ने एक पर्चा लिखकर कानपुर में बंटवाया। इसका शीर्षक था- 'स्वराज कैसे मिलेगा?'। इसमें वे लिखते हैं-

''देश की कंगाली बहुत बढ़ गई है और दिन-दिन बढ़ती जा रही है। किसान, मज़दूर खाने-पहनने के लिए तरसते हैं। अंग्रेज़ी राज्य आने के पहले हमारी यह दशा कभी नहीं थी। देश में 100 में से 96 आदमी न पेट भर खाने को पाते है, न उन्हें तन ढंकने को पूरा कपड़ा मिलता है। देश में इतना अन्न और इतनी रूई पैदा होती है, पर वह सब महाजन के ब्याज, ज़मींदारों की मांग और सबसे अधिक सरकारी करों में ही सोख जाती है। इसका कारण अंग्रेज़ी राज की निर्दय शासन प्रणाली है। अरबों रुपया ज़मीन के कर, नमक के कर, विलायती अफ़सरों के पेंशन वगैरह में चला जाता है। देश की आमदनी का आधे से अधिक रुपया फौज के खर्च में चला जाता है। एक बड़े लाट साहब ही 21,000/- रुपया महीना तनख्वाह ले लेते हैं और 5 वर्ष पीछे जब विलायत जाते हैं जब तक जीते हैं पेंशन पाते रहते हैं। पुलिस, फौज, माल, आबकारी, अदालत वगैरह में जहां हिंदुस्तानी नौकर को 20/- रुपया वेतन मिलता है, वहां गोरे नौकरों को 200/- रुपया दिया जाता है। इसी तरह की सैकड़ों बातें हैं जिनसे देश का अन्न, रूई और रुपया विदेश खिंचता जाता है, इसीलिए हमलोग भूखों मरने लगे।''[37]

साम्राज्यवाद के अलंबरदार देशों की महत्वकांक्षाओं की टकराहट का ही परिणाम था- विश्वयुद्ध। पहला विश्वयुद्ध 1914 में हुआ, लेकिन इसकी आशंका इंग्लैंड और फ्रांस के कलाकारों, दार्शनिकों और भविष्यवक्ताओं ने 1870 के आस-पास से ही शुरू कर दिया। अपने युगीन वैश्विक परिदृश्यों को देखकर फ्रेडरिक एंगेल्स ने 1880 में ही आगामी समय के लिए एक विश्वयुद्ध का विश्लेषण किया था। इसके एक दशक बीतते-न-बीतते आगामी महासमर को लेकर होने वाली चिंताएं इतनी सघन होने लगी थीं कि इसे दुनिया को उबारने के नाम पर 1890 में एक विश्व-शांति-सम्मेलन का आयोजन किया गया, नोबेल शांति पुरस्कार की स्थापना की गई और शक्तिशाली राष्ट्रों की सरकारों ने शांति-स्थापना के प्रति अपनी-अपनी निष्ठा व्यक्त की। शांति-स्थापना के लिए यूरोप के देशों में अनेक समितियां बनाई गईं।[38] इन सबके बावजूद 1914 में, जिस वर्ष इक्कीसवां विश्व शांति-सम्मेलन प्रस्तावित था, युद्ध की चपेट में पूरे विश्व को एक अनजान बदहवासी ने घेर लिया। पूरे यूरोप में साम्राज्यवादी विस्तार को लेकर जो प्रतिस्पर्धा मची थी उसे युद्ध के रूप में ही सामने आना था। 9 अगस्त 1914 को गणेशशंकर विद्यार्थी का लेख 'प्रताप' में छपा- 'भयंकर महायुद्ध'। इसमें उन्होंने साम्राज्यवाद को ज्वालामुखी और इस युद्ध को यूरोप के अंदर छिपी ज्वालामुखी का विस्फोट कहा-

''ज्वालामुखी पर्वत अंत में ज्वालामुखी पर्वत ही है। उसकी शांति धोखे में डालने वाली है। पेट की आग कब तक मुह से न निकलेगी? यूरोप किसी ज्वालामुखी से कम तो था ही नहीं, उसके पेट में आग भरी थी और दिन-ब-दिन उसकी वृद्धि ही होती जाती थी। यूरोप के देश अपने-अपने सैनिक वैभव को बढ़ाने में सरपट दौड़ लगाते जाते थे। उन्हें पता न था कि वे जाते कहां हैं और अपनी इस सारी चमक दमक से सरकारी खजाने में रुपये भरने वालों की क्या हालत हो रही है? हां, उन्हें यदि किसी बात का ख्याल था तो वह यही थी कि बस आगे बढ़े चला, पीछे फिर कर भी मत देखो। अंत में, जैसा कि हम देख रहे हैं, उन्होंने एक दूसरे से ठोकरें खाई।''[39]

इस लेख में विद्यार्थी जी ने प्रथम विश्वयुद्ध को लेकर सामान्य लेकिन सजग जानकारी अपने पाठकों तक पहुंचाते हैं। इसी संदर्भ में अपने अगले लेख जो 16 अगस्त 1914 को प्रकाशित हुई थी में वे बताते हैं कि ''युद्ध की आग आगे ही बढ़ती जाती है, परंतु उसके समाचार हमें ठीक-ठीक नहीं मिलते, समाचार लंदन और बंबई से छन कर आते हैं, और प्रायः ऐसा होता है कि दूसरे ही दिन उनमें कुछ का प्रतिवाद हो जाता है।''[40] इसके बावजूद इन लेखकों ने यथासंभव युद्ध से जुड़ी हुई महत्वपूर्ण जानकारियां और उसका विश्लेषण यदि लगातार कर रहे थे तो इसकी वजह थी कि ताकि वे अपने पाठकों को पूंजीवादी साम्राज्यवाद की विभीषिका से परिचित करवा सकें।

साम्राज्यवाद ने जिस विश्वयुद्ध को जन्म दिया वह वीभत्स और जन-धन की अपार हानि लेकर आयी थी- शक्तिशाली और कमज़ोर देश दोनों के लिए, विजेता और विजित दोनों के लिए। इस संबंध में उस दौर में हिन्दी के अनेक लेखकों ने विचार किए। औपनिवेशिक व्यवस्था ने भारतीय पारंपरिक उत्पादन प्रणाली को बेतरह नुकसान पहुंचाया था, बल्कि उसे समाप्तप्राय कर दिया था। भारतीय राष्ट्रवादियों ने इस संबंध में उनकी नीतियों की आलोचना भी की। प्रथम विश्वयुद्ध के आते-आते तक यह स्वर काफी मजबूत हो गया था। सरकार ने इस संबंध में 'सुधार' के वायदे भी कर दिए। युद्धकाल में जब हालात और भी बिगड़ने लगे तब गणेशशंकर विद्यार्थी ने एक लेख लिख कर सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित किया और ये सुझाव दिया कि सरकार को चाहिए कि वह विदेश से आने वाली वस्तुओं पर अतिरिक्त कर लगाकर यहां के उत्पादन को बढ़ावा देना चाहिए।[41] वे इस दौर में देख रहे थे कि किस प्रकार से शक्तिशाली देशों ने अपने यहां आयात कर को बढ़ा

कर अपने उत्पादन को बढ़ावा दिया; यहां तक कि 'मुक्त द्वार की नीति' पर चलने वाला इंग्लैण्ड भी।

मार्च, 1915 में 'सरस्वती' में प्रकाशित अपने एक लेख 'लड़ने वाली फ़ौज का खर्च' में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने युद्ध में हथियारों व अन्य खर्चों को छोड़कर सिर्फ सैनिकों के रहने, ईलाज करवाने, वर्दी, भोजन व यातायात के खर्च का एक मोटा-मोटी आकलन किया- ''...10 लाख आदमियों को युद्ध के मैदान में रखने के लिए प्रति सप्ताह 5 करोड़ 25 लाख रुपये चाहिए। ... चालीस पचास लाख फ़ौज के खर्च का कहना ही क्या है!''[42] युद्ध के दौरान औपनिवेशिक सरकार ने भारतीय जनता पर अतिरिक्त कर लगाकर व अन्य माध्यमों से 10 करोड़ पौंड इकट्ठा कर ब्रिटेन भेजा था[43]। पाठकों को यह जानना ज़रूरी था कि उनके श्रम की कमाई को किस प्रकार साम्राज्यवादी स्वार्थ के लिए पानी की तरह बहाये जा रहे हैं।

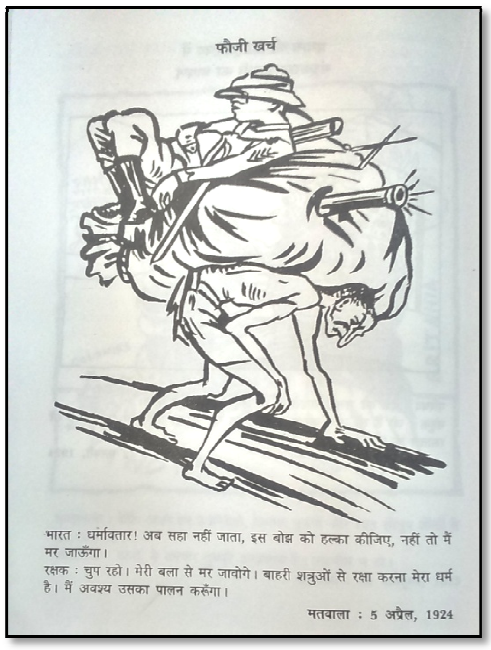

5 अप्रैल 1924 को 'मतवाला' में प्रकाशित कार्टून जिसमें ब्रिटेन के फौजी खर्च और युद्धोन्माद से तबाह होते भारत की स्थिति को दिखाया गया है!

इसी प्रकार गणेशशंकर विद्यार्थी दुनिया भर से आ रही तबाही की खबर को देख रहे थे और अपने पाठकों को इससे अवगत करा रहे थे-

'' लड़ाई समाप्त होने पर प्रत्येक लड़ने वाला राष्ट्र अपने को सिर से पैर तक कर्ज से लदा पावेगा, और उसकी आने वाली संतानें तक इस ऋण के बोझ से दबी रहेंगी। इंग्लैंड सबसे अमीर देश है। उस पर गत अगस्त में 10 अरब 74 करोड़ का राष्ट्रीय ऋण था। यदि लड़ाई दो वर्ष भी चली, तो यह ऋण बढ़कर 36 अरब का हो जाएगा। इंग्लैंड की वर्तमान आय 3 अरब है। साढ़े सैतीस करोड़ रुपया प्रतिवर्ष ऋण के सूद में चला जाता है, फिर डेढ़ अरब जाने लगेगा। ... यही कठिनाई सब लड़ने वाले देशों के सामने आवेगी। ... इन बातों पर विचार करते हुए प्रत्येक वह आदमी, जिसे मनुष्य जाति से प्यार और हत्या-कांड और रक्तपात से घृणा है, और जो संसार के

कल्याण को हृदय से चाहता है, बिना यह इच्छा किए हुए नहीं रहेगा, कि अब संसार में शांति हो।''[44]

संसार में यह शांति अपने से कमज़ोर देशों को लूट कर, उन्हें अपना उपनिवेश बना कर नहीं आ सकती। युद्ध के दौरान हिन्दी के लेखक-आलोचक साम्राज्यवाद की अपनी आलोचनाओं और युद्ध-संबंधी रिपोर्टों के पीछे दरअसल एक बड़ा मकसद यही था। युद्ध की विनाश लीला उसी आर्थिक-राजनीतिक नीतियों से उपजे थे जिसने भारत और इस जैसे सैकड़ों देशों को पराधीनता की आग में झोंक दिया था। यहां तक आकर अभी ब्रिटिश राज के ख़िलाफ़ तथाकथित मुख्यधारा के भारतीय राष्ट्रवादियों ने अपनी मुखर आवाज़ नहीं उठाई थी। इस औपनिवेशिक दासता के बीच हिन्दी में चल रहे विमर्शों ने अपने संघर्षों के लिए यह रास्ता अख़्तियार किया।

विश्वयुद्ध पूरी दुनिया में कई स्तरों पर राजनीतिक शक्ति समीकरणों को बदल रहा था- उपनिवेशों और साम्राज्यवादी देशों के बीच, मेहनतकश जनता और पूंजीपतियों के बीच, औपनिवेशिक सरकार और वहां की जनता के बीच। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद भी भारत में ब्रिटिश राज की अर्थनीतियों ने शोषण को ही अपना आधार बनाया लेकिन ये नीतियां अब एकतरफा नहीं हो सकती थीं। भारत में, 1920 के दशक तक आते-आते अर्थनीतियों में अंग्रेज-निहित स्वार्थ समीकरण के स्वरूप बदलने लगे थे। सब्यसाची भट्टाचार्य लिखते हैं-''पुराने निहित स्वार्थ दलों की जगह नए दल अपने हितों का आधिपत्य कायम करने के लिए सचेष्ट हुए। इसका एक और कारण यह था कि पुराने खेल का नियम अब बदलने लगा था-महात्मा गांधी के हाथों कांग्रेस के बहुत शक्तिशाली हो जाने और राष्ट्रीयतावादी आंदोलनों के बढ़ते जाने, विशेषकर 1919-21 और 1930-31 के वर्षों में आम आदमी के अंदर आंदोलनों में शामिल होने की जो नई प्रवृत्ति दिखाई पड़ी, उसने एक नए अध्याय का प्रवर्तन किया।''[45] अब तक भारत में जो औपनिवेशिक नीतियाँ थीं, वह प्राय: एकपक्षीय थी; लेकिन शक्ति-संतुलन के इस नए समीकरण ने इसे पहले की तरह एकपक्षीय नहीं रहने दिया।

दुनिया भर में शक्ति संतुलन के इस बदलाव को 20वीं सदी के शुरूआत से ही देख जा सकता है। कई उपनिवेशों में चल रहे मुक्तिगामी आंदोलन मुखर होकर सामने आने लगे थे। भारतीय स्वाधीनता आंदोलन को तेज़ करने तथा उसे एक अंतर्राष्ट्रीय आधार देने के उद्देश्य से हिन्दी में उन आंदोलनों को चिह्नित करते हुए अनेक लेख लिखे गए। सितम्बर, 1917 में 'चांद' में राधामोहन

गोकुल का एक लेख प्रकाशित हुआ। शीर्षक था- 'वर्तमान शताब्दी की गत तीन दशाब्दियां'।[46] यह अपेक्षाकृत एक लंबा लेख है, जिसमें लेखक ने पूंजीवादी अर्थप्रणाली से उत्पन्न संस्कृति में 'ऐश्वर्य की होड़' को सामान्य जनजीवन में चिह्नित किया है। इसके उपरांत 'अत्याचार का युग' में साम्राज्यवादी मंसूबों से उत्पन्न देशों के बीच के युद्धों और तनावों का विस्तृत वर्णन है। आगे के तीन उप-अध्यायों में साम्राज्यवाद को चुनौती देने वाली क्रांतियों तथा आंदोलनों पर विचार किया गया है। रूस में हुई क्रांति को लेखक ने साम्राज्यवाद को आम जनता द्वारा दी हुई चुनौती के रूप में भी देखा है। इस क्रांति के बाद रूस पर इंग्लैण्ड और जापान ने क्रुद्ध होकर हमले भी किए, उसकी राजनीतिक और व्यापारिक नाकेबंदी भी हुई। लेखक के अनुसार-''संसार के किसी भी नेता को इतनी कठिनाईयों का सामना नहीं करना पड़ा जितना महापुरूष लेनिन को पड़ा, किन्तु अंत में उसने अभिनव रूस की सारी समस्याओं की मीमांसा कर ली।''[47] रूस ने पहले से चली आ रही साम्राज्यवाद-विरोधी आंदोलनों के स्वर को और अधिक मजबूत किया। राधामोहन जी 1911 में डॉ. सनयात सेन के नेतृत्त्व में हुई चीन में उस क्रांति को जिससे 'महाराजाओं के शासन का स्थान प्रजातंत्र ने छीन लिया' आगे साम्यवादी क्रांति तक बढ़ाते हैं। इसके अलावा तुर्की, फिलिस्तीन, अफगानिस्तान और ईरान में साम्राज्यवाद के विरोध में तेज़ हुए आंदोलनों का उल्लेख करते हैं। एशिया के इन देशों के बाद युरोप में हुई क्रांतियों का वर्णन किया गया है। युद्ध के उपरांत जर्मनी में तेज़ और शक्तिशाली हो रहे मज़दूर आंदोलनों और जनता द्वारा वहां के शासक कैसर को भगा देने की घटना हुई। जर्मनी के अलावा आस्ट्रिया-हंगरी में भी क्रांति की कोशिशें हुई- ''...सबने एक बार सोवियत स्थापना की चेष्टा की, लेकिन योरोप के पूंजीवादियों के षड्यंत्र ने इन्हें सफल-मनोरथ न होने दिया। एकबार तो आस्ट्रिया-हंगरी के अनेक भागों में सैनिक और पंचायतें तैयार हो गई थीं और सर्वत्र रूस का दृष्य दृष्टिगोचर होता था।''[48] भारत के स्वाधीनता आंदोलनों को दुनिया भर में उत्पन्न हो रहे इस नए उभार के संदर्भ में ही रखकर देखा जाना चाहिए। अपनी आंतरिक विशेषताओं, कमज़ोरियों और जटिलताओं के बावजूद भी ये आंदोलन साम्राज्यवाद के विरोध में उठ रहे उस वैश्विक जनचेतना का हिस्सा था जो नये दौर के शक्ति-समीकरण के बदलते संतुलन से आत्मविश्वास पा रहा था।

नई स्थितियों में बदल रहे इस शक्ति-समीकरणों के कारण पहले से रद्द होने की स्थिति में पड़े भारतीय मांगों पर सरकार को पुनर्विचार करना पड़ा। आगे चलकर भारत में उदित हो रहे

पूँजीपति वर्ग ने इन स्थितियों को अपने पक्ष में भूनाना भी शुरू कर दिया। साथ ही उन्हें इस बात के लिए भी चौकन्ना होना पड़ा कि इन आंदोलनों में बढ़-चढ़ कर आगे आ रही जनता साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ वहीं तक खड़ी हो जहां वे भारतीय सामंती व पूंजी प्रभुओं के ख़िलाफ़ न हो जाए। भारतीय पूंजीपतियों को राष्ट्रीय आंदोलनों को लेकर यह भय सदा था कि यह आंदोलन अनियंत्रित होकर वर्ग-संघर्ष के क्रांतिकारी रास्ते पर न चल दे। अतः यहाँ से आगे का पूरा रास्ता भारतीय पूँजीपति वर्ग के लिए एक तरफ नए अवसर और सुयोग का था तो दूसरी ओर संकट का भी।

कई सामाजिक सवालों पर अपनी तमाम प्रगतिशीलता के बावजूद भी भारतीय राष्ट्रीय आंदोलनों के कथित मुख्यधारा की अपनी वर्गीय स्थिति इन्हीं 'देशी पूंजीपतियों' की ओर थी। 20वीं सदी के दूसरे दशक तक आते-आते कांग्रेस उनकी पार्टी बनी और गांधी उनके नेता। इस दौर के अधिकांश हिन्दी लेखक-विचारक गांधी को लेकर बेहद आशांवित थे, भले ही कांग्रेस को लेकर उनकी आलोचना हो। यद्यपि प्रेमचंद, गणेशशंकर विद्यार्थी, महावीर प्रसाद द्विवेदी, बाल कृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि का लेखन इससे मुक्त नहीं है। फिर भी साम्राज्यवाद संबंधी इनके लेखन में साम्राज्यवाद की आलोचना के कई आयाम हैं।

प्रथम विश्वयुद्ध के साम्राज्यवादी चरित्र को लेकर कोई भी संदेह में नहीं था। भारत के राष्ट्रवादियों को यह उम्मीद थी कि इसके बाद उनके 'स्वराज' की मांग को लेकर सरकार अधिक सकारात्मक रूख़ दिखायेगी। इस मौके पर कई नेताओं ने इस युद्ध में उनका मुखर समर्थन भी किया। गणेशशंकर विद्यार्थी भी इसी प्रकार सोचते थे। 'प्रताप' में 17 जनवरी 1916 से लेकर 14 फरवरी 1916 तक साप्ताहिक तरीके से उन्होंने पांच लेख लिखे। इसमें उन्होंने कहा कि 'अपनी वर्तमान शांति के लिए हम इंग्लैंड और अंग्रेज जाति के हृदय से कृतज्ञ हैं'[49] उन्होंने अंग्रेजों द्वारा युद्ध के लिए भारतीय जनता से की गई धन उगाही तो समर्थन किया लेकिन साथ ही यह शिकायत की कि वे भारतीय जवानों को अपनी सेना में भर्ती क्यों नहीं करते!

''सरकार चेते और भारतवासियों को हथियार देकर, फौजों में भरती करके और वालंटियर बनने का अवसर देकर उन्हें पुरूषत्व प्रदान करे। प्रजा अपने युवकों को सरकार की सेवा के लिए उत्साहित करे, उनसे कहे कि 'लो, मर्द बनो। बहुत कापुरूष रह चुके' और सरकार को अपने आंदोलन के बल से इस बात के लिए विवश करे कि देश के युवकों को अपनी सेवा में मुक्त-द्वार

नीति से ले और उन्हें इस योग्य बनने का अवसर दे कि यदि कभी मौका पड़े तो वे अपने घरों की रक्षा भी कर सकें।''[50]

14 फरवरी 1916 को अपने लेख 'धन ही क्यों, जन क्यों नहीं?' में वे लिखते हैं-

''इंग्लैंड वालों के लिए अपनी आय का दसवां भाग दे देना कोई बड़ी बात नहीं। ... हम भारतवासियों को इंग्लैंड के चरणों में सब कुछ रख देने में उज्र ही क्या हो सकता है? परंतु हम पूछते हैं कि आप की नज़र रुपयों ही पर क्यों पड़ती है? दरिद्र की गुदड़ी में आपको कितने रुपये मिल सकेंगे? उसका तन हाजिर है। उसे लेने में अविश्वास आप का गला क्यों दाबता है? क्या मनुष्यय का तन चांदी के टुकड़ों से कम मूल्य का है?''[51]

जबकि इस युद्ध के चरित्र और भारत में इसके प्रभाव को लेकर वे किसी भ्रम में नहीं थे तथा राष्ट्रवादी नेताओं से इतर वे जानते थे कि इस युद्ध के बाद भी भरतीयों को अपने 'स्वराज' की मांग के लिए संघर्ष करना है। 17 मई 1917 का उनका एक लेख है- 'भारत पर युद्ध का प्रभाव'। इसमें वे लिखते हैं-

''... भारतीय राजनीतिक सुधार के विरोधी न तो संस्था में ही और न प्रभाव में ही कम हैं। यदि भारत को कोई राजनीतिक स्वत्व मिलेगा तो घोर दीर्घकालिक आंदोलन द्वारा ही मिलेगा।''[52]

यह 'राजनीतिक सुधार' या 'राजनीतिक स्वत्व' अगर साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की प्राथमिक अवस्था भी थी (जिसे मानना स्वाभाविक नहीं है, क्योंकि ब्रिटिश राज के ख़िलाफ़ 1857 का महान आंदोलन और उसके पहले व उपरांत अनेक छोटे-बड़े आंदोलनों ने भारत में इस औपनिवेशिक व्यवस्था को चुनौती देना शुरू कर दिया था।) तो भी गणेशशंकर विद्यार्थी के इन लेखनों में साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष को लेकर जो विचार व्यक्त हुए हैं वह कमज़ोर व अंतर्विरोधी हैं। विश्वयुद्ध के दौरान इंग्लैण्ड के प्रति उनकी पक्षधरता, युद्ध के लिए भारतीयों से धन उगाही को स्वाभाविक कहकर उसका विरोध न करना, यहां की आम जनता से इस युद्ध में अंग्रेजी सेना में भर्ती होकर उनकी तरफ से लड़ने के लिए प्रेरित करना- ये सब अपने समय में चल रहे साम्राज्यवाद-विरोधी आंदोलनों से पिछड़ी सोच है। स्वयं महात्मा गांधी ने उस समय भारत के युवाओं से अंग्रेज़ी फौज में शामिल होने की अपील की। यद्यपि उन्होंने एक लेख लिखकर उस दौर के उन

भारतीय कौंसिलों को 'ऑनरेबिल भिखमंगे' कहा जो सरकारपरस्त थे।[53] इसके बावजूद भी स्वाधीनता आंदोलन के दौरान साम्राज्यवाद और उसके 'टूल्स' को समझने में जो कमी मुख्यधारा के राष्ट्रवादी नेतृत्व की थी, वही कमी एक अन्य सतह पर उसके समर्थक साहित्यिक विचारकों व लेखकों की भी रही।

प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान पूरी दुनिया को इसकी तबाही का अहसास हो चुका था। बड़े पैमाने पर जान-माल की हानि, वैश्विक आर्थिक मंदी आदि को देखकर बड़े पैमाने पर शांति की कोशिशें चली। लेकिन पहले विश्वयुद्ध का परिणाम किसी भी शांति की संभावना के ख़िलाफ़ थी। इस युद्ध ने विश्व राजनीति में बड़े फ़ेरबदल किए। मित्रराष्ट्रों की लपलपाती साम्राज्यवादी जीभ और नोच-खसोंट की नीति ने विश्व को एक और महायुद्ध की तरफ धकेला। हारे हुए जर्मनी के ऊपर अत्यंत शर्मनाकपूर्ण 'वर्साय की संधि' लाद दी गई और उसे हर तरह से पंगु बना देने की कोशिश की गई। उसे इस शर्त पर नि:शस्त्र किया गया कि विजयी राष्ट्र भी अपने-अपने सैनिकों और शस्त्रें को घटाएंगे, लेकिन फ्रांस, इटली, इंग्लैंड आदि ने इस समझौते का लगातार उल्लंघन किया। जर्मनी को ऐसे में कैसे रोका जा सकता था! प्रेमचंद इन स्थितियों को देख रहे थे-

''जर्मनी इस बात पर तुला है कि वह दूसरे राष्ट्रों की भाँति खूब अस्त्र-शस्त्र बढ़ाएगा। मौशियो मुसोलिनी उसकी पीठ ठोंक रहे हैं। फ्रांस और ब्रिटेन की साँस फूल रही है। जर्मनी यों मानने वाला नहीं। राष्ट्रसंघ की उसे परवाह नहीं है। तो क्या फ्रांस और इंग्लैंड यों ही चुपचाप बैठे देखते रहेंगे? इधर भी जोरों से तैयारियाँ हो रही हैं। बारूद तैयार है केवल चिंगारी की देर है। पिछले महायुद्ध में न्याय मित्रराष्ट्रों के साथ था। अब की बार न्याय जर्मनी के साथ है।''[54]

यहाँ प्रेमचंद की पक्षधरता जर्मनी अथवा किसी राष्ट्र की हथियारबंदी की तरफ नहीं है अपितु वे इस पूरे घटनाक्रम को उसके सन्दर्भ में देख रहे हैं। विश्वयुद्ध के बाद शांति-स्थापना के लिए मित्रराष्ट्रों ने जो प्रयास चलाए थे उसके पीछे उद्देश्य यह नहीं था कि दुनिया में नि:शस्त्रीकरण के लिए प्रयास तेज़ किए जाए; बल्कि उनके अपने हित और 'शक्ति-बढ़ोतरी' ही उनके प्राथमिक लक्ष्य थे। इन देशों ने 'बर्साय की संधि' को तत्कालीन साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा में स्वयं को सुरक्षित करने तथा अपने प्रतिद्वंद्वियों को आर्थिक और सामरिक दृष्टि से समित और कमज़ोर कर देने के लिए उपयोग में लाया। प्रेमचंद मित्रराष्ट्रों की इन नीतियों के पीछे छिपे उनके उद्देश्यों और इस पूरे

संदर्भ पर लिखते हैं- ''जर्मनी युद्ध में हारा ज़रूर, मगर इसका अर्थ यह नहीं है कि उसने सदैव के लिए अपने को मित्रराष्ट्रों के हाथ बेच दिया है, अपने स्वच्छन्द जीवन का अंत कर दिया। आप लोग तो जिस से चाहे संधि करें, जितनी शक्ति चाहें बढ़ाएं, और अपने बल को खूब संगठित करें, और जर्मनी हाथ पर हाथ धरे बैठा रहे!''[55] प्रेमचंद साम्राज्यवाद के मुखर विरोधी थे, वह चाहे जापान का हो, जर्मनी का हो, इंग्लैंड अथवा फ्रांस का हो या किसी भी और देश द्वारा चलाया जा रहा हो। विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद मित्र राष्ट्रों द्वारा जर्मनी पर किए जा रहे अन्याय अंततः बुरे परिणाम लेकर सामने आएंगे, यह प्रेमचंद जानते थे। उनका दृष्टिकोण आलोचनात्मक है, इसलिए वे मित्रराष्ट्रों के मनमानापन के बजाय जर्मनी को जायज़ ठहराते हैं- 'जर्मनी का दावा न्यायसंगत है, इससे कोई निष्पक्ष आदमी इंकार नहीं कर सकता ...'[56]। ब्रिटेन के उपनिवेश के बतौर भारत की सेना को मित्रराष्ट्रों की ओर से लड़ना पड़ा था। इस युद्ध में मित्रराष्ट्रों में गणतंत्रों की प्रधानता थी। इस युद्ध में प्रजातंत्र की रक्षा का नारा दिया गया था, जिसकी जीत भी हुई और उन्हें एक नैतिक बल भी मिला था। लेकिन इन नारों और वायदों का खोखलापन तब उजागर होना शुरू हुआ जब उन्होंने अपने उपनिवेशों को आज़ाद नहीं किया और अपनी शोषण-नीतियों को उसी प्रकार बनाए रखा। ऐसे में प्रेमचंद की मित्रराष्ट्रों के प्रति यह प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जापान ने उग्रता के साथ साम्राज्यवाद की राह पर चलना शुरू किया। *लीग ऑफ़ नेशन्स* के लाख समझाने-बुझाने के बावजूद इसने कोरिया, मंचूरिया और फिर चीन पर हमले किए। दो महासमर के बीच का वह काल जब प्रेमचंद अपनी रचना प्रक्रिया को अंजाम दे रहे थे, मानव अस्तित्व के सामने नये-नये सवाल पैदा कर रहा था। पूँजीवाद का विकसित रूप या कहें कि उसका घृणित रूप साम्राज्यवाद अपने उन्माद के साथ विश्व रंगमंच पर उपस्थित था। साम्राज्यवादियों के आपसी हितों की टकराहट से दूसरे विश्वयुद्ध की अनुगूँज सुनाई पड़ रही थी। ऐसे में प्रेमचंद जैसे लेखकों का यह ऐतिहासिक कर्त्तव्य हो गया था कि वे न सिर्फ़ इन साम्राज्यवादी नीतियों का विरोध करें, बल्कि आम जन को अंधराष्ट्रवाद से उत्पन्न युद्धोन्माद से आगाह करते रहे। भारत के पराधीन होने से उनकी यह जिम्मेदारी घटती नहीं है बल्कि और बढ़ जाती है, क्योंकि तब भारतीय जनता को उस युद्ध से उत्पन्न तबाही की क़ीमत चुकानी होती थी जो उस पर जबरन लाद दिया गया, जिसमें उसकी मर्ज़ी का कोई महत्व नहीं रह गया था तथा जिसमें उसकी जीत उसके शासकों और शोषकों की जीत होती। जापान, जिसने अपनी सैन्य शक्ति से चीन

आदि देशों को रौंदने की नीति अपनायी, के प्रति प्रेमचंद लिखते हैं- ''कोई देश कितनी वज्र नीचता कर सकता है, कोई देश अपने पड़ोसी के साथ कैसी घोर दुष्टता का व्यवहार कर सकता है, कोई देश प्रत्येक साम्राज्यवादी देश का अंत देखते हुए भी इतिहास से कैसे आँखे मूंद सकता है, इसका उदहारण है जापान और जापान से आज हम उतनी ही नफ़रत करते हैं जितने का वह पात्र है। और इसलिए हम बार-बार कहतें हैं कि यह कैसे संभव है जापान भारत की सहानुभूति की आशा करे''[57] साम्राज्यवाद एक अंतर्राष्ट्रीय परिघटना है जो कमज़ोर देशों और वर्गों का प्रत्यक्ष शोषण और दमन पर टिका है। जापान एशिया की एक महाशक्ति के रूप में यद्यपि यूरोपीय शक्तियों को ज़बरदस्त चुनौती दे रहा था, लेकिन उसका चरित्र भी चूंकि उन मूल्यों के ख़िलाफ़ था जिसे प्रेमचंद अपनी रचनाओं और चिंतन-प्रक्रिया में साध रहे होते हैं; अतः उसके प्रति एक स्वाभाविक आलोचना उनके अंदर थी।

उस दौर में साम्राज्यवादी शक्तियों के उत्पात और उद्दंडता के प्रति विश्व-शांति स्थापित करने में लगी शक्तियां जैसे अमेरिका, इंग्लैंड आदि राष्ट्रों का क्या रवैया रहेगा, यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर था कि सामने वाला वह तीसरा राष्ट्र कौन है तथा जापान का उस पर हमला करने से उन्हें क्या फ़ायदा अथवा नुकसान हो सकता है। विश्व-राजनीति के इस तोड़-फोड़ और इसके गुणा-गणित को समझने की कोशिश वे इस तरह करते हैं- ''इंग्लैंड ने देखा जापान से लोहा लेना मुश्किल है, तो सर जॉन साइमन ने जापान की कठिनाइयों और परिस्थितियों से हमदर्दी दिखा दी। इटली और जापान में तनातनी है। उनमें से कोई बोल नहीं सकता। रह गया अमेरिका। वह भी डरता है, कि जापान के सामने आए और फिलिपांइस हाथ से गया। रूस की पालिसी जनता में जागृति पैदा करना है और अब इसी एक पालिसी पर सब राष्ट्र आस लगाए बैठे हैं। जापान की जनता को ऐसा भरा जाए कि वह अपने अधिकारियों के साम्राज्यवाद में सहयोग देना छोड़ दे।''[58] अपने नुकसान और फ़ायदे के गणित को भली-भांति देख-समझ कर ही ये राष्ट्र जापान की उद्दंडता का विरोध या मूक समर्थन करते थे, प्रेमचंद इन सच्चाइयों से अवगत थे।

साम्राज्यवादी होड़ के बीच उनकी आपसी समझदारी और लाभ-हानि के गणित को समझना महत्वपूर्ण है। अपने-अपने उपनिवेशों को बचाने और बढ़ाने में लगी इन ताक़तों की शांति-स्थापना के लिए प्रतिबद्धता उनके साम्राज्यी नफ़े-नुकसान से ही तय हो रही थी। इन स्थितियों में रूस की

ओर उम्मीद की आस लगाना महत्वपूर्ण है। बोल्शेविक क्रांति के बाद रूस ने साम्राज्यवाद को कड़ी चुनौती दी। उसने उन सारे उपनिवेशों को मुक्त कर दिया जिसे ज़ारशाही ने जीता था। 'क्रांतिकारी अपमान' झेलकर भी उसने स्वयं को युद्ध से बाहर कर लिया। हिटलर के नेतृत्त्व में जब जर्मनी साम्राज्यवाद का पर्याय बनकर दूसरे विश्वयुद्ध की गर्जना कर रहा था तब उसका निर्णायक रूप से रूस ने ही उसका रास्ता रोका। साम्राज्यवाद के अंतर्राष्ट्रीय संदर्भों के बीच रूस से उम्मीद रखना इसकी वर्गीय राजनीति को समझने से ही संभव है। साम्राज्यवादी नीतियां केवल अपने उपनिवेशों के लिए ही शोषक नहीं होतीं; वह अपने देश की जनता के प्रति भी अनुदार होती हैं। युद्धोन्माद, हथियारबंदी, सेना, युद्ध आदि पर पड़ने वाले ख़र्च का वहन उस देश की जनता को ही करना पड़ता है। इस दौरान उनके ऊपर कर बढ़ाए जाते हैं, उन्हें जान-माल की हानि उठानी पड़ती है, उनके मौलिक और लोकतांत्रिक अधिकारों का स्थगन हो जाता है, आदि। अतः प्रेमचंद का रूस और उसके सिद्धांतों के प्रति उम्मीद करना साम्राज्यवाद को किसी राष्ट्र-विशेष की नज़र से नहीं बल्कि आम जनता की नज़र से और जनपक्षधरता के साथ देखना है।

ऐसा नहीं है कि जापान की साम्राज्यवादी नीतियों को लेकर सभी देश चुप ही रहें। अमेरिका ने दबे स्वरों में उसका विरोध भी किया। लेकिन इस विरोध करने के पीछे उनकी मंशा दुनिया में शांति स्थापना के प्रयास करना या साम्राज्यवाद का ही विरोध करना नहीं था, बल्कि जापान उसके प्रतिद्वंद्वी के रूप में तेज़ी से उभर रही शक्ति थी जिसे वैश्विक स्तर पर अलगाव में डालना उसके लिए ज़रूरी था। प्रेमचंद विरोध करने की इस 'समझदारी' के ऊपर व्यंग्य करते हैं- ''अमेरिका उसकी उग्रता तथा प्रगति का किसी नैतिकता से नहीं, दार्शनिकता या दयालुता से नहीं, पर कोरे द्वेष के कारण विरोध करना चाहता है। एक म्यान में दो तलवार, एक वन में दो सिंह, नहीं रह सकते। उधर ब्रिटेन के लिए भी भारत तथा ऑस्ट्रेलिया तथा अन्य उपनिवेशों के कारण प्रशांत महासागर बड़ा महत्वपूर्ण है।''[59] इसी प्रकार जब जापान आगे बढ़कर तथा राष्ट्रसंघ आदि को धता बताकर चीन के उत्तरीय भाग पर कब्जा कर लेता है तथा चीन को कई भागों में बाँटकर अपना शासन स्थापित करता है और ऐसे में भी अपने को विश्व समुदाय का मुखिया मानने वाले अमेरिका और इंग्लैंड चुप रह जाते हैं। तब प्रेमचंद को इनकी 'मुखियागिरी' समझते देर नहीं लगती। अमेरिका अपनी आर्थिक मंदी से जूझने का लाख बहाना बनाए प्रेमचंद इसके पीछे छिपे सच्चाई को देख लेते हैं और बिना लाग-लपेट के सामने रखते हैं। वे लिखते हैं - ''हम तो यह नहीं मानते कि आर्थिक

संकट और अन्य संकटों के कारण कोई राष्ट्र इस दशा में नहीं है कि जापान से कुछ कह सके। इंग्लैंड और अमेरिका के स्वार्थ पर अगर प्रत्यक्ष रूप से कोई आघात होता तो उसे आर्थिक संकट की बिलकुल चिंता न होती। ... बात यह है कि चीन में बोल्शेविज़्म का असर बढ़ता जाता था और संभव था कि दस-बीस वर्ष में चीन और रूस दोनों ही एक संयुक्त सोवियत शासन स्थापित कर लेते। ...इंग्लैंड, फ्रांस और जर्मनी के बूते की न थी कि वे इस प्रवाह को रोक लेते। जापान ने चीन पर आक्रमण करके उस समस्या को कम-से-कम पचास साल के लिए पीछे धकेल दिया। और यही कारण है, सब के सब दिल में जापान को दुआएं दे रहे हैं कि उसने आकर उन सबों की लाज रख ली।''[60] 1848 ई. में लिखा गया 'कम्युनिस्ट घोषणपत्र' में लिखा गया है कि 'आज यूरोप को कम्यूनिज़्म का भूत सता रहा है'। 1917 में रूस में हुई बोल्शेविक क्रांति के बाद इस भूत का अवतरण हो चुका था। रूस के बाद चीन में भी इसकी संभावनाएं तेज़ी से उभरने लगी थीं। जापान द्वारा चीन पर हमला करने और उस पर अन्य साम्राज्यवादियों के चुप रह जाने को प्रेमचंद बोल्शेविज़्म की संभावनाओं को ख़त्म करने की उनकी मंशा से जोड़ते हैं।

प्रत्यक्ष साम्राज्यवाद के उस दौर में भी आज की ही तरह साम्राज्यवादियों का एक लक्ष्य तेल उत्पादक प्रान्तों पर आधिपत्य करना था। तेल का महत्व उस समय भी उतना ही था जितना कि आज। ''यदि आज महासमर हो जावे तो जो राष्ट्र तेल के सोतों पर अधिकार रख सकेगा वही विजयी होगा''[61] प्रेमचंद अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में तेल का महत्व जानते हैं। विश्व शक्तियों द्वारा अनेक तरह के हथकंडे अपनाकर तेल उत्पादक राष्ट्रों को घेरने की कोशिश या षडयंत्र उस समय भी चल रहे थे। ईरान जो कि एक तेल उत्पादक राष्ट्र है के ब्रिटिश भक्त शाह ने 1901 में ब्रिटेन को 1961 तक देश भर के तेल के सोतों से तेल निकलने की आज्ञा दी, या कहें कि ब्रिटेन की आज्ञा का पालन किया था। लेकिन आगे चलकर जब वहाँ लोकतंत्र बहाल हुआ तो वहाँ की सरकार ने उस अनुबंध को मानने से इंकार कर दिया, जिससे एक विवाद उत्पन्न हुआ। ऐसे समय में प्रेमचंद ईरान का पक्ष लेते हुए तर्क देते हैं- ''यदि रूस यह कह सकता है कि ज़ार ने रूस की प्रजा की इच्छा के विरूद्ध इस के लिए विदेशी राज्य से कर्जा लिया था और उसे चुकाने के लिए रूस तैयार नहीं है, तथा यही बात तुर्किस्तान की ओर से भी विगत लासेन-कांफ्रेंस में उठाई जा सकती थी, तो ईरान भी इसी बुनियाद पर यदि प्रजाहित के विरुद्ध प्रजा की इच्छा के विरूद्ध किए गए एक अत्यंत दूषित कार्य के सुधार का निश्चय कर ले तो ब्रिटेन को उसे धमकाना नहीं चाहिए। ईरान ने साफ

कह दिया है कि ईरानी स्वयं अपना तेल निकालेंगे और हमारी समझ में उन्हें यह कहने का हक़ है।''[62] यह प्रेमचंद का साम्राज्यवादी मंसूबों के ख़िलाफ़ न्याय के पक्ष में खड़ा होने का उदाहरण है। यही नहीं जब इंग्लैंड बर्मा, जो कि भारतीय उपमहाद्वीप के भीतर एक तेल उत्पादक प्रान्त था, को भारत से अलग करना चाहता है, तब वह प्रेमचंद की दूरदर्शिता ही थी जिसने बर्मा को भारत से अलग करने की अंग्रेजी चाल को समझा और 'बर्मा हित' के पीछे छिपे साम्राज्यवादी मुसूबों का पर्दाफ़ाश किया। वे स्पष्ट लिखते हैं –''बर्मा हित की बात तो एक आडंबर मात्र है। एकमात्र वस्तु एकमात्र कारण जिससे अनायास ब्रिटेन को बर्मा का हित 'परेशान' कर रहा है, वह है बर्मा का तेल, बर्मा का चावल, बर्मा का कोयला, बर्मा की चाय, और बर्मा का जहाजी अड्डा रंगून –और प्रकृति के यही वरदान इस समय बर्मा के लिए सबसे बड़े शत्रु हो रहे हैं। इन्ही को अपनी मुट्ठी में रखने के लिए, बर्मा की जनता को वास्तविक अधिकार न देकर, भारत से अलग कर, दुर्बल बनाकर, बर्मा को पराधीन रखने का षडयंत्र किया जा रहा है।''[63] यह साम्राज्यवादी विभाजन औपनिवेशिक जनता के हित के लिए नहीं बल्कि अपने लूटतंत्र को सुविधापूर्वक चलाने के उद्देश्य से किया जा रहा था।

20वीं सदी के वे दशक जब दुनिया साम्राज्यवादी युद्धों में चाहे–अनचाहे घिरा हुआ था, उपनिवेशवाद के ख़िलाफ़ विश्वव्यापी आंदोलनों और राष्ट्रवादी क्रांतियों का दौर है। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान भारत के राष्ट्रवादी आंदोलनों का साम्राज्यवाद के साथ जो अंतर्विरोध थे, वे सीधे और सपाट तरीके से यहां की राजनीतिक फ़लक पर नहीं आ रहे थे। मुख्यधारा के राष्ट्रवादियों, कांग्रेस और गांधीजी ने अपने आंदोलनों में साम्राज्यवाद की जो आलोचना प्रस्तुत की और जिस वैचारिक धरातल पर जाकर उन्होंने आंदालनों का नेत्तृत्व किया वह साम्राज्यवाद–विरोध को लेकर स्पष्ट नहीं था। साम्राज्यवाद पूंजीवाद की एक ख़ास अवस्था है और अपनी पूरी बनावट में वर्गीय भी। ढुलमुल वर्गीय पक्षधरता के कारण राष्ट्रवादियो के बड़े समुह ने साम्राज्यवाद को सीमित तरीके से देखा। हिन्दी के कथेतर गद्य में इस संबंध में व्यक्त किए गए विचार अपनी सजगता और प्रगतिशीलता के साथ इन सीमाओं के बाहर–भीतर होते रहते हैं।

जिस राष्ट्रवादी संकल्पना के साथ हिन्दी के कथेतर गद्य लेखन में साम्राज्यवाद को लेकर विमर्श खड़े हो रहे थे उसके स्वरूप पर विस्तार से चर्चा और अध्ययन की गुंजाईश है। लेकिन इतना

अवश्य है कि भारत में चल रहे आंदोलनों को समझने के लिए और सही मायनों में एक साम्राज्यवाद-विरोधी आलोचना के लिए नेतृत्त्वकारी वर्ग के चरित्र को समझना ज़रूरी था। 1930 के सविनय अवज्ञा आंदोलन की असफलताओं के बाद उसके कारणों की टोह लेते हुए मई, 1935 में 'विशाल भारत' में एक लेख छपा। लेखिका हैं- सावित्री देवी। इसमें उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन की वर्गीय शिनाख़्त की है। शीर्षक है- 'सविनय अवज्ञा आंदोलन की असफलता'।[64] इसमें उन्होंने ज़ोर देकर पहले इस बात को स्थापित किया है कि किसी नेता के अच्छे या बुरे होने से आंदोलन या क्रांति की सफलता और असफलता तय नहीं होती; बल्कि यह उसमें शामिल वर्गों की साम्राज्यवादियों से संबंध से अधिक निर्धारित होती है। इस लेख में उन्होंने भारत की समूची जनता को चार वर्गों में बांटकर देखा है-

(1) मध्ययुग के अवशेष- अर्थात् हिन्दुस्तानी राजे महाराजे, ताल्लुकेदार, बड़े-बड़े ज़मींदार और साहूकार

(2) भारतीय पूंजीपति- अर्थात् मिल-मालिक, मकान किराए पर उठाने वाले आदि

(3) निम्न मध्यम श्रेणी- अर्थात् वकील, डॉक्टर, छोटे-छोटे दूकानदार आदि

(4) मज़दूर और किसान

साम्राज्यवाद के संदर्भ में इन सभी वर्गों की अलग-अलग स्थिति थी। लेखिका ने सभी वर्गों के बारे में विस्तार से चर्चा किया है- ''जिस श्रेणी को हमने मध्य-युग के अवशेष कहा है, उसका अस्तित्व ही वास्तव में साम्राज्यवाद की इच्छा पर है, और इसलिए लाजमी तौर पर उन्हें ठकुरसुहाता व्यवहार रखाना पड़ता है। यदि वे ज़रा भी कोई प्रयत्न करें, जिसमें साम्राज्यवाद को स्वाधीनता की बू आने लगे, तो उनका तख़्त और ताज छिन जाने का भय है।''[65] दूसरे वर्ग अर्थात् भारतीय पूंजीपति वर्ग के बारे में लेखिका कहती हैं-''... भारतीय आंदोलन का कर्णधार- चाहे आंदोलन वैद्य हो या अवैद्य- इसी वर्ग के लोग रहे हैं।... 'स्वदेशी', हिन्दुस्तानी ख़रीदों' के नारे इसी वर्ग ने शुरू किए हैं, क्योंकि इनकी लड़ाई ही बाज़ार की लड़ाई है, अर्थात् भारतीय जनसाधारण से ब्रिटिश पूंजीपति जो लाभ उठा रहे हैं, उसमें ये भी हिस्सा बांटना चाहते हैं। इसीलिए भारतीय उद्योगों को 'संरक्षण' मिलना चाहिए आदि मांगे पेश की जाती है।... उनमें न तो इतना साहस है और न नैतिक बल ही

कि वे बहादुरी के साथ यह ऐलान कर सकें कि हम ब्रिटिश साम्राज्य से संबंध विच्छेद करना चाहते हैं। इसीलिए वे रह-रहकर 'सम्मानपूर्वक समझौता' करने की मांग पेश किया करते हैं या अपने 'विरोधियों' का हृदय-परिवर्तन करने की आशा करते हैं।''[66] तीसरा वर्ग निम्न-मध्यम श्रेणी का है जिसकी स्थिति लेखिका के अनुसार ''... घड़ी के पेंडुलम का-सा होता है। फिर इसका अस्तित्व भी सामयिक शासन के ही ऊपर निर्भर है, क्योंकि अदालत, कॉलेज, सरकारी नौकर आदि न रहें, तो इसका कहीं ठिकाना भी नहीं। इसलिए राजनीति, धर्म, समाज आदि मामलों में यह वर्ग अपने भाव, नीति और विचार अनिश्चित ढंग से प्रकट करता है। यद्यपि कभी-कभी जोश में आकर यह उग्र प्रजातंत्रवाद और क्रांति के नारे भी लगाने लगाने लगता है। ... पर इस वर्ग से सही रास्ते पर जनसाधारण का नेतृत्व करने की आशा करना भूल होगी।''[67] चौथे वर्ग अर्थात् किसान-मज़दूरों से लेखिका को उम्मीद है कि ''...भारत की स्वाधीनता की समस्या उन्हीं को हल करनी होगी। यह ठीक भी है, क्योंकि यही वर्ग तो ऐसा है, जिसका मौजूदा समाज में कोई भी अधिकार नहीं, यद्यपि सारे समाज का भार उसी के कंधे पर है।''[68] यह साम्राज्यवाद को उसकी समग्रता में समझ कर उसके 'टूल्स' की शिनाख़्त है। लेखिका ने भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों की उस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को सामने रखा है जो एक औपनिवेशिक देश में उन्हें वर्गीय रूप से 'रेस्पॉन्ड' करना था।

लेखिका ने यह ठीक ही पकड़ा कि साम्राज्यवादियों की अधीनता का आधार महज़ सैनिक व्यवस्था नहीं थी; उन्होंने भारतीय जनता के श्रम पर आश्रित वर्गों जैसे ज़मीदारों, ताल्लुकेदारों, नवाबों आदि का सहारा लेकर ही इस देश को अपने अधीन किया था। इन वर्गों ने औपनिवेशिक शासन-व्यवस्था को सुदृढ़ किया था। इनके अपने स्वार्थ का ब्रिटिश शासन द्वारा विशेष ध्यान दिया जाता था। मिल-मालिकों की भी कमोबेश यही स्थिति थी। वे किसी भी क़ीमत पर अंग्रेज़ों को खुश रखना चाहते थे ताकि उनके उद्योगों को संरक्षण मिलता रहे। स्थानीय महाजन, छोटे सामंत आदि का भी वर्गीय स्वार्थ तत्कालीन शासन-व्यवस्था से टकरा नहीं रही थी। ये भी उनके सहायक बने हुए थे। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की यह बड़ी 'ट्रैजेडी' थी कि यही वर्ग उस समय इसे नेतृत्व भी प्रदान कर रहे थे। 'गोदान' का ज़मींदार रायबहादुर एक ओर अपने आसामियों का जमकर शोषण भी करते थे और दूसरी तरफ आज़ादी की लड़ाई में जेल भी जाते हैं। क्रांतिकारी वर्ग मज़दूर ही थे, और किसान। सावित्री देवी का यह लेख साम्राज्यवाद के साथ भारतीय जनता का वर्गीय संबंधों को उजागर करने वाला महत्त्वपूर्ण लेख है।

साम्यवादी विचारों के प्रचारक और पूरे राष्ट्रीय आंदोलन की वर्गीय आलोचना करने वाले लेखक राधामोहन गोकुल भी साम्राज्यवाद से मुक्ति के लिए किसानों-मज़दूरों को ही सबसे विश्वसनीय आधार वर्ग मानते हैं। 16 जनवरी, 1926 को 'साम्यवादी' में प्रकाशित उनका लेख 'किसानों-मज़दूरों से निवेदन' में वे लिखते हैं- ''प्यारे किसान और मज़दूरों, आज हम कम्युनिस्ट, साम्यवादी, आपके पास आए हैं और आपकी आंखें खोलना चाहते हैं। हम चाहते हैं कि आपकी लूटती हुई संपत्ति बचाई जाए। बड़-बड़े मनुष्य और बाजे-गाजे वाले शौकीन तथा धनवान नेता आपका उद्धार नहीं कर सकते। आपकी भलाई आपके जैसे गरीब और अपने हाथ से मेहनत-मजूरी करने वाले साम्यवादियों से ही होगी।''[69] जिन रैयतदारों और रजवाड़ों के हित को आंच नहीं आने देने की रणनीति राष्ट्रवादी नेताओं ने लम्बे समय से अपना रखी थी, राधामोहन गोकुल उसके संबंध में एक अन्य लेख 'देसी रजवाड़े' में लिखते हैं- ''यह लोग अपना अस्तित्व ज्यों का त्यों बनाए रखने की गरज से हमेशा ही ब्रिटिश सरकार की खुशामद किया करते हैं। ब्रिटिश सरकार की कृपा-कटाक्ष ही इनका जीवन और उसकी तिरछी नज़र इनके लिए यमराज है।... भारत निवासी यदि हिताहित का यथेष्ट ज्ञान रखते हों तो इन्हें देसी रजवाड़ों के मामले में ध्यान ही न देना चाहिए। देसी रजवाड़े हमारे बंधन और दृढ़ करने वाले हैं- इनका मिट जाना देश के लिए मंगलकारी ही होगा।''[70] यह भारत की जनता को साम्राज्यवाद और उसके सहायक वर्गों के ख़िलाफ़ खड़ा करने की कोशिश है। भारतीय स्वाधीनता आंदोलन में वैचारिक स्तर पर एक समानांतर विमर्श और वर्गीय स्पष्टता के कारण ये लेखन महत्त्वपूर्ण हैं। भारत रजवाड़ों ने 1857 में आंदोलन के समय अंग्रजों के विरोध में उठ खड़ी हुई विद्रोह की चेतना को समर्थन दिया था। लेकिन उसके दमन और उनके अपने क्षेत्रों में ब्रिटिश सरकार के सीधे हस्तक्षेप ने उन्हें राष्ट्रीय आंदोलनों के प्रति 'तटस्थ' और ब्रिटिश सरकार का समर्थक बना दिया था। गांधीवादी नेता और लेखक माखनलाल चतुर्वेदी ने अपनी एक संपादकीय टिप्पणी में लिखा- ''ब्रिटिश सरकार तथा रियासतों के राजा-महाराजाओं का परस्पर में राजनैतिक सम्बन्ध चाहे जो हो, परन्तु यह बात सत्य है कि उनका प्रकट संबंध आज्ञा देने और पालन करने वालों की तरह है।''[71]

साम्राज्यवाद के विरोध में उठ खड़ी हो रही जनआकांक्षाओं और आंदोलनों को लेकर गांधी और स्वाधीनता आंदोलन की मुख्यधारा हमेशा ही आशंकित रहा। उन्हें सदा यह भय सताता कि कहीं यह संघर्ष वर्ग-संघर्ष में न तब्दील हो जाए! यही कारण है कि आंदोलनों को इस प्रकार नियंत्रित

रखने कि इसे कभी भी स्थगित किया जा सके के लिए उन्होंने 'सत्य, अहिंसा और त्याग' को अपना सिद्धांत बनाया। अपने व्यक्तिगत जीवन में वे इस रास्ते पर चलते थे या नहीं, यह सवाल यहां महत्त्वपूर्ण नहीं है। क्योंकि गांधी का यह सिद्धांत राजनीतिक था, और एक जीवन-दृष्टि भी; जिसे उन्होंने पूरे राष्ट्रीय आंदोलन पर डाल दिया था। इसी का सहारा लेकर वे किसानों को ज़मींदारों के ख़िलाफ़ जाने से रोकते रहे, उन्हें कर देते रहने का 'अनुरोध' किया, दलितों को वर्णाश्रम व्यवस्था और ब्राह्मणवादी तत्वों के विरोध में उठने से रोका, मज़दूरों को मालिकों के साथ मिलकर रहने की बात कही। 1922 में उन्होंने चौरी-चौरा कांड को 'अहिंसक' कहकर 'असहयोग आंदोलन' को वापस ले लिया था। यह दर्शन आंदोलनरत जनता को भौतिक दृष्टिकोण से काटकर एक ऐसे आध्यात्म की ओर ढकेलने वाला था जो हर प्रकार के शोषण को सहते जाने और उसका प्रतिकार न करने की प्रेरणा देने वाला था। समग्र राष्ट्रीय आंदोलन में विचारधारा के स्तर पर गांधीवाद और मार्क्सवाद में टकराहट होती रही। गांधी स्वयं को साम्यवादी भी कहते रहे और उसके प्रभाव-प्रसार को रोकने के लिए एड़ी-चोटी का ज़ोर भी लगाते रहे। हिन्दी के मार्क्सवादी लेखक यशपाल ने गांधीवाद की खरी आलोचना की और साम्राज्यवादी लूट-खसोंट के सामने उसकी बेबसी और सहायक भूमिका को चिह्नित किया। इसका प्रखर रूप 'गांधीवाद की शवपरीक्षा' में सामने आता है। यह पुस्तक 1941 में छपी और ख़ासा विवादित रही। पुस्तक की भूमिका में उन्होंने लिखा- ''गांधीवाद भी अध्यात्म अथवा शाश्वत सत्य-अहिंसा के नाम पर समाज की आर्थिक व्यवस्था को परम्परागत अर्थात् सामन्तकालीन और पूंजीवादी ढंग पर यथावत रखने का ही प्रयत्न है।''[72] इसी पुस्तक के एक अध्याय 'हिंसा अहिंसा का आध्यात्मिक और भौतिक दृष्टिकोण' में वे लिखते हैं- ''अध्यात्मवाद और गांधीवाद के अनुसार धन पर साधनों के स्वामी के शाश्वत अधिकार के विश्वास ने ही इस प्रकार के नैतिक उपदेशों को जन्म दिया है कि प्रजा, दास, सेवक या मज़दूर का धर्म अपने स्वामी का हित पूरा करने के लिए प्राण तक दे देता है। दास, सेवक या मज़दूर को कभी स्वामी बनने का विचार या आशा नहीं करनी चाहिए। अहिंसा और धर्म के नाम पर इसी सामंतवादी, पूंजीवादी धारणा का समर्थन करने के लिए गांधीवाद मज़दूरों के जीवन का यह आदर्श निश्चित करता है।... गांधीवाद शूद्र, दास, सेवक और मज़दूर की स्तुति करने और उन्हें सर्वोपरि भी मान लेने के लिए तैयार हैं, बशर्ते कि वे लोग स्वयं मालिक होने की इच्छा कभी न करें। शूद्र की ऐसी स्वयं स्वीकार की हुई दासता ही मालिकों के अधिकारों की सबसे बड़ी रक्षा और जमानत हो सकती है।''[73] गांधी अपने

इसी दर्शन के साथ भारतीय स्वाधीनता आंदोलन को नेतृत्त्व दे रहे थे। इस दर्शन में जनता के लिए मुक्ति का कोई फ़लसफ़ा तैयार नहीं होना था। लेकिन यही वास्तविकता है कि उस दौर में भारतीय राजनीति के केंद्र में गांधी थे, अपनी तमाम ख़ूबियों व सीमाओं के साथ। हिन्दी के अधिकांश लेखक उनके समर्थक थे। इसके बावजूद उन्होंने अपनी सीमाओं को तोड़ कर साम्राज्यवाद और भारत में उसके चरित्र को पहचाना।

साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ भारत में चल रहे स्वाधीनता आंदोलन में एक साथ कई विचारधाराओं का प्रवाह हो रहा था। साम्यवाद, गांधीवाद, राष्ट्रवाद, सांप्रदायिक हिन्दूवाद- सारी विचारधारा प्रमुखता से अपने पूरे प्रभाव के साथ मौजूद थे। आंदोलन और उसके नेतृत्त्व की दिशाबोध की अस्पष्टता, गड्डमड्ड विचारधारा और दिशाहीन रणनीति ने पूरे राष्ट्रीय आंदोलन को वर्गीय आधार पर ठोस नहीं होने दी। यही स्थिति कमोबेश हिन्दी के कई लेखकों के साथ भी रही। वे एक साथ गांधीवाद से भी प्रभावित थे और दूसरी ओर साम्यवाद से भी। हिन्दू सभ्यता और संस्कृति की श्रेष्ठता-बोध को भी वे मुखरता से नकार नहीं रहे थे और इसकी प्रगतिशील व्याख्यायें भी उनके साथ थी। स्वधीनता को लेकर गांधीवाद की स्वाभाविक नियति से भी वे इत्तफ़ाक रखते थे और भगत सिंह की प्रगतिशील राष्ट्रवाद और मुकम्मल स्वाधीनता को भी अपनी विचारधारा का आधार बनाया। साम्राज्यवाद और उसके भारतीय 'टूल्स' को समझने में कई बार उभर कर सामने आ रहे अंतर्विरोध का एक कारण विचारधारा की यही अस्पष्टता थी। 1947 में भारत ने साम्राज्यवाद पर राजनीतिक जीत तो हासिल कर ली, लेकिन साम्राज्यवाद के भारतीय संरक्षकों के ख़िलाफ़ कोई निर्णायक मोर्चा नहीं खुला। ज़मींदारों, पूंजीपतियों, महाजनों आदि उच्च वर्गों व उच्च मध्यम वर्गों को पुनः सत्ता मिली, साथ ही जनमानस के साथ उनके अंतर्विरोध बने रहे। टोबा टेक सिंह, देवीदीन खटिक और होरी की आकांक्षाओं को अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया गया। होरी को किसान से खेत मज़दूर और फिर दिहाड़ी पर काम करने वाला मज़दूर होना पड़ा और पहले की ही तरह उसे तबाह होने के लिए अब भी किसी अंग्रेज चरित्र की ज़रूरत नहीं थी। साम्राज्यवाद ने अपने स्वरूप और रणनीति बदल ली है।

संदर्भ सूची

1 वी. आई. लेनिन, 'साम्राज्यवाद: पूंजीवाद की उच्चतम अवस्था, अनु. चैतन्यकृष्ण, ग्रंथशिल्पी प्र., 2001, पृ. 51

2 वी. आई. लेनिन, 'साम्राज्यवाद: पूंजीवाद की उच्चतम अवस्था, अनु. चैतन्यकृष्ण, ग्रंथशिल्पी प्र., 2001, पृ. 52

3 वी. आई. लेनिन, 'साम्राज्यवाद: पूंजीवाद की उच्चतम अवस्था, अनु. चैतन्यकृष्ण, ग्रंथशिल्पी प्र., 2001, पृ. 64-65

4 Michael Collins, Banks and Industrial Finance in Britain, 1800-1939, Cambridge University Press, 1995 ; page- 93

5 वी. आई. लेनिन, 'साम्राज्यवाद: पूंजीवाद की उच्चतम अवस्था, अनु. चैतन्यकृष्ण, ग्रंथशिल्पी प्र., 2001, पृ. 75

6 वह पूंजी जो बैंकों द्वारा नियंत्रित होती है लेकिन उसे उद्योगपतियों द्वारा उद्योग में लगाया जाता है।

7 अलेक्सांद्र सुपान का अध्ययन, 'यूरोपीय उपनिवेशों का क्षेत्रीय विकास'; लेनिन द्वारा 'साम्राज्यवाद: पूंजीवाद की उच्चतम अवस्था, में उद्धृत पृ. 113
वेबसाइट-
https://www.marxists.org/archive/lenin/works/1916/ni-zeta/supan.htm

8 वही.

9 लेनिन, अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर और कम्युनिस्ट आंदोलन, प्रगति प्रकाशन, मास्को (अनुवादन व संपादन- ददन उपाध्याय), 1984, पृ. 217

10 प्रभात पटनायक, लेनिन का साम्राज्यवाद और समकालीन साम्राज्यवाद, लेनिन की पुस्तक 'साम्राज्यवाद: पूंजीवाद की उच्चतम अवस्था' की भूमिका के रूप में। ग्रंथशिल्पी प्र., 2001, पृ.10

11 एरिक हॉब्सबाम, अतिरेकों का युग; अनु. प्रकाश दीक्षित, संवादद प्रकाशन, 2009, पृ. 171

12 अन्ना लुई स्ट्रांग, स्तालीन युग; अनु. राजेश उपाध्याय, आरोही बुक ट्रस्ट, 2004, पृ. 109

13 अन्ना लुई स्ट्रांग, स्तालीन युग; अनु. राजेश उपाध्याय, आरोही बुक ट्रस्ट, 2004, पृ. 112 में उद्धरित

14 एरिक हॉब्सबाम, अतिरेकों का युग; अनु. प्रकाश दीक्षित, संवादद प्रकाशन, 2009 में इतिहासकार ने इस विषय पर विचार करते हुए इसका शीर्षक दिया है- 'साझा शत्रु के विरूद्ध'।

15 http://izquotes.com/quote/274047 ; हैरी ट्रूमैन के मशहूर वक्तव्य, जो 24 जून, 1941 में न्यूयार्क टाइम्स में छपा और 2 जुलाई 1951 को *टाइम* पत्रिका में।

16 अन्ना लुई स्ट्रांग, स्तालीन युग; अनु. राजेश उपाध्याय, आरोही बुक ट्रस्ट, 2004, पृ. 114 में उद्धरित

17 अन्ना लुई स्ट्रांग, स्तालीन युग; अनु. राजेश उपाध्याय, आरोही बुक ट्रस्ट, 2004, पृ. 121

18 एरिक हॉब्सबाम, पूंजी का युग; अनुवाद- वंदना राग, संवाद प्रकाशन 2009, पृ. 119

[19] लेख, राष्ट्रीय आंदोलन का प्रारंभ : विद्रोह से आंदोलन की ओर, के. एन. पणिक्कर, अनुवाद-जवरीमल्ल पारख; 1857: महाक्रांति या महाविद्रोह, प्रवीण प्रकाशन, 2009 में संकलित, पृ. 279

[20] लेख, राष्ट्रीय आंदोलन का प्रारंभ : विद्रोह से आंदोलन की ओर, के. एन. पणिक्कर, अनुवाद-जवरीमल्ल पारख; 1857: महाक्रांति या महाविद्रोह, प्रवीण प्रकाशन, 2009 में संकलित, पृ. 279

[21] रजनी पाम दत्त, भारत: वर्तमान और भावी; पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड, 2007, पृ. 123; इन्होंने कांग्रेस की भूमिका के संदर्भ में ए. ओ. ह्यूम की धारणा को भी उधृत किया है- ''हमारे अपने कामों से जो विराट और बढ़ती हुई शक्तियां भारत में पैदा हो गई थीं, हिफ़ाज़त के साथ उनका सारा जोश बाहर निकाल देने के लिए एक यंत्र की ज़रूरत थी; और इस काम के लिए हमारे कांग्रेस आंदोलन से ज़्यादा कारगर कोई यंत्र नहीं बनाया जा सकता था।'' (वही. पृ. 126-27)

[22] रजनी पाम दत्त, भारत: वर्तमान और भावी; पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड, पृ. 132 में उधृत।

[23] रजनी पाम दत्त, भारत: वर्तमान और भावी; पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड, पृ. 128

[24] रजनी पाम दत्त, भारत: वर्तमान और भावी; पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड, पृ. 132

[25] रजनी पाम दत्त, भारत: वर्तमान और भावी; पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड, पृ. 133

[26] रजनी पाम दत्त, भारत: वर्तमान और भावी; पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड, पृ. 135

[27] एरिक हॉब्सबाम ने अपने इतिहास-ग्रंथ में इस सदी को 'दी एज ऑफ़ एक्सट्रिम्स' अर्थात 'अतिवादों का युग' कहा।

[28] 20वीं सदी के शुरूआती दशक से ही सामाजिक-राजनैतिक रूप से प्रभावशाली एक वर्ग आर्य-सभ्यता और इसके धर्म की 'महानता' की घोषणा कर औपनिवेशि नीतियों और शासन-व्यवस्था पर मुखर हो गया था। 'भारतीय' सभ्यता और संस्कृति के रक्षक इस वर्ग की आधुनिकता की अपनी सीमायें थीं, लेकिन देश की जनता को एकजूट करने का उनका प्रयास महत्त्वपूर्ण था। साथ ही ये अन्य आधुनिकतावादियों का भी साथ नहीं छोड़ना चाहते थे। वे मुसलमानों के साथ कोई टकराव से भी बचना चाहते थे, जो राष्ट्रवाद के हिन्दूवादी आख्यानों में अनिवार्य रूप से निहित था। आगे चलकर महात्मा गांधी ने इसी हिन्दूवाद में

अनंत परिवर्तनों और व्यापक अस्पष्टताओं के बीच से सामाजिक आधुनिकताओं के बीज तलाशे। ख़ैर!

[29] क्रिस हरमन, विश्व का जन इतिहास, अनु. लाल बहादुर वर्मा, संवाद प्रकाशन, 2009; पृ. 389

[30] किसान राष्ट्रीय आंदोलन और प्रेमचंद: 1918-22- वीर भारत तलवार; वाणी प्रकाशन, 2008; पृ. 184

[31] प्रेमचंद: घर में, शिवरानी देवी; आत्माराम एण्ड संस, 2006; पृ. 117

[32] शिवकुमार मिश्र, ग़दर पार्टी से भगत सिंह तक, लोक प्रकाशक गृह, 2012, पृ. 16 में उद्धरित

[33] प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य (खण्ड-एक), संकलन-संपादन-लिप्यांतर- डॉ. कमलकिशोर गोयनका, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1988, पृ. 427

[34] आनन्द (समन्वय-सम्पादन), मैनेजर पाण्डेय (प्रस्तावना), यशपाल रचनावली खण्ड-11 में संकलित, लोकभारती प्रकाशन, 2007 पृ. 130

[35] समीर कुमार पाठक (संपादक), बालकृष्ण भट्ट रचनावली, खण्ड-4, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि. 2015, पृ. 456

[36] कर्मेन्दु शिशिर (सेंलन व संपादन), राधामोहन गोकुल समग्र भाग-2, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीव्यूटर्श (प्रा.) लि., 2009, पृ. 344-45

[37] कर्मेन्दु शिशिर (सेंलन व संपादन), राधामोहन गोकुल समग्र भाग-2, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीव्यूटर्श (प्रा.) लि., 2009, पृ. 219

[38] इस समय दुनिया भर के प्रख्यात बुद्धिजीवियों ने अपना समय और धन शांति स्थापना के लिए लगाया। यूरोप में अनेक समितियां बनीं। इटली में 55, फ्रांस में 36, इंग्लैंड में 22, अमेरिका में 17 और यहां तक कि लैटिन अमेरिका में 7 तथा ऑस्ट्रेलिया में 4 इस तरह की संस्थाएं काम कर रही थीं। लेकिन दुर्भाग्यपूर्ण तरीके से इन बुद्धिजीवियों और संस्थाओं के प्रयासों का प्रभाव प्राय: वहां की राजनीति और राजनयिकों पर नहीं पड़ पा रहा था। यद्यपि निरंतर कम होती जा रही संभावनाओं के बीच इन प्रयासों के चलते अलबामा के झगड़े, अर्जेंटीना-चीले सीमा विवाद, मोरक्को संकट आदि को टाला जा सका।

[39] सुरेश सलिल(सं.), गणेशशंकर विद्यार्थी; खण्ड-2, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीव्यूटर्श (प्रा.) लि., 2011, पृ. 94

[40] सुरेश सलिल(सं.), गणेशशंकर विद्यार्थी; खण्ड-2, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीव्यूटर्श (प्रा.) लि., 2011, पृ. 94

[41] सुरेश सलिल(सं.), गणेशशंकर विद्यार्थी; खण्ड-2, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीव्यूटर्श (प्रा.) लि., 2011, पृ. 131-32

[42] भारत यायावर (सं), महावीरप्रसाद द्विवेदी रचनावली; खण्ड-15, किताबघर, 1995 पृ. 571

[43] क्रिस हरमन, विश्व का जन इतिहास, अनु. लाल बहादुर वर्मा, संवाद प्रकाशन, 2009; पृ. 388

[44] सुरेश सलिल(सं.), गणेशशंकर विद्यार्थी; खण्ड-2, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्श (प्रा.) लि., 2011, पृ. 194

[45] आधुनिक भारत का आर्थिक इतिहास (1850-1947), सब्यसाची भट्टाचार्य; राजकमल प्रकाशन, पहला हिंदी संस्करण 1990, पृ. 173

[46] कर्मेन्दु शिशिर (सेंलन व संपादन), राधामोहन गोकुल समग्र भाग-2, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्श (प्रा.) लि., 2009, पृ. 259 में संकलित

[47] कर्मेन्दु शिशिर (सेंलन व संपादन), राधामोहन गोकुल समग्र भाग-2, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्श (प्रा.) लि., 2009, पृ. 265

[48] कर्मेन्दु शिशिर (सेंलन व संपादन), राधामोहन गोकुल समग्र भाग-2, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्श (प्रा.) लि., 2009, पृ. 267

[49] सुरेश सलिल(सं.), गणेशशंकर विद्यार्थी; खण्ड-2, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्श (प्रा.) लि., 2011, पृ. 236

[50] सुरेश सलिल(सं.), गणेशशंकर विद्यार्थी; खण्ड-2, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्श (प्रा.) लि., 2011, पृ. 237

[51] सुरेश सलिल(सं.), गणेशशंकर विद्यार्थी; खण्ड-2, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्श (प्रा.) लि., 2011, पृ. 248

[52] सुरेश सलिल(सं.), गणेशशंकर विद्यार्थी; खण्ड-2, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्श (प्रा.) लि., 2011, पृ. 177

[53] सुरेश सलिल(सं.), गणेशशंकर विद्यार्थी; खण्ड-2, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्श (प्रा.) लि., 2011, पृ. 51

[54] प्रेमचंद के विचार, प्रेमचंद (भाग-1) ; प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2008, पृ. 330-31

[55] प्रेमचंद के विचार, प्रेमचंद (भाग-1) ; प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2008, पृ. 277

[56] प्रेमचंद के विचार, प्रेमचंद (भाग-1) ; प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2008, पृ. 331

[57] प्रेमचंद के विचार, प्रेमचंद (भाग-1) ; प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2008, पृ. 303

[58] प्रेमचंद के विचार, प्रेमचंद (भाग-1) ; प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2008, पृ. 297

[59] प्रेमचंद के विचार, प्रेमचंद (भाग-1) ; प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2008, पृ. 329

[60] प्रेमचंद के विचार, प्रेमचंद (भाग-1) ; प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2008, पृ. 298

[61] प्रेमचंद के विचार, प्रेमचंद (भाग-1) ; प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2008, पृ. 284

[62] प्रेमचंद के विचार, प्रेमचंद (भाग-1) ; प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2008, पृ. 255

[63] प्रेमचंद के विचार, प्रेमचंद (भाग-1) ; प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2008, पृ. 302

[64] जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह (संकलन-संपादन), स्वाधीनता-संग्राम, हिन्दी प्रेस और स्त्री का वैकल्पिक क्षेत्र, में संकलित लेख; अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, 2006, पृ. 38

[65] जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह (संकलन-संपादन), स्वाधीनता-संग्राम, हिन्दी प्रेस और स्त्री का वैकल्पिक क्षेत्र, में संकलित लेख; अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, 2006, पृ. 40

[66] जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह (संकलन-संपादन), स्वाधीनता-संग्राम, हिन्दी प्रेस और स्त्री का वैकल्पिक क्षेत्र, में संकलित लेख; अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, 2006, पृ. 40-41

[67] जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह (संकलन-संपादन), स्वाधीनता-संग्राम, हिन्दी प्रेस और स्त्री का वैकल्पिक क्षेत्र, में संकलित लेख; अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, 2006, पृ. 41

[68] जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह (संकलन-संपादन), स्वाधीनता-संग्राम, हिन्दी प्रेस और स्त्री का वैकल्पिक क्षेत्र, में संकलित लेख; अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, 2006, पृ. 42

[69] कर्मेन्दु शिशिर (संकलन व संपादन), राधामोहन गोकुल समग्र भाग-2, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीव्यूटर्श (प्रा.) लि., 2009, पृ. 227

[70] कर्मेन्दु शिशिर (संकलन व संपादन), राधामोहन गोकुल समग्र भाग-2, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीव्यूटर्श (प्रा.) लि., 2009, पृ. 230-231

[71] श्रीकांत जोशी (संपादक), माखनलाल चतुर्वेदी रचनावली, भाग-9, वाणी प्रकाशन, 1995, पृ. 203

[72] आनन्द (समन्वय-सम्पादन), मैनेजर पाण्डेय (प्रस्तावना), यशपाल रचनावली खण्ड-11 में संकलित, लोकभारती प्रकाशन, 2007 पृ. 143

[73] आनन्द (समन्वय-सम्पादन), मैनेजर पाण्डेय (प्रस्तावना), यशपाल रचनावली खण्ड-11 में संकलित, लोकभारती प्रकाशन, 2007 पृ. 172-173

तीसरा अध्याय

बोल्शेविक क्रांति और हिन्दी का कथेतर गद्य

3.1 बाल्शेविक क्रांति

1917 में हुई बोल्शेविक क्रांति को इतिहासकार एरिक हॉब्सबाम ने 'युद्ध की संतान'[1] कहा है और अन्ना लुई स्ट्रांग ने इसे 'युद्ध से उपजी थकान'[2] से पैदा हुआ बताया है। इस क्रांति का नारा ही था- 'शांति, ज़मीन और रोटी'। पहले महायुद्ध ने यह साफ़ कर दिया कि ''... पुरानी दुनिया डूब गई है। पुराना समाज, पुराना अर्थतंत्र और पुरानी शासन पद्धतियों ने चीनी कहावत के अनुसार 'ईश्वर की सहमति खो दी थी'। मानवता को नए विकल्प की प्रतीक्षा थी। 1914 में ऐसे विकल्प स्पष्ट थे। यूरोप के अधिकांश देशों में समाजवादी पार्टियां, जिन्हें अपने देशों के विस्तृत होते हुए कामगार-वर्गों का समर्थन प्राप्त था और जो अपनी विजय के प्रति आश्वस्त थीं, इस विकल्प का प्रतिनिधित्व करती थीं। स्थिति ऐसी हो गई थी मानो जनता को उठ खड़े होने के लिए संकेत मात्र की ज़रूरत है, वह पूंजीवाद को समाजवाद से बदल देगी और इससे विश्व-युद्ध के निरर्थक संताप का रूपांतरण किसी अधिक सकारात्मक वस्तु में हो जाएगा। यह नए विश्व के प्रसवकाल की पीड़ा और अकुलाहट थी। अक्टूबर, 1917 में रूसी क्रांति, अर्थात् बोल्शेविक क्रांति ने संसार को यह संकेत देने की अगुवाई की।''[3] पूंजी और उत्पादन के संकेद्रण ने मज़दूरों को केंद्रित कर दिया और उनकी संगठित ताक़त को बढ़ा दिया। विभिन्न समाजवादी राजनीतिक पार्टियों ने इन्हें नेतृत्व दिया। इन्हें पूंजी पर आधारित शासन-व्यवस्थाओं को बदल देना था और विश्व युद्ध से उपजी परिस्थितियों को मज़दूरों के पक्ष में सामाजिक-राजनीतिक क्रांति में बदल देना था। रूस में बोल्शेविक पार्टी ने 1917 में यह कर दिखाया। यह पूर्ववर्ती क्रांतियों से अधिक गहन थी और इसके प्रभाव का भूममंडलीय विस्तार के समतुल्य इस्लाम के फैलाव के अलावा और दूसरा उदाहरण अब तक सामने नहीं आया।[4] अंतर्राष्ट्रीयतावाद इस क्रांति की सबसे बड़ी और स्वाभाविक चरित्र होना था।

जारशाही रूस की सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक स्थिति इस क़दर अव्यवस्थित और बदतर थी कि उस दौर के अनेक पर्यवेक्षकों को यह लगने लगा था कि किसी क्रांति द्वारा ज़ार का

तख़्तापलट रूस की नियति हो गई है। 1905 में जापान से हार ने रूसी मानसिकता में सदियों से स्थापित किए गए श्रेष्ठताबोध को जड़ से हिला दिया। लोगों के अंसंतोष में इस हार ने जुड़कर एक विस्फोट की स्थिति को जन्म दे दिया। 1905 में रूस की शासन-व्यवस्था की चूलें हिल गई। एक बुर्जुआ क्रांति ने परंपरावदियों और ज़ार समर्थकों को चेतावनी दी और समाजवादी क्रांतिकारी दलों को सर्वहारा क्रांति के लिए हौसले। इस क्रांति की मुख्य मांग जनता (असल में रूसी मध्यवर्ग) का शासन में प्रतिनिधित्व देने और शासन-पद्धति को उदार बनाने की थी। ज़ार को रूस के इतिहास में पहली बार प्रतिनिधि-सभा (द्यूमा) बुलानी पड़ी। रूस की शासन-व्यवस्था में सुधार को स्वीकार किया गया और यूरोप के बाकी देशों की तर्ज़ पर रूस में भी एक उदार शासनतंत्र की संभावना बढ़ गई। लेकिन ज़ार निकोलस इन स्थितियों के लिए तैयार नहीं था। वह द्यूमा को बार-बार भंग करने लगा। दूसरी ओर द्यूमा के सदस्यों और अन्य क्रांतिकारियों ने भी अपने संघर्ष को जारी रखा।

1905 के बाद हालांकि ज़ार-शासन ने जैसे-तैसे रूस को संभाल तो लिया, लेकिन जल्दी ही रूस में सामाजिक असंतोष का एक तेज़ ज्वार आ गया। ज़ार का नकारापन स्वाभाविक था, इसे संभालने में असमर्थ था। प्रथम विश्व युद्ध से पहले रूस एक बार फिर असंतोष के विस्फोट पर जा बैठा। ज़ार शासित रूस की बदहाली को पहले विश्वयुद्ध से पूर्व की परिस्थितियों ने और भी भीषण बना दिया। हालांकि अन्य राष्ट्रों की भांति वहां भी युद्ध को लेकर जनता में एक उत्साह और राष्ट्र भावना के ज्वार ने कुछ समय के लिए इस संकट को ढंक दिया। लेकिन यह अधिक दिनों तक नहीं चल सका। यह युद्ध साम्राज्यवादियों की महत्वकांक्षाओं की टकराहट से जन्मा था, जिसमें रूस का प्रदर्शन वहां की जनता के लिए ख़ासा निराशाजनक था। 1915 के आते-आते तक रूस में सामान्य जन-जीवन तक पसर चुकी समस्याओं का कोई भी निदान वहां के तत्कालीन ज़ार के पास नहीं बच पाया था। दरअसल, 1870 से लेकर 1917 तक के रूस की स्थिति को अगर देखा जाए तो मार्च, 1917 के आते-आते तक रूस के लिए 'क्रांति से कम आश्चर्यजनक और अनपेक्षित कुछ और नहीं बचा था।'[5] आने वाला प्रत्येक दिन रूसी इतिहास के लिए महत्त्वपूर्ण होने जा रहा था जिसके प्रभाव में पूरे विश्व को आ जाना था।

1914 तक आकर यूरोप की राजनीति में युद्धोन्माद का बोलबाला हो गया। कच्चे माल की ज़रूरत और उत्पादन को खपाने के लिए बाज़ार की आवश्यकता ने एक ऐसी प्रतिस्पर्धा को जन्म

दिया जिसमें शक्तिशाली देशों में इस बात की होड़ शुरू हो गई कि कोई महत्वपूर्ण जगह कहीं किसी और देश के अधीन न हो जाए! साम्राज्यवादियों के इस उन्माद में मज़दूरों, किसानों और सैनिकों के लिए और कुछ नहीं था सिवाय तबाही के। राष्ट्रवाद के उन्माद में उन्हें शुरूआत के सालों में बहलाया जा सकता था, लेकिन युद्ध-काल में लगातार बदलती स्थितियों और नये कड़वे यथार्थ में युद्ध के ख़िलाफ़ शांति की चाहत हर तबके में उठने लगी थी। तबाही के असाधारण दबाव में उनकी हालत तो ख़राब थी ही जो पराजित हो रहे थे, इसने युद्धरत विजेताओं को भी टूटन की कग़ार तक पहुंचा दिया। देशभक्ति का ज्वार नीचे उतर रहा था और 1916 में युद्ध-विरोधी दलों और व्यक्तियों ने स्वयं को बहुमत में पाया। इस संदर्भ में एक तथ्य का उल्लेख एरिक हॉब्सबाम ने किया है- ''...28 अक्टूबर, 1916 को, आस्ट्रिया की सोशलिस्ट पार्टी के संस्थापक-नेता के पुत्र फ्रेडरिख एल्डर ने विएना के एक कैफे में आस्ट्रिया के प्रधानमंत्री काउंट स्टर्ग की सुरक्षाकर्मियों के सामने ही हत्या कर दी-- इसे युद्ध के विरोध में जनता की प्रतिक्रिया कहा गया।''[6] कुल मिलाकर बोल्शेविक क्रांति की पृष्ठभूमि में युद्ध के ख़िलाफ़ मेहनतकश जनता की प्रबल आकांक्षा सक्रिय थी।

1917 में रूस में क्रांति कई चरणों में हुई। मार्च में मज़दूरों और सैनिकों की गरजती हुई लहरें तव्रीचेस्की महल से टकराई और राजकीय दूमा को मजबूर किया कि वह रूस की सर्वोच्च सत्ता अपने हाथ में ले। इसे 'फरवरी क्रांति' के नाम से जाना जाता है।[7] इस क्रांति ने शासन की बागडोर ज़ार के हाथों से छीन कर रूसी-संसद को दे दी जिसमें बुर्जुआ वर्ग के प्रतिनिधियों का बोलबाला था। इस सत्ता-हस्तानांतरण से पश्चिम के देश खुश थे कि एक बड़ी और सर्वहारा क्रांति टली और उन्हें अब कोई ख़तरा नहीं है। लेकिन क्रांति के इस पहिये को और आगे बढ़ना था। जुलाई में सर्वहारा वर्ग का एक और विस्फोट घटित हुआ और रूस की संपूर्ण शासन-व्यवस्था को दूमा को अपने हाथ में लेना पड़ा। विश्वयुद्ध से अलग होने और विजित देशों को मुक्त करने और शांति बहाल की अंतर्राष्ट्रीय अपील के लिए दबाव बनाया गया। इस उभार को रूस की बोल्शेविक पार्टी का नेतृत्त्व मिल रहा था जो अभी-अभी कानूनी रूप से मान्य हुई थी। सोवियतों में 'नरम' समाजवादियों का बहुमत था। नई अस्थाई सरकार ने संविधान सभा बनाने की घोषणा की और रूसी क्रांति को समाप्त और सीमित कर देने की नीतियों पर चल पड़ी। यह परिवर्तन रूस की जनता के

लिए काफी नहीं था। इससे उनकी स्थितियों में कोई बड़ा बदलाव नहीं आने जा रहा था। इस बीच बोल्शेविक पार्टी ने अपना एक सुनिश्चित कार्यक्रम घोषित किया जिनके मुख्य आधार थे[8]–

– युद्ध का तत्काल अंत और जर्मनी से संधि।

– सामंतों की भूमि पर बिना मुआवज़ा दिए और बिना कानून की बारिकियों पर ध्यान दिए तुरंत अधिकार।

– कारखानों पर मज़दूरों का अधिकार तथा प्रबन्ध।

– सम्पूर्ण उत्पादन और वितरण पर राष्ट्र का नियंत्रण।

– हर स्तर पर मज़दूरों, किसानों और सैनिकों के सोवियतों के हाथों में शासन और वर्तमान सरकारी तंत्र का अंत।

– संपत्तिधारी वर्ग के राजनीतिक अधिकारों का अंत।

यह घोषणा युद्धकाल में मेहनतकश जनता के पक्ष में बदलते राजनीतिक शक्ति–समीकरण का महानतम उदाहरण पेश करने जा रही थी। इसने रूस की जनता में 'सेना में शांति', 'किसानों को ज़मीन' और 'मज़दूरों को कारखाने' की उद्घोषणा की। यह घोषणा ही अपने आप में उस दौर के वैश्विक राजनीतिक अर्थव्यवस्था के मूल चरित्र के लिए चुनौती थी। यह बोल्शेविक पार्टी की युद्ध–विरोधी, साम्राज्यवाद–विरोधी, सामंत–विरोधी और समग्रता में पूंजीवाद–विरोधी एजेंडे की क्रांतिकारी प्रतिबद्धता थी। किसानों को भूमि चाहिए थी, मज़दूरों को रोज़गार और कारखाने पर मालिकाना हक़।

असंतुष्ट किसानों ने ज़मींदारों की कोठियों और ज़मीन पर कब्जा करना शुरू किया। मज़दूर कारखानेदारों पर हमला कर रहे थे और सैनिक 'शांति चाहिए' के नारों के साथ बग़ावत पर आमादा थे। इस बीच सरकार में बैठे मेन्शेविक और समाजवादी क्रांतिकारियों ने अपने को पूंजीपति वर्ग के साथ समझौतों में फंसाया, वही बोल्शेविकों ने बड़ी तेज़ी के साथ रूसी जनसाधारणों के मन को जीत लिया। अक्टूबर के ख़तम होते–होते रूस एक सर्वहारा क्रांति के लिए तैयार हो चुका था। एक

जन-सभा में एक सैनिक ने अपनी बात यों रखी- ''जब ज़मीन किसानों की होगी और कारखानें मज़दूरों के होंगे, और सत्ता सोवियतों के हाथ में होगी, तब हम समझेंगे कि हां, हमारे पास कोई चीज़ है, जिसके लिए लड़ना है और हम उसके लिए लड़ेंगे।''[9] पूरे देश में यही स्वर दिखाई दे रही थी। नवंबर में होने वाली सर्वहारा क्रांति के पूर्व जैसे पूरा रूस ही वामपंथ ही ओर ढुलक गया।

7 नवंबर 1917 को बोल्शेविकों के नेतृत्त्व में मज़दूरों और सैनिकों ने केरेन्स्की वाली अस्थाई सरकार को उखाड़ फेंका और मानव सभ्यता की पहली सर्वहारा क्रांति को अंजाम दिया। अक्टूबर क्रांति के उपरांत बोल्शेविकों के नेतृत्व ने आंतरिक और बाहरी समस्याओं से संघर्ष करते हुए उन्हें यह अधिकार दिलाया था और नीतियां बनाकर इसकी सुरक्षा को और भी मजबूत कर दिया। जिन अराजक परिस्थितियों में यह क्रांति घटित हुई थी, कम-से-कम तीन कारणों के चलते यह बचा रह गया। पहला, छह लाख अनुशासित और शक्तिशाली सदस्यों वाली बोल्शेविक पार्टी; दूसरा, उस दौर में लोगों को यही वो एकमात्र राजनैतिक ताक़त लगी (और जो ठीक भी था) जो रूस को एक राष्ट्र के रूप में संगठित रख सकती थी। तीसरा, क्रांति के बाद किसानों को ज़मीन दी गई। ये किसान राज्य और सेना - दोनों के ही नाभिक थे। इन्हें इसका अहसास हो गया था कि ज़मीन पर उनका अधिकार बनाये रखने के लिए लाल सेना ही उनके लिए बेहतर है न कि आभिजात्यों की वापसी।[10] बोल्शेविक क्रांति का प्रभाव उस समय पूरी दुनिया पर पड़ा।

क्रांति के बाद रूस की बड़ी चुनौती उसे सुरक्षित रखने की थी। यह तभी संभव था जब क्रांति अन्य देशाों में भी हो। और इसके लिए रूस को अपनी क्रांति को सफल और स्थाई बनाना था। लेनिन ने सोवियत क्रांति की चुनौती बताते हुए कहा कि हमारी यह क्रांति तभी टिकाऊ हो पाएगी जब अन्य देशों में भी मज़दूर वर्ग सोवियतों की स्थापना करे और शासन-तंत्र पर अपना मालिकाना हक़ कायम कर ले-

''रूसी क्रांति अंतर्राष्ट्रीय समाजवादी फ़ौज की, जिसकी कार्रवाई पर हमारी क्रांति की सफलता और विजय अवलम्बित है, केवल एक टुकड़ी है। ... रूसी सर्वहारा वर्ग अपने क्रांतिकारी एकाकीपन को जानते हुए यह महसूस करता है कि इसकी विजय की अनिवार्य शर्त और मुख्य पूर्वाधार सारे विश्व अथवा पूंजीवादी ढंग से विकसित कई देशों के मज़दूरों की संयुक्त कार्रवाई है।''[11]

रूसी क्रांति का पैगाम दुनिया भर के मेहनतकशों के पास पहुंच सके इसके लिए ज़रूरी था कि सोवियत रूस दुनिया के सामने अपनी प्रतिबद्धताओं को साकार कर सके। एक खेतीहर और पिछड़े देश को उन्नति की अगली कतारों में जाना था!

एक समाजवादी राज्य के रूप में रूस के निर्माण के मुख्य इंजीनियर स्तालीन थे। सुख, विकास और समानता वाली मेहनतकशों की दुनिया को रूस में रचने का काम स्तालीन ने किया। उन्होंने मध्यकालीन पिछड़ी व्यवस्था वाले रूस को दुनिया के सबसे शक्तिशाली देशों की श्रेणी में लाकर खड़ा कर दिया। जनवरी 1924 में लेनिन की मृत्यु के बाद रूस की स्थिति को, उस दौर को अपनी आंखों से देखीं अमेरिकी महिला पत्रकार अन्ना लुई स्ट्रांग लिखती हैं- ''उस वक़्त आम लोगों के जीवन का स्तर अभी भी युद्ध के पहले के जारकालीन दिनों के तुच्छ जीवन स्तर से काफी नीचे था। युद्ध के सात वर्षों में आए महाविनाशक पतन से न तो उद्योगों का पुनरुद्धार हो सका था और न खेती का। सत्ताधारी पार्टी समाजवाद को आगे बढ़ाना चाहती थी। पर देश समाजवादी नहीं था।... ज़्यादातर उद्योग और व्यापार पूंजीवादी था।... लेनिन के दिनों में व्यावहारिक राजनीति के तौर पर यह सवाल ही नहीं उठा कि किसी विकसित देश की मदद के बिना भी रूस समाजवादी अर्थव्यवस्था का निर्माण कर सकेगा क्या? 1924 में शुरू हुई चर्चा में जब यह सवाल उठा तो ज़्यादातर बोल्शेविक सिद्धांतकारों का यही मानना था कि रूस ऐसा नहीं कर पाएगा।''[12] लेकिन लेनिन के नेतृत्त्व में हुई इस क्रांति से रूस की जनता की आंखों में एक सपना बस चुका था- समाजवादी सिद्धांतों पर दुनिया का सबसे प्रगतिशील और समृद्ध देश बना देने का सपना। सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी के महासचिव स्तालीन ने घोषणा की- रूसवासी अपने पैरों पर खड़े हो सकते हैं और अपने पसंद की कोई भी अर्थव्यवस्था बना सकते हैं।

अपने सपनों को साकार करने के लिए रूस ने पहली पंचवर्षीय योजना की घोषणा की। इस औद्योगिक विकास के लिए रूस के मज़दूर, इंजीनियर और देश के हर नागरिक ने अपना जी जान लगा दिया। उनके लिए यह कोई योजना नहीं थी, एक चुनौती थी और एक पूरा-का-पूरा युद्ध था। रूस की क्रांति को बचाए रखने के लिए इस युद्ध को जीता जाना ज़रूरी था। जनवरी 1933 में आधिकारिक घोषण हुई कि ''पुराना पिछड़ा खेतिहर रूस अब दुनिया का दूसरा सर्वाधिक औद्योगीकृत राष्ट्र बन चुका है। पंचवर्षीय योजना बुनियादी तौर पर अक्टूबर 1928 से दिसंबर 1932

के बीच के सवा चार वर्षों में ही पूरी की जा चुकी है। उद्योगों में मज़दूरों की संख्या अब दुगुनी हो चुकी है।''[13] अब उनके पास लोहे और इस्पात के उद्योग थे, ट्रैक्टर, मोटर और इंजीनियरिंग के उद्योग थे, हवाई जहाज, कृषि मशीनरी, रसायन के बड़े उद्योग थे। मानव सभ्यता ने कभी इतनी तेज़ प्रगति इतने कम समय में नहीं की थी। इसके तुरंत बाद रूस में दूसरी पंचवर्षीय योजना की घोषणा हुई और उसने पांच गुणा अधिक उद्योगों को स्थापित किया; फिर तीसरी। 1935 तक सोवियत नेताओं ने रूस में 'समाजवाद के विजयी' हो जाने का ऐलान कर दिया। एक मजबूत अर्थव्यवस्था स्थापित हो चुकी थी।

सोवियत रूस एक तरफ अपने उद्योगों और अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ कर रहा था तो दूसरी ओर अपनी खेती को। दोनों का एक साथ चलना ऐतिहासिक रूप से ज़रूरी था। वहां की सामाजिक व्यवस्था जिस प्रकार मध्ययुगीन विचारों, परंपराओं और धर्म से ग्रस्त थे, खेती की भी वही दशा थी। सामान्य जुताई के लिए भी ट्रैक्टर का प्रचलन नहीं था। लोग इसे 'शैतानी मशीन' समझते थे। खेती प्राय: स्थानीय कुलक और ज़मीन्दारों के अधीन थी। कृषि में विकास का कार्यक्रम कैसे लिया जाए इसे लेकर स्पष्टता नहीं थी। कम्युनिस्टों के दक्षिणपंथी धड़े का मानना था कि समाजवाद तो सिर्फ उद्योगों पर राजकीय स्वामित्व से विजयी हो सकता है, इसलिए कुलकों को न छेड़ा जाए। वामपंथी धड़े का मानना था कि खेती को राजकीय नियंत्रण में लाकर किसानों को जबरन उसमें शामिल कर लिया जाए। कई दिनों तक यह ऊहापोह चलता रहा। अंतत: नीति बनी कि ''सरकारी कर्जों और ट्रैक्टरों का प्रस्ताव रखकर किसानों को सामूहिक खेती की ओर आकर्षित किया जाए। ऊंचे कर लगाकर कुलकों को आगे बढ़ने से रोका जाए और बाद में 'एक वर्ग के रूप में उनका अस्तित्व समाप्त कर दिया जाए।' सैद्धांतिक रूप से सामूहिक खेतों की सदस्यता स्वैच्छिक थी। लेकिन व्यवहार में कहीं-कहीं दबाव से भी काम लिया गया।''[14] धनी किसानों ने अपना दमन-चक्र चलाया, अफ़वाहें फैलाई गईं, कई जगहों पर अव्यवस्था भी फैली, लेकिन अंतत: रूस के छोटे और मंझले किसानों ने सामूहिक खेती को अपना विकल्प बनाया। बड़े पैमाने पर छोटे-छोटे खेतों को मिलाकर बड़े खेत बने, सरकार ने सामूहिक मशीनें और ट्रैक्टर दिए, सामूहिक खेती हुई। 1930 तक आते-आते रूस ने खेती की पैदावार में क्रांति कर दी। उसके बाद तो यह रफ़्तार बढ़ती चली गई।

अपने उद्योगों और खेती में क्रांति को स्थापित करने के साथ ही सोवियत रूस ने वहां के नागरिकों को समान अधिकार और सम्मान देकर 'नए इन्सान' के रूप में ढालने की योजना ली। उनके लिए सारे दरवाज़े खोल दिए गए। एक शोषणमुक्त समानता का समाज इन्सानों को कैसे गढ़ता है, इसका बेहतरीन उदाहरण रूस पेश करने जा रहा था। रूस में विकास की विभिन्न अवस्थाओं में तक़रीबन डेढ़ सौ राष्ट्रीयताएं थीं। कईयों के पास अपनी कोई लिपि भी नहीं थी। सोवियत वैज्ञानिकों ने उनके लिए लिपियां तैयार करवाईं। मास्को में लगभग सौ भाषाओं में पुस्तकें प्रकाशित होनी शुरू हुईं। अपनी पहली पंचवर्षीय योजना के तहत रूस ने जितनी पुस्तकें प्रकाशित कीं वह जर्मनी, ब्रिटेन और फ्रांस के कुल योग से भी अधिक थीं।[15] विभिन्न राष्ट्रीयताओं के हक़ में इसके अलावा नए कानून बनाए गए, विज्ञान और कलाओं को प्रोत्साहित किया गया। महिलाओं की स्थिति में विशेषकर क्रांतिकारी परिवर्तन के लिए योजनाएं ली गईं। महिला-विरोधी मध्ययुगीन मान्यताओं, परंपराओं और पितृसत्तात्मक विचारों को योजनाबद्ध तरीके से ख़त्म किया जाने लगा। महिलाएं अपने अधिकारों के लिए सामाजिक बग़ावत करने को तैयार थीं। उनके अधिकार उन्हें क्रमशः मिल रहे थे। किसानों और मज़दूरों को बेहतरीन सुविधाएं, तक़नीकी शिक्षा, कृषि-शोध, और यहां तक कि हवाई जहाज उड़ाने और देश-दुनिया घूमने की सुविधाएं और आज़ादी मिल रही थी। नई व्यवस्था में 'नए इन्सानों' का महत्त्व काफी बढ़ गया था।

अन्य युरोपीय देशों की तरह कारखाना और उत्पादन-प्रक्रिया अब यहां शोषण के औजार नहीं थे। सोवियत रूस के कारखानें सामूहिक संपदा के रूप में रूसी इन्सानों की मुक्ति के लिए पुरानी जंजीरों को तोड़ देने का हथियार बन चुके थे। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था ने पूरी उत्पादन प्रक्रिया से मज़दूर वर्ग को 'अलगाव' में डाल रखा था, जबकि सोवियत रूस की समाजवादी व्यवस्था में उन्हीं मज़दूरों का उत्पादन के साधनों पर मालिकाना हक़ हो गया था। शोषण की पूरी प्रक्रिया पर जैसे स्थगन लग गया। उत्पादन का पर्याय 'शोषण' नहीं, बल्कि मुक्ति और उन्नति हो गई। इस समाजवादी उभार के तूफ़ान ने पूरी दुनिया में हड़कंप मचा दिया। रूस ने एक ओर फासीवादी उभारों को वापस अपने बिलों में घुस जाने को बाध्य किया दूसरी ओर विश्व साम्राज्यवाद को भी पीछे हटना पड़ा। सोवियत रूस में ज़मीन, पूंजी, विज्ञान, टेक्नोलॉजी, कला, संस्कृति, शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन- सबकुछ को जनता की पहुंच के भीतर ला दिया था।

दूसरी ओर, बोल्शेविक क्रांति के उभार ने इसके समानांतर वैकल्पिक अर्थव्यवस्था के रूप में एक समाजवादी व्यवस्था को सामने ला दिया। एक ठोस भौतिक धरातल पर मज़दूर-किसानों-सैनिकों की एकजुटता और बोल्शेविकों की सही रणनीति से यह प्रयोग सफल रहा। यह पूंजीवादी अर्थतंत्र के अंतर्विरोधों से उत्पन्न संकटों से काफी हद तक मुक्त रहा; और न केवल मुक्त रहा बल्कि उसे चुनौती देने में सफल भी रहा। मज़दूरों, सैनिकों और किसानों के साथ 6 नवंबर 1917 को बोल्शेविकों ने रूस को अपने आधिपत्य में ले लिया, जिस परिर्वतन को सोवियतों की कांग्रेस ने स्वीकृत कर लिया। बोल्शेविकों के लिए युद्ध-विरोध, पूंजीवादी अर्थतंत्र का विरोध और फासीवाद के ख़िलाफ़ एक व्यापक विरोध के स्वर को नेतृत्त्व देना- ये तीन तात्कालिक ज़िम्मेदारियां रूसी क्रांति के हीरावल दस्ते के ऊपर थीं। पूंजीवादी अर्थतंत्र और युद्ध-विरोध बोल्शेविकों की बुनियादी विचारधारा के हिस्से थे और जल्द ही फासीवाद की राजनीतिक विभिषिका के ख़िलाफ़ इसने एक व्यापक मोर्चे को नेतृत्व दिया। ज़ार के शासन-व्यवस्था, आम जनता की ज़िंदगी को बदतर बना देने वाली आर्थिक परिस्थिति और युद्ध ने रूस को तबाह किया था। वहां के लोगों को इनसे निजात दिलवाने वाली किसी विश्वसनीय और संगठित राजनीतिक हस्तक्षेप की ज़रूरत थी। बोल्शेविकों को बड़ा जनसमर्थन मिला था।

क्रांति के तुरंत बाद नायक लेनिन, जिन्होंने पहले विश्वयुद्ध को मुखरता के साथ साम्राज्वादियों के हितों की टकराहट कहा था ने रूस को युद्ध से बाहर करने के लिए जर्मनी से ब्रेस्त-लितोवस्क की संधि कर ली। पूँजीवाद के अलंबरदार माने जाने वाले राष्ट्र और लगभग पूरा विश्व जबकि 1929 की महान मंदी की चपेट में कराह रहा था, समाजवादी रूस न सिर्फ़ इससे मुक्त रहा बल्कि अपनी पहली ही पंचवर्षीय योजना की जबरदस्त सफलता द्वारा उसने पूँजीवाद के अंतर्विरोधों के सामने समाजवाद को दृढ़ता पूर्वक खड़ा किया।

3.2 बोल्शेविक क्रांति और हिन्दी लेखन

बोल्शेविक क्रांति अपने पूर्ववर्ती क्रांतियों से इस रूप में भिन्न थी कि यहां पहली बार मज़दूर वर्ग ने शासन पर अपना आधिपत्य कायम कर लिया। इससे पहले की क्रांतियों में

सामाजिक-राजनीतिक बदलाव तो होते थे लेकिन अर्थव्यवस्था में वर्गीय बदलाव नहीं। उन क्रांतियों का इतिहास-बोध तो था लेकिन उसमें प्रकारांतर से शासक वर्ग की ही जीत होती थी। एक शोषक वर्ग दूसरे शोषक वर्ग को हटा भर देता था या शासन-व्यवस्था में कुछ सुधार कर दिए जाते थे। बोल्शेविक क्रांति ने उत्पादन के साधनों पर मज़दूर वर्ग का अधिकार स्थापित कर एक नई अर्थव्यवस्था की नींव रख दी। इस नींव पर विश्व की क्रांतिकारी प्रक्रिया को पूंजीवाद से समाजवाद की ओर बढ़ने की प्रेरणा मिली और औपनिवेशिक दासता से तबाह होते जा रहे देशों में मुक्ति के आंदोलन भी ज़ोर पकड़ने लगे।

जब रूस में एक बड़ी क्रांति करवट ले रही थी, भारत में राजनीति के केन्द्र में औपनिवेशिक दासता के विरूद्ध अस्पष्ट विचारधारा और ढुलमुल कार्यनीतियों के साथ स्वर मज़बूत हो रहे थे। दुनिया ने यहां 1857 में ही साम्राज्यवाद के विरूद्ध एक महान आंदोलन के ज्वार को देखा था। उसके बाद भी अनेक स्तर पर इस तरह के संघर्ष होते रहे विशेषकर मज़दूरों और किसानों ने बड़े पैमाने पर आंदोलन चलाये। इन सबके बावजूद भी यहां के स्वाधीनता आंदोलन की 'मुख्यधारा' का स्वर अब भी अंग्रेजों के ख़िलाफ़ 'सहयोगपूर्ण संघर्ष' का ही था। लेकिन रूस की बोल्शेविक क्रांति ने भारतीय बुद्धिजीवियों और राष्ट्रवादियों को खूब आकर्षित किया। हिन्दी के पत्र-पत्रिकाओं में तब इसे लेकर उत्साहपूर्वक अनेकों लेख लिखे गए, स्वतंत्र पुस्तकें लिखी गई। शुरूआत में राष्ट्रीय आंदोलनों में इसकी अनुगूंज मज़बूती से नहीं उभरी लेकिन इसकी पृष्ठभूमि में यह क्रांति पैठ चुकी थी। श्रीमति ऐनी बेसेंट ने अंग्रेज़ी सरकार को चेतावनी दी- ''सारे राष्ट्र के युवकों को अधिक समय तक दबाया नहीं जा सकता, रूस के ज़ार ने इस प्रकार का व्यवहार किया तो उसका परिणाम क्रांति में बदल गया जिसकी आज सारा सभ्य समाज सराहना कर रहा है।''[16] क्रांति के दौरान ही औपनिवेशिक सरकार के सचिव ने इंग्लैण्ड को चिट्ठी लिख कर यह सूचित किया कि भारत में रूसी क्रांति का प्रभाव पड़ रहा है और इंग्लैण्ड को इसका सामना करने के लिए कोई और रणनीति बनानी चाहिए।[17] दरअसल 1919 में भारतीय राजनीति एक विशेष प्रकार की चेतना से संचालित हो रही थी। यहां का आवाम और राजनीतिक दल अंग्रेजी सरकार से ज़बरदस्त असंतुष्ट हो गए थे। मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट, जलियावाला बाग हत्याकांड, सरकार द्वारा युद्ध के दौरान किए गए वायदों से मुकरना आदि ने भारतीय जनता और यहां के लिबरल नेताओं का ब्रिटिश सरकार से विश्वास कम कर दिया। इसका परिणाम अनेक आंदोलनों

के रूप में सामने आया। कई बार भ्रमवश ब्रिटिश सरकार ने इसे भी बोल्शेविज़्म का प्रभाव समझ लिया।

वीरभारत तलवार ने इस दौर की भारतीय राजनीति और उसके स्वरूप में आये बदलाव पर विचार किया है। उन्होंने औपनिवेशिक भारत में भारतीय जनता और शासन-व्यवस्था के बीच के शक्ति-समीकरणों में आये बदलावों को चिह्नित किया है। जनांदोलनों के उभार से कांग्रेस के भीतर भी बदलाव आये। बोल्शेविक क्रांति अपनी व्यापकता में भारत के मज़दूरों-किसानों और उनके हिमायती बुद्धिजीवियों के लिए एक महान प्रेरणास्रोत बन गई थी। कार्यक्रम के स्तर पर नहीं लेकिन कांग्रेस के भीतर बोल्शेविक क्रांति से प्रभावित समाजवादी विचार रखने वाला एक ख़ेमा तैयार होने लगा था। 1920 के बाद भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के ऊपर नई परिस्थितयों का दबाव था कि उसके मख्य एजेंडे में अब सुधार कार्यक्रमों की जगह जनांदोलनों को नेतृत्व देना हो गया। यहाँ तक आकर कांग्रेस के भीतर गांधी का कद काफी बढ़ चुका था और जनता का औपनिवेशिक व्यवस्था के साथ अंतर्विरोध भी। इसके बावजूद कि गांधी उच्च मध्यवर्ग से थे, उनकी पहली टक्कर उन लोगों से नहीं हुई जो भारत में निर्णायक जनसंघर्षों के पक्षधर थे और वैचारिक रूप से बोल्शेविज़्म के समर्थक थे। बल्कि, उनका सामना कांग्रेस के भीतर के उसी उच्च मध्यवर्ग के नुमाइंदो से हुआ जो साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ सीधी लड़ाई से सहमत नहीं थे।[18] एक बड़ा जनाधार, जो औपनिवेशिक राज के ख़िलाफ़ हो गया था और सक्रिय आंदोलनों के लिए मानसिक रूप से तैयार भी, को अपने साथ लेने के लिए यह आवश्यक था। इस टकराहट में गांधी की जीत हुई और यह भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के लिए ऐतिहासिक साबित हुई। कांग्रेस इस आंदोलन को नेतृत्व देने वाली स्वाभाविक पार्टी बन गई। गांधी का अपना वर्गीय चरित्र निर्णायक वर्गीय संघर्षों का हिमायती नहीं था। स्वाधीनता आंदोलन जब भी किसी निर्णायक मोड़ पर पहुंचे या साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष जब भी सामंतवाद से सीधी टकराहट की मोड़ पर जा पहुंचे उस समय या उससे पहले ही गांधी आंदोलन को मध्यवर्गीय नैतिकता, अहिंसा या सत्याग्रह के आड़ में वापस ले लेते थे। इन सबके बावजूद उस दौर में भारत का एक बड़ा जनसमुदाय तथा निम्न मध्यवर्ग का वह प्रतिनिधि जो बोल्शेविज़्म की विचारधारा से आकर्षित था, ने गांधी के नेतृत्व को स्वीकार किया। प्रेमचंद, गणेशशंकर विद्यार्थी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि इसके उदाहरण हैं।

भारत में बोल्शेविक क्रांति की ख़बर पहली बार 9 नवंबर, 1917 में रायटर के एक डिस्पैच के माध्यम से आयी। इसके अनुसार, ''लेनिन का स्वागत जनता ने हर्षोल्लास के साथ किया। अपने भाषण में लेनिन ने रूस के प्रजातंत्र के समक्ष तीन समस्याएं बतलाई- एक, युद्ध का तुरंत अंत होना; दूसरे, मज़दूरों में ज़मीन का विभाजन; तीसरे, आर्थिक कठिनाइयों का समधान।''[19] भारत में 'द बंगाली', 'ट्रिब्यून' और 'स्वदेश मित्र' ने इस ख़बर को प्रकाशित किया। हालांकि सरकार यह भरपूर प्रयास कर रही थी कि रूसी क्रांति से संबंधित कोई भी ख़बर भारत में न छपने पाये।

साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ क्रांतिकारी विचारों वाले कुछ संगठन भारत से बाहर रहकर भी आंदोलन चला रहे थे। वैचारिक रूप से ये रूसी क्रांति के ज़्यादा क़रीब थे। अमेरिका से भारतीय नेशनलिस्ट पार्टी ने रूस की सरकार से यह अपील की-

''क्रांतिकारी भारतीय प्रसन्न हैं कि रूस में एक सच्चे आदर्श के रूप में जनता की सरकार बनी है जो जनता के द्वारा चलेगी और जनता के हित में होगी। हमें खुशी है कि प्रथम बार राज्यों के इतिहास में एक ऐसी सरकार बनी है जो जनता के हित के लिए है। आज क्रांतिकारी भारत की स्थिति वैसी ही है जैसी कि रूस की 1905 में थी।...स्वतंत्र रूस ने संसार के लोगों के लिए एक नया कार्यक्रम दिया है। हमें विश्वास है कि स्वतंत्र रूस भारत की 35 करोड़ जनता के प्रति कभी विमुख नहीं होगा।''[20]

बोल्शेविक पार्टी ने क्रांति के बाद साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ अनेक कार्यक्रम लिए। उसने मित्र देशों और उनकी जनता से शांति कायम करने की अपील की और साथ ही अपने अधीनस्त देशाों को यथाशीघ्र आत्मनिर्णय का अधिकार और स्वाधीनता देने की मांग की। उसने ज़ार द्वारा किए उन तमाम समझौतों को रद्द कर दिया जो किसी देश की संप्रभुता को अपने अधीन बनाने वाले थे। भारत, जो इंग्लैण्ड के साम्राज्य के सबसे प्रमुख देशों में था, की जनता के पास ये ख़बर किसी-न-किसी प्रकार आ ही जाती थी। यद्यपि इसे रोकने की भरपूर कोशिश की गई। दुनिया भर में साम्राज्यवाद के विरोध में अपनी कार्यवाईयों के तहत रूस ने भारत संबंधी अपनी नीति को 'ब्लू बुक'[21] नाम से प्रकाशित किया। औपनिवेशिक सरकार ने भरसक प्रयास किया कि इस किताब को भारत में प्रकाशित न होने दिया जाए। इसके बावजूद भी इसका एक खंड 4 जुलाई 1920 को 'भारतवादी'[22] नाम के पत्र में प्रकाशित किया गया। बोल्शेविक क्रांति के कुछ सालों बाद ही

स्थिति यहां तक आ गई कि सरकार को भारतीय जनता पर इस क्रांति के प्रभावों का आकलन लेने और उसके कार्यक्रमों और 'षड्यंत्रों' को रोकने के उपाय सुझाने के लिए 'शैलेट कमीशन'[23] का गठन करना पड़ा। समाचार पत्रों पर नियंत्रण लगाने के लिए कई कानून बनाये गए। अफ़सरों की उच्चस्तरीय कमिटियां बनाकर भारत में बोल्शेविज्म के प्रचार-प्रसार में रूस की कोई भी सहायता रोकने का कार्यक्रम लिया गया। सर रशब्रुक विलियम को सूचना अधिकारी बना कर बोल्शेविक विचारधारा के ख़िलाफ़ 'प्रोपेगेण्डा' तैयार करने को कहा गया। सोवियत रूस को 'धर्म-विरोधी', 'नैतिकता-विरोधी', 'महिला-विरोधी', 'सभ्यता और संस्कृति विरोधी' साबित करने का बाकयदा अभियान लिया था औपनिवेशिक सरकार ने। इन सबके बावजूद भी 'अमृत बाज़ार', 'न्यू इंडिया', 'बॉम्बे क्रानिकल' जैसे समाचारपत्रों और अनेक पत्रिकाओं ने बोल्शेविक क्रांति से संबंधित ख़बरों और उसके सिद्धांतों का खूब प्रचार-प्रसार किया। हिन्दी के लेखकों पत्रकारों आदि ने विभिन्न माध्यमों से इस काम को किया। प्रेमचंद, गणेशशंकर विद्यार्थी, राधामोहन गोकुल, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि इसके उदाहरण है।

हिन्दी में लिखी जा रहीं स्वतंत्र पुस्तकों के अलावा पत्रिकाओं ने बोल्शेविक क्रांति और उससे जुड़ी खबरों और भारत सरकार को उस आधार पर आगाह करने का काम किया। 'मर्यादा', 'अभ्युदय', 'प्रताप' जैसी ये पत्रिकाएं उस दौर में शहरों और छोटे कस्बों के अलावा गांवों में भी खूब पढ़ी जाती थीं, विशेषकर 'प्रताप'। इन पत्रिकाओं में किसानों और देश की अन्य समस्याओं के अलावा बड़ी संख्या में दुनिया भर में चल रहे आंदोलनों से जुड़ी ख़बरें तथा रूसी क्रांति के समर्थन में लेख छपते थे। इसके अतिरिक्त बोल्शेविक क्रांति पर कुछ पुस्तकें भी छपीं। जैसे; हिंदी ग्रंथ रत्नाकर, बंबई से रामचंद्र वर्मा की किताब 'साम्यवाद', प्रताप प्रेस से रमाशंकर अवस्थी की 'रूस की राज्य क्रांति', हिंदी साहित्य मंदिर से विनायक सीताराम सर्वटे की 'बोल्शेविज़्म', राष्ट्रवादी प्रकाशन ज्ञानमंडल से छपी किताब 'रूस का पुनर्जन्म'। ग़ौरतलब है कि उस समय भारत में वर्ग-संघर्ष और उपनिवेशवाद के विरोध में उठ रहे स्वरों को शांत करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने उक्त प्रेसों, पत्रिकाओं पर प्रतिबंध भी लगाया और अनेक लेखक-संपादकों की गिरफ़्तारियां भी हुईं। सरकार ने बोल्शेविज़्म की विचारधारा का तेज़ी से हो रहे प्रचार-प्रसार को रोकने के उद्देश्य से यहाँ के उभर रहे पूँजीपतियों के साथ मिलकर उसके ख़िलाफ़ प्रचार करना शुरू किया। इलाहाबाद से निकलने वाली 'पायोनियर' और कलकत्ता से आने वाली पत्रिका 'इंग्लिश स्टेट्समैन' बोल्शेविक

क्रांति के विरोध में सक्रिय दो मुख्य पत्र थे। इनमें साम्यवादी रूस और उसकी विचारधारा को लेकर नकारात्मक ख़बरें छपती थीं। दूसरी तरफ, राष्ट्रवादियों का वह वर्ग जो बोल्शेविक क्रांति का समर्थक था, उन ख़बरों को महज़ कल्पना और ब्रिटेन का रूस के विरोध में रची गई साज़िश करार देते थे।

पत्र-पत्रिकाओं में इस संदर्भ में 'मर्यादा' का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। हिंदी प्रदेश के लोगों को वैश्विक घटनाक्रमों से लगातार परिचित करवाना तथा यहाँ बोल्शेविज़्म के प्रचार-प्रसार करना इस पत्रिका का मुख्य एजेंडा था। 'मर्यादा' के संपादक कृष्णकांत मालवीय थे। 29 सितंबर, 1919 के 'प्रताप' में इनसे संबंधित एक ख़बर छपी कि पं. कृष्णकांत पेट्रोगार्ड जाने वाले हैं, जहां लेनिन ने उन्हें बोल्शेविज़्म पर व्याख्यान देने के लिए निमंत्रित किया है। कृष्णकांत मालवीय बोल्शेविज़्म के बड़े प्रचारक और समर्थक थे। 'मर्यादा' के अगस्त, 1919 के अंक में उनकी संपादकीय टिप्पणी थी-'बोल्शेविज़्म का प्रचार'। इस अंक में सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी के केंद्रीय समिति के सदस्य बुखारिन का लेख भी छपा था। शीर्षक था-'कम्युनिज़्म की स्थापना केसे हो?'। कार्ल मार्क्स की 'दास कैपिटल' को लेकर सितंबर, 1919 के 'मर्यादा' में एक टिप्पणी छपी-' बोल्शेविज़्म की बाइबिल'। इसे 'स्वदेश' से लिया गया था। इसमें व्यक्तिगत पूँजी को ख़तम कर मज़दूरों द्वारा देश के सारे उद्योग-धंधे और पैदावर सम्मिलित मिल्कियत के अधीन रखे जाने की बात को दोहराया गया।

रमाशंकर अवस्थी भी बोल्शेविज़्म के कट्टर समर्थक थे। वे गणेश शंकर विद्यार्थी के 'प्रताप' में काम करते थे। उन्होंने रूसी क्रांति के बाद 'मर्यादा' में तीन महत्वपूर्ण लेख लिखे। सितंबर, 1919 में 'रूसी किसानः आगामी आदर्श' लेख में उन्होंने प्रारंभ में दीन-हीन अवस्था वाले रूसी किसानों द्वारा निरंकुश सत्ता को उखाड़ फेकने और अपनी सरकार बनाने की चर्चा की है। उस समय भारत में औपनिवेशिक नीतियों और ज़मींदारी प्रथा ने समाज के जिस हिस्से को सबसे ज़्यादा तबाह किया वे किसान थे। विराट आबादी वाले इस वर्ग की हैसियत सबसे ख़राब थी। अतः लेखक ने इस वर्ग को केंद्रित कर अपने लेख में यह दिखाया कि रूसी क्रांति के हिरावल दस्ते में किसान ही थे जिन्होंने मज़दूरों को मिल में हिस्सेदारी दिलाई और सैनिकों को राजनीतिक अधिकार। रूसी क्रांति में किसानों की भूमिका को लेकर उनके वर्णन में सीमायें हैं, लेकिन भारत की तत्कालीन स्थितियों में यह महत्वपूर्ण था। उनके दो अन्य लेख हैं- दिसंबर 1919 में प्रकाशित

'रूसी मज़दूरः आगामी विश्वकर्मा', और फरवरी 1920 में प्रकाशित लेख 'रूसी सैनिकः स्वतंत्र राष्ट्र रक्षक'। इन लेखों में क्रमशः रूस के मज़दूरों और वहां के सैनिकों की क्रांति-पूर्व स्थितियों तथा क्रांति के उपरांत उनके बहुआयामी विकास पर बात की गई है। लेखक ने अपने इन लेखों में उन कारणों को भी दिखाने का प्रयास किया है जिसके चलते इन दो समुदायों ने इस क्रांति में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

'प्रभा' ने बोल्शेविक क्रांति के प्रचार-प्रसार में साथ ही इसे लेकर सामान्य जानकारी को पाठकों तक पहुंचााने में सक्रियता दिखाई। इसमें बोल्शेविक क्रांति के समर्थन में और साथ ही उसके विरोध में भी लेख छपते थे। 1920 से लेकर 1925 तक इसके कई अंकों में बोल्शेविक संबंधी वैचारिक लेखन प्रकाशित हुए। इसमें रमाशंकर अवस्थी के दो स्वतंत्र लेख प्रकशित हुए- 'रूस की राज्य क्रांति' (अप्रैल और मई 1920) और 'बोल्शेविज़्म और उसके आचार्य' (जनवरी 1920)। 'रूस की राज्यक्रांति' में अवस्थी जी ने रूसी क्रांति की पृष्ठभूमि में जाकर ज़ार के शासनकाल की उन स्थितियों को सामने रखा है जिसने रूसी जनता को बदतर हालात में पहुंचा दिया और उन्हें क्रांति के लिए एकजुट हाने को मजबूर कर दिया। यूरोप के अन्य राष्ट्रों में जबकि 16वीं शताब्दी से जनता के मत को महत्त्व मिलना शुरू हो गया था, रूस को इसके लिए 20वीं सदी तक इंतज़ार करना पड़ा। अवस्थी जी ने 1864 में रूस में हुए किसान-आंदोलन का भी अपने लेख में उल्लेख किया। इसमें रूसी किसानों ने वहां की शासन-व्यवस्था प्रतिनिधित्व की मांग भी उठाई थी। इस आंदोलन को ज़ार ने क्रूरतापूर्वक दबा दिया लेकिन जनाक्रोश भीतर-ही-भीतर सुलगता रहा और असंतुष्ट जनता, क्रांतिकारियों और अराजकतावादियों ने एक साथ ज़ारशाही के विरोध में सड़क पर उतर पड़े- ''दमन सदा से क्रांति का कारण रहा है। अतः ज़ार की निरंकुशता के साथ-साथ अराजकता भी बढ़ चली। साम्यवादी दल के लोग भी अराजकों के साथ मिलकर काम करने लगे। कालांतर में इस प्रकार महाक्रांति की स्थापना हो चली।''[24] इस क्रांति के बाद भी हालांकि रूस में जारशाही का अंत नहीं हुआ लेकिन शासन-व्यवस्था में आम लोगों का प्रतिनिधित्व मिलना शुरू हुआ। इसके बाद भी रूस के आम लोगों विशेषकर किसानों, मज़दूरों व सैनिकों की स्थिति नहीं सुधरी। प्रथम विश्वयुद्ध ने इनकी मुश्किलों को और भी बढ़ा दिया। वहां की आर्थिक स्थिति और भी बदतर हो गई, अकाल ने हालत को और भी नाजुक बना दिया। युद्ध में भेजे गए सैनिकों के पास न तो लड़ने को हथियार बचे थे और न ही खाने को भोजन। इस युद्ध में उनके लिए कुछ नहीं बचा

था। वे शांति चाहते थे। रूस की परिस्थितियों और जनता के असंतोष को क्रांतिकारी चेतना में परिवर्तित कर रूस में बोल्शेविक क्रांति को सूत्रबद्ध किया गया। लेख में मित्र राष्ट्रों द्वारा इसे विफल करने की कोशिशों और उसे नाकाम कर देने में बोल्शेविक नेतृत्त्व का भी विस्तृत वर्णन किया गया है।

जनवरी, 1920 में 'प्रभा' में ही प्रकाशित अपने एक अन्य लेख 'बोल्शेविज़्म और उसके आचार्य' में दुनिया भर में रूस क्रांति के विरोध में चलाए जा रहे अभियानों की आलोचना की गई है। प्रमुख राजनयिकों का साम्यवाद विरोधी अभियान चलाने के पीछे उनकी मंशा क्या है यह लेखक से नहीं छिप पाता है- ''हालैंड के मंत्री मिनहियर ओडनडेक की राय में 'बोल्शेविज़्म', 'सभ्यता का अंतर करने वाला प्रवाह है; फ्रेंच परराष्ट्र सचिव मो. स्तेफन पिशोन इसकी गवर्नमेंट को 'अपराधिनी सरकार' के नाम से पुकारते हैं और पेट्रोग्राड में रह चुके फ्रेंच राजदूत इसके आचार्यों को 'अमानुषिक' नाम दे चुके हैं। इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री मि. लायड जार्ज ने बहुत कुछ सोच विचार कर इसे 'संसार की शांति भंग करने वाला आंदोलन' कहा है, और अमेरिका वाले इसे 'भ्रष्ट समष्टिवाद' समझते हैं। परंतु जिन्होंने निष्पक्षता से रूसी घटनाओं को पढ़ा और समझा है, शायद उनके ख़्याल से उपयुक्त राजनीतिक दिग्गजों के ये सर्टिफिकेट केवल एक ही दृष्टिकोण के द्योतक हैं।''[25] इसके उपरांत लेखक ने रूसी क्रांति की उन विशेषताओं को रेखांकित किया जिसने वहां के लोगों के रहन-सहन में बुनियादी बदलाव कर दिए, सार्वजनिक उपयोग की वस्तुओं को निजी हाथों से लेकर सार्वजनिक बनाया गया और रूस ऐतिहासिक रूप से प्रगति और समता के पथ पर बढ़ गया।

'प्रभा' में ही प्रकाशित बाबू संपूर्णानंद ने अपने लेख 'रूस की राज्यक्रांति' में बोल्शेविक उसूलों के इतिहास के बारे में भी पाठकों को अवगत करवाया है। रूस की विभिन्न पार्टियों के बीच के अंतर को सामने रखते हैं- '' बोल्शेवी लोग कार्ल मार्क्स को अपने सिद्धांत का प्रवर्तक मानते हैं। पर अकेले बोल्शविक ही कार्ल मार्क्स के शिष्य नहीं हैं। प्राय: सभी साम्यवादी उनको साम्यवाद का आचार्य मानते हैं, सोशल डेमोक्रेट दल जिसका केन्द्र जर्मनी है, अपने को उनका अनन्य अनुयायी बताता है। यह बात एक प्रकार से सत्य भी है। मार्क्स का ठीक-ठीक उद्देश्य चाहे जो रहा हो, पर इतना प्राय: सभी मानते हैं कि यदि उनकी शिक्षा का यथार्थ पालन किया जाए तो सिवाय समष्टिवाद (कम्यूनिज़्म) के और कोई मार्ग नहीं निकल सकता।''[26] रूस में बोल्शेविकों और मेन्शेविकों व अन्य

दलों के बीच के मुख्य सैद्धांतिक अंतर से भी वो पाठकों को अवगत कराते हैं। साम्यवादी दल युद्ध का विरोधी था और इसने राज-व्यवस्था में जनता की हैसियत को सर्वोपरि बना दिया था। पूंजीवादी साम्राज्यवादी देशों को इससे ख़तरा महसूस हुआ। बाबू संपूर्णानंद ने लिखा है- ''ब्रिटेन और फ्रांस ने उन लोगों की सहायता की जिन्होंने बोल्शेविक सरकार के ख़िलाफ़ विद्रोह किया, पर विद्रोहियों की अंत में हार हुई। बाहर से व्यापार एकदम बंद हो गया। इससे बहुत बड़ी क्षति हुई। उस पर आपत्ति यह आई कि पहले ही साल फसल खराब हुई। पर बोल्शेविक सरकार इन आपत्तियों को झेल गई। यह उसकी शक्ति और लोकप्रियता का प्रमाण है।''[27] लेखक ने इस क्रांति को अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व का माना है जिसने गरीबों व दमितों के भीतर आशा का दीप जला दी है। इसके अलावा भी 'प्रभा' में कई लेख छपे जो बोल्शेविक क्रांति के बारे में अलग-अलग पहलुओं पर विचार करते हैं। प्राय: सभी लेखनों में लेखक का उद्देश्य भारतीय जनता को अधिक चेतनाशील और अपने अधिकारों के लिए जागृत करना रहा है। इसलिए लेख के बीच-बीच में उसे भारतीय संदर्भ में रखकर यहां की औपनिवेशिक व्यवस्था की सच्चाई और आम जनता की स्थितियों को उजागर किया जाता रहा है। इस क्रम में लोगों को एक संपूर्ण मुक्ति के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा भी दी गई।

गणेश शंकर विद्यार्थी की पत्रिका 'प्रताप' में भी बोल्शेविज़्म के प्रचार-प्रसार को लेकर अनेक लेख छपते थे। विद्यार्थी जी स्वयं कांग्रेसी थे, लेकिन वे कांग्रेस के भीतर की उस धारा के साहसी प्रतिनिधि थे जिन्होंने स्वराज को जनपक्षधरता के आधार पर परिभाषित किया था। वे बोल्शेविक क्रांति को लेकर उत्साहित थे। 21 जुलाई 1919 को संपादकीय में उन्होंने लिखा-''गत पांच शताब्दियों से दुनिया में ज़मींदारशाही और पूँजी शासन के अत्याचार होते रहे हैं जिसने मनुष्यों के अधिकारों को ठुकराया है। अब बोल्शेविज़्म ने उस शासन का अंत कर दिया है। दुनिया के मज़दूर उसकी ओर आकर्षित हैं। भविष्य इसी का है।''

विद्यार्थी जी और उस दौर के अधिकांश विचारक बोल्शेविक क्रांति से उत्पन्न राजनीतिक परिस्थितियों को अत्यंत जिज्ञासा के साथ टोह रहे थे। 2 फरवरी और 9 फरवरी 1920 को 'प्रताप' में उनके दो लेख छपे जिसका शीर्षक क्रमश: 'बोल्शेविज़्म की लहर' और 'बोल्शेविक ख़तरा' था। इसमें सोवियत रूस को लेकर वे सामान्य जानकारी को पाठकों के सामने लाते हैं और साथ ही उसका यूरोप की राजनीति में प्रभाव भी। क्रांति के बाद जिस तरह मित्र राष्ट्रों ने उस पर ताबड़तोड़

हमले कर दिए और उसके ख़िलाफ़ दुश्प्रचार का एक पूरा अभियान लिया गया, इससे गणेशशंकर विद्यार्थी वाक़िफ़ थे; साथ ही उस नई क्रांति का दुनिया भर में प्रसार होने की संभावनाओं से भी–

''बड़े-बड़े प्रयत्न हुए कि बोल्शेविक रूस का अन्य देशों से कुछ भी संपर्क न होने पावे और इस प्रकार बोल्शेविज़्म की छूत एक दायरे ही में घिरी रहकर घुल-घुलकर मर जाए। परंतु जितनी कोशिश इस तरह की, की जाती थी बोल्शेविज़्म का जोर उतना ही बढ़ता गया। ... बोल्शेविक साइबेरिया में बढ़ते जा रहे हैं। पश्चिमीय यूरोप पर धावे की तैयारी है। काबुल पर उनका मंत्र चल गया है। अन्य देशों पर भी वे अपना जाल फेंक रहे हैं। ... अब मित्र-राष्ट्र अपनी शक्तियां केवल इस बाढ़ को रोकने में लगा रहे हैं। इसलिए भारतवर्ष की सरहद पर सैनिक मजबूती की जा रही है। इसीलिए अर्मीनिया के प्रजातंत्र को मित्र-राष्ट्रों ने स्वीकार कर लिया।''[28]

वे मानते थे कि 'बोल्शेविज़्म साधारण भावोद्रेक नहीं है। संसार के इतिहास में उसका स्थान रहेगा और संसार के अनेक देश उसके भारी प्रभाव से किसी प्रकार भी न बच सकेंगे।'[29] वैचारिक रूप से वे उन सभी हमलों का जवाब भी देने की कोशिश करते हैं जो उस समय रूस पर लगाये जा रहे थे, जिससे उनके पाठकों के बीच अफ़वाह न फैले–

''वे कहते हैं, बोल्शेविज़्म व्यक्तिगत संपत्ति का विनाशक और समाज के वर्तमान क्रम का संहारक है। उसके अनुसार, धनवानों और जायदाद वालों का कहीं ठिकाना नहीं। स्त्रियां बांट ली जाती हैं। सोवियत शासन प्रणाली पूरा हुल्लड़ है। कहीं शांति नहीं। मार-काट और छीना-झपटी का राज्य है। उस समस्त भूमि पर, जिस पर बोल्शेविकों के चरण पड़े, समस्त दिशायें हाहाकार से गूंज उठी।... दूसरा पक्ष और ही कुछ कहता है। बोल्शेविकों को धनवानों और जमींदारों के विरोधी होने से इनकार नहीं। जो लोग हाथ या दिमाग से मेहनत करके देश का उत्पादन नहीं बढ़ाते, उन्हें देश के शासन और संगठन के काम में कोई भी स्थान न मिलना चाहिए। ... वे कहते हैं स्त्रियों और पुरूषों के समान हक़ हैं। स्त्रियां बांटी नहीं जातीं, विरोधियों ने इस प्रकार की बातें फैलाई।''[30]

भारत जैसे एक औपनिवेशिक देश में स्वाभाविक था कि सरकार यह भरसक प्रयास करे कि बोल्शंविक क्रांति और उससे जुड़ी खबर भारत में न आये और अगर आए भी तो उसे विकृत कर दिया जाए। इसके सहारे यहां किसी तरह के वर्ग-संघर्ष की संभावना को ही ख़तम किया जाए।

क्योंकि इस स्थिति में पहली चोट साम्राज्यवाद पर होगी। एक ऐतिहासिक बदलाव को उद्घाटित करने वाले रूस से हज़ारों मील दूर स्थित हिन्दी के लेखकों, विचारकों और पत्रकारों के लिए अचानक से इस बदलाव के सिद्धांत को पूरी तरह से आत्मसात् करना स्वाभाविक नहीं था। गणेशशंकर विद्यार्थी का इस महान बदलाव के प्रति लगाव था जो उन्होंने अंग्रेजों की ओर से आ रही अफ़वाहों पर हमेशा संदेह किया। महत्वपूर्ण बात यह है कि वे इसे लेकर क्रमशः अधिक सजग और सचेत हो रहे थे। 1929 तक आकर बोल्शेविज़्म को लेकर उनकी राय अधिक स्पष्ट और गहन थी। मार्च 1929 में लिखे गए एक लेख 'भारतवर्ष और कम्युनिज़्म' में वे साम्यवाद के प्रसार की संभावनाओं और चुनौतियों का जायजा लेते हैं। उस दौर में भारतीय राजनीति की दो महत्वपूर्ण घटनाओं को वे कम्युनिज़्म के प्रभाव-संदर्भ में देखते हैं- 'पब्लिक सेफ्टी बिल' और 'मेरठ षड्यंत्र केस'। ब्रिटिश सरकार द्वारा कम्युनिज़्म से भयभीत होने के कारणों की पड़ताल करते हुए वे इसे स्पष्ट करते हैं-

''कम्युनिज़्म समाज-सृजन की एक व्यवस्था है। अभी तक समाज में केवल धनी लोग श्रेष्ठ समझे जाते थे, उन्हीं के हाथों में सब अधिकार का होना उचित समझा जाता था। कम्युनिज़्म के आधार पर यह सत्ता, यह अधिकार कुछ थोड़ों की नहीं, सबकी होगी। यह हो सकेगी या नहीं, यह दूसरी बात है। किंतु यदि कोई आदमी ऐसा मत रखता है, इस बात का प्रचार करता है, लोगों से कहता है कि इस विषय का साहित्य पढ़ो, तो बुरा ही क्या है?''[31] वे रूस से अलग भारत की परिस्थितियों का आकलन कर यहां बोल्शेविज़्म की संभावनाओं और चुनौतियों की पड़ताल करते हैं।

बोल्शेविक क्रांति ने अपने पूर्व की अधूरी क्रांतियों और राजनीतिक-सामाजिक परिवर्तन के लिए चले विभिन्न आंदोलनों के सबक को अपने भीतर समाहित किया था। इसने भारत के राष्ट्रवादियों और साहित्यकारों के सामने एक सकारात्मक मिशाल रखी। 1917 की अक्टूबर क्रांति को लेकर हिंदी पत्र-पत्रिकाओं में न सिर्फ लेख निकलने लगे; बल्कि, कथाकारों के बीच भी इसका प्रभाव पड़ा। प्रेमचंद के 'प्रेमाश्रम' उपन्यास में एक नौजवान पात्र है- बलराज। इस पात्र के संदर्भ में वीरभारत तलवार ने कहा है कि 'वह प्रथम विश्वयुद्ध के बाद पूर्वी उत्तर प्रदेश के किसानों के बीच उभर रही उस नई संघर्षी चेतना का चरित्र है, जिसे रूस की बोल्शेविक क्रांति ने जगाया था।'[32] वह (बलराज) किसानों को समझाता है- ''...मेरे पास जो पत्र आता है उसमें लिखा है कि रूस देश में

काश्तकारों का ही राज है, वह जो चाहते हैं करते हैं। उसी के पास एक देश बलगारिया है। वहाँ अभी हाल की बात है, काश्तकारों ने राजा को गद्दी से उतार दिया है और अब किसानों और मज़दूरों की पंचायत राज करती है।''[33]

बोल्शेविक क्रांति के प्रति हिंदी के लेखकों-पत्रकारों के इन आग्रहों का अपना समय संदर्भ था। जब साम्राज्यी होड़ में लगे शक्तिशाली देशों की शासन नीति अंतत: अपनी औपनिवेशिक जनता और साथ ही अपने देश के नागरिकों के हितों की न सिर्फ अनदेखी कर रही थी, बल्कि उनके हर स्वर को कुचला और दबाया जा रहा था। ऐसे में रूस में आए इन परिवर्तनों का अपना अभिप्राय था। साप्ताहिक पत्रिका 'प्रताप' में 1927 में बाल कृष्ण शर्मा 'नवीन' ने एक लेख लिखा। लेख का शीर्षक था- 'आगामी महाभारत'[34]। इसमें लेखक ने विश्व में पनप रही टकराव की स्थिति को रेखांकित करते हुए दुनिया को आने वाले महासमर के बारे में आगाह किया है। वे लिखते हैं- ''इंग्लैंड अपनी प्रभुता को लोक-सत्ता के नाम पर संसार भर में स्थापित करना चाहता है। जापान और अमेरिका अपने व्यापार और कला-कौशल के आगे संसार के अन्य राष्ट्रों को माथा टेकने के लिए विवश करने के प्रयास में है। जर्मनी सोचता है कि यदि इंग्लैंड ने अपनी प्रभुता की छाप संसार भर में छाप दी तो हमारा वैज्ञानिक तथा शैल्पिक विकास, विकास नहीं, वरन् विनाश के सदृश्य है। मुस्लिम राष्ट्रों का कहना है कि यदि हमने अपनी धार्मिक कट्टरता की रक्षा न कर पायी तो हमारा विनाश समीप है। रूस का कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति को खाने-पीने, पहनने ओढ़ने तथा सुख से अपना जीवन व्यतीत करने का समान अधिकार है।'' इन देशों के ये दावे, प्रयास और उनकी मंशा दरअसल वहाँ की व्यवस्थागत वर्चस्व वाले वर्गों की है- इंग्लैंड, जापान, अमेरिका, जर्मनी की भी और रूस की भी। रूस के साथ बाकी देशों की नीतियों और उनके उद्श्यों के बीच जो सीधा-सीधा अंतर है वह उनकी शासन-व्यवस्था पर नियंत्रण करने वाले वर्गों के हितों का विरोधाभास है। यह तीव्र वर्गीय अंतर्विरोध उस पूरे युग को आंदोलित कर रहा था। अपने इसी लेख में 'नवीन' ने लिखा है- ''रूस की राज्य क्रांति, जर्मनी का राज सत्ता प्रेम, इंग्लैंड और अमेरिका की हड़तालें, फ्रांस की मज़दूर क्रांतियां, स्पेन के विप्लव, इटली के साम्यवादी आंदोलन, टर्की के धर्मयुद्ध और गुलाम जातियों के स्वाधीन बनने के लिए होने वाले आंदोलन-सभी इस संघर्ष-यज्ञ के आहुतिदाता हैं।'' इन संघर्षों ने सदियों से चली आ रही शोषक और दमनकारी व्यवस्था को ज़बरदस्त ढंग से चुनौती दी। लेखक इन विप्लवी संघर्षों का स्वागत करता है-''मनुष्यों की रक्तांजलियों से ही

मनुष्य के कल्याण की स्वयं रचना होने जा रही है। कितना भीषण दृश्य है! पर अब स्थितियां बतलाती हैं कि वर्तमान उलझनों ने कोई दूसरा मार्ग ही नहीं छोड़ा है। यदि वास्तव में ऐसी स्थिति है तो हम मनुष्य जाति के सच्चे विकास और उद्धार के नाम पर सजल नेत्रों सहित इस विकराल संघर्षण का स्वागत करते हैं।''।

महावीर प्रसाद द्विवेदी ने छद्म नाम 'किसान' से एक लेख लिखा जिसका शीर्षक था- 'अवध के किसानों की बर्बादी'। इसकी भूमिका शिव प्रसाद गुप्त ने लिखी थी। शिव प्रसाद गुप्त द्विवेदी-युग के प्रमुख रचनाकार और क्रांतिकारी विचारधारा के पोषक थे। वे 'आज' अख़बार के संपादक भी थे। इस 'भूमिका' में वे लिखते हैं- ''अब जो जागृति देश में हो रही है और उसका जो प्रभाव किसानों पर पड़ रहा है उससे किसानों की आंखें खुली हैं और उन्होंने अपने स्वत्व की रक्षा के लिए हाथ-पैर हिलाना प्रारंभ कर दिया है। यह देखकर अवध के ज़मींदारों को यह भय होने लगा है कि कहीं उनकी सोने का अण्डा देने वाली मुर्गी उड़ न जाय।...किसानों की अवस्था गुलामों से भी ज़्यादा गिरी हुई है। इसकी एकमात्र औषध उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता देना है।...इसलिए मैं अपने जमींदार भाईयों का ध्यान इस ओर दिलाना चाहता हूं और उनसे यह कहना चाहता हूं कि उन्हें रूस की हालत से सबक़ लेना चाहिए और अधिक देर होने के पहिले सोचकर ठीक रास्ते पर चलना चाहिए, नहीं तो उनका मालिक ईश्वर ही है।''[35] शोषित वर्गों के लिए रूस की क्रांति ने एक नये युग में पदार्पण के लिए लौ जला दी थी।

प्रेमचंद औपनिवेशिक भारत और राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन के सबसे महत्वपूर्ण और मुखर रचनाकारों में से है। उनके लेखन में इस आंदोलन तथा इसकी दशा और दिशा को लेकर गंभीर हस्तक्षेप हैं। इस हस्तक्षेप के कुछ अपने उद्देश्य हैं। वे साम्राज्यवादी राजव्यवस्था, पूंजीपतियों में मुनाफ़ाखोरी की होड़, हाशिये के समाज के प्रति साज़िशाने ढंग से सक्रिय पूरी व्यवस्था के विरूद्ध तथा मेहनतकश आवाम के राजनीतिक-सामाजिक उभार के पैरोकार हैं। किसी भी समाजिक संरचना के लिए यह एक स्वाभाविक सच्चाई है और किसी समय-संदर्भ में एक आदर्श भी। लेकिन इतना तय है कि इस सच्चाई अथवा आदर्श को एक निर्णायक वर्ग-संघर्ष से होकर ही अस्तित्व में आना होगा।

प्रेमचंद अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के प्रति एक आलोचनात्मक और महत्त्वपूर्ण ढंग से पक्षधरतापूर्ण दृष्टिकोण रखते हैं। वे स्थितियों और घटनाओं को महज ख़बर के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत नहीं करते, बल्कि वे उस क्रम में न्याय-अन्याय को अलगाने का प्रयास भी करते हैं। इस क्रम में उन्होंने तटस्थ रहने की कोशिश कभी नहीं की। अंतर्राष्ट्रीय घटनाक्रमों की जटिलताओं के बीच भी उन्होंने अपनी राजनीतिक प्रतिबद्धता को तय किया। उनकी इस पक्षधरता का, उनके इस निर्णायक दृष्टिकोण का आख़िर आधार क्या था? प्रेमचंद को आख़िर यह ऊर्जा कहाँ से मिल रही थी, जिससे वे पूंजीवादी तर्कों की पोल खोल सके, साम्राज्यवाद और फ़ासीवाद के चेहरे पर लगे मास्क को उघाड़ सके; क्योंकि यह सब बिना किसी वैचारिक प्रतिमान को सामने रखे, बिना किसी विकल्प के प्रति आकर्षित हुए असंभव नहीं है। आखिर उन्हें विकल्प कहाँ नजर आया? अप्रैल, 1930 में 'हंस' में छपे एक लेख 'स्वराज से किसका अहित होगा'[36] में राष्ट्रीय आंदोलन में सभी समुदायों के भाग लेने की एक भावनात्मक अपील की गई है; लेकिन इस दौरान वे उन वर्गों को भी चिह्नित करते हैं जिनका ऐशो-आराम स्वराज-प्राप्ति के बाद किसी भी मज़दूर-किसान अथवा आम आदमी की दुर्दशा पर नहीं होगा। प्रेमचंद के लिए स्वराज का तात्पर्य समानता पर आधारित एक शोषण मुक्त शासन-व्यवस्था है। यह पूंजीवादी-साम्राज्यवादी समाज के विरूद्ध एक समााजवादी-साम्यवादी राज्य संरचना में ही संभव है। स्वराज के आंदोलन को वे ग़रीबों-मजलूमों के हितों से जोड़कर देखते हैं- ''इसमें संदेह नहीं कि स्वराज का आंदोलन ग़रीबों का आंदोलन है। अंग्रेज़ी राज्य में ग़रीबों, मज़दूरों और किसानों की दशा जितनी ख़राब है, और होती जा रही है, उतनी समाज के किसी और अंग की नहीं।'' उस व्यवस्था में मध्यवर्ग की दशा भी कुछ हद तक ठीक थी- ''सरकारी नौकरों की तनख़ाहें बढ़ गई, नए सुधारों से भी उन्हें कुछ फ़ायदा पहुंचा, उनके लिए कई महाविद्यालय खुल गए, व्यापारियों के भी कुछ आंसू पोंछे गए पर किसानों की हालत रोज़ ब रोज़ ख़राब होती जा रही है। उन पर लगान बढ़ता जाता है, सख़्तियां बढ़ती जाती हैं। काउंसिल में उनके हितों का कोई रक्षक नहीं है।'' अगर ये ताक़तें एकजुट होकर इस शोषण का प्रतिकार करतीं हैं तो उन्हें 'बोल्शेविज़्म का हौआ बताकर उस आंदोलन को जड़ से खोदकर फेंक दिया जाता है'। प्रेमचंद को यक़ीन है कि 'स्वराज-सरकार के हाथों इस कुदशा का सुधार होगा। न अफ़सरों के चिराग़ आसमान में जलेंगे, न ग़रीबों के घरों में अंधेरा रहने पाएगा'। वे इस वर्ग की संगठित ताक़त

के महत्व को पहचानते हैं- ''ग़रीबों की छाती पर दुनिया ठहरी हुई है, यह कठोर सत्य है। हर एक आंदोलन में ग़रीब लोग ही आगे बढ़ते हैं, यह भी अमर सत्य है।''

प्रेमचंद भारत में चल रहे स्वाधीनता आंदोलन से सक्रिय रूप से जुड़े थे, उन्होंने इसी आंदोलन के आह्वाहन पर अपनी नौकरी भी छोड़ी थी। वे इसे समानता, एकता, और सामाजिक-राजनीतिक सम्मान के लिए लड़ी जा रही लड़ाई के रूप में देखते हैं; परंतु उन्होंने कभी भी इस आंदोलन और इसके नेतृत्वकारी वर्ग के प्रति अंधभक्ति नहीं दिखाई। इसके विपरीत उन्होंने हमेशा ही इस नेतृत्वकारी वर्ग के अंतर्विरोधों, आडंबरों और जनोपेक्षा पर निर्मम सवाल दागे। 'सुराज' के उद्देश्य के प्रति उनकी समझदारी बेहद स्पष्ट थी और इसके मूल्य को निगलने वाले वर्ग के विरोध में उनकी लेखनी अत्यंत सख़्त। अपने अनेक लेखों में उन्होंने स्वाधीनता आंदोलन के नेतृत्वकारी वर्ग की आलोचना की है। स्वराज को लेकर उनकी वर्गीय पक्षधरता एकदम स्पष्ट है- ''हम पूंजीपतियों का स्वराज नहीं चाहते। ग़रीबों का, काश्तकारों का, मज़दूरों का स्वराज चाहते हैं।''[37] प्रेमचंद स्वाधीनता आंदोलन के उन समर्थकों और सेनानियों में से थे जो इस संघर्ष को वर्ग-संघर्ष की नज़र से देखते हैं, उसी दिशा में मोड़ने को प्रयासरत थे। उनके सामने रूस की बोल्शेविक क्रांति थी।

20वीं सदी के वे दशक जिनमें प्रेमचंद अपनी रचनात्मकता और वैचारिकता को अंतर्राष्ट्रीय संदर्भों से जोड़ रहे होते हैं, वह तेज़ी और गुणात्मक परिवर्तन के साथ बदलता युग है। इस दौर में पूंजीवादी अर्थव्यवस्था को उसके अंतर्विरोधों ने अभूतपूर्व संकट में डाल दिया- रूस में सोवियत क्रांति, युद्धोपरांत मानवीय मूल्यों के अस्तित्व का संकट, विराट आर्थिक मंदी, फ़ासीवाद का विस्फोटक उद्भव, इन्हीं संकटों की वर्गीय प्रतिक्रियाएं थीं। इस तरह के बड़े बदलावों अथवा घटनाओं का अपना वर्गीय आधार होता है। युद्ध के पूर्व से ही औपनिवेशिक दुनिया में विद्रोह की लहर उठने लगी थी। 1916 में डब्लिन में हुए सशस्त्र विद्रोह लगातार व्यापक होता जा रहा था, 1885 में भारत में हुए महान विद्रोह की आंच अभी सुलग रही थी, मिस्र में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरूद्ध बड़ा जन उभार उठ चुका था, 1919 में चीन में छात्रों का बड़ा आंदोलन हुआ और गृहयुद्ध की तरफ़ बढ़ने लगा थी। परंतु, 'ये आंदोलन उन्हीं समाजों की पुनर्स्थापना के लिए हो रहे थे जो विदेशी ताक़तों के सामने पहले ही घुटने टेक चुके थे।[38] लेकिन, अक्टूबर 1917 के बाद इन

आंदोलनों में एक गुणात्मक परिवर्तन आना तय हो चुका था। एक जर्जर शासन-प्रणाली को लेनिन के नेतृत्व में समाज की सबसे क्रांतिकारी धारा ने विध्वंस कर शोषक और दमनात्मक पूंजीवादी-साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था का एक साम्यवादी विकल्प सामने रखा।

रूस में हुई बोल्शेविक क्रांति के प्रति प्रेमचंद शुरू से ही आकर्षित थे। 1919 के दिसंबर में अंग्रेजी सरकार द्वारा किए जानेवाले कुछ वैधानिक सुधारों पर अपनी राय ज़हिर करते हुए प्रेमचंद ने 'ज़माना' पत्रिका के संपादक और अपने मित्र दयानारायण निगम को एक पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने कहा- 'मैं क़रीब-क़रीब बोल्शेविक उसूलों का कायल हो गया हूँ...।'[39] बोल्शेविक उसूलों द्वारा रूस की निरंकुश ज़रशाही का ख़ात्मा हुआ था तथा किसानों-मजूरों को शासन की बागडोर मिली। इन्हीं बोल्शेविक उसूलों का प्रभाव था कि फ़रवरी 1919 में 'ज़माना' में छपे अपने एक प्रसिद्ध लेख 'नया ज़माना- पुराना ज़माना' में वे लिखते हैं- ''आनेवाला ज़माना अब किसानों और मज़दूरों का है। दुनिया की रफ़्तार इसका साफ़ सबूत दे रही है। हिंदुस्तान इस हवा से बेअसर नहीं रह सकता। ... इनक़लाब से पहले कौन जानता था कि रूस की पीड़ित जनता में इतनी ताक़त छिपी हुई है? ...क्या आप समझते हैं कि उन पर उन आज़ाद देशों की आबोहवा का कुछ भी असर न होगा।''[40] इसी के आसपास लिखे जा रहे उनके उपन्यास 'प्रेमाश्रम' का बलराज कहता है- ''मेरे पास जो पत्र आता है, उसमें लिखा है कि रूस देश में काश्तकारों का ही राज्य है। वे जो चाहते हैं, करते हैं।''[41] इसके बाद भी उनकी रचनाओं में विशेषकर लेखों में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से रूस और समाजवादी सिद्धांतों के प्रति उनका आकर्षण देखने को मिलता है। पत्नी शिवरानी देवी से इस सम्बन्ध में उनके बातचीत का एक अंश है -

मैं बोली- ''जब स्वराज हो जाएगा, तब क्या चूसना बंद हो जाएगा?''

आप बोले- ''चूसा तो थोड़ा-बहुत हर जगह जाता है ...हाँ रूस है, जहाँ पर कि बड़ों को मार-मार कर दुरुस्त कर दिया गया, अब वहाँ ग़रीबों का आनंद है। शायद यहाँ भी कुछ दिनों बाद रूस जैसा ही हो।''

मैं बोली- ''क्या आशा है कुछ?''

आप बोले- ''अभी जल्दी कोई आशा नहीं।''

मैं बोली- ''मान लो कि जल्दी ही हो जाए, तब आप किसका साथ देंगे?''

आप बोले- ''मज़दूरों और काश्तकारों का। मैं पहले ही सब से कह दूंगा कि मैं तो मज़दूर हूँ। तुम फावड़ा चलाते हो मैं कलम चलाता हूँ। हम दोनों बराबर ही हैं ...मैं तो उस दिन के लिए मनाता हूँ कि वह दिन जल्दी आए।''

मैं बोली- ''तो क्या रूस वाले यहाँ भी आयेंगे?''

वह बोले- ''रूस वाले यहाँ नहीं आयेंगे, बल्कि रूस वालों की शक्ति हमलोगों में आयेगी।''

मैं बोली- ''वह लोग अगर यहाँ आते, तो शायद हमारा काम जल्दी हो जाता।''

वह बोले- ''वह लोग यहाँ नहीं आयेंगे, हमीं लोगों में वह शक्ति आयेगी। वही हमारे सुख का दिन होगा, जब यहाँ काश्तकार और मज़दूरों का राज्य होगा। मेरा ख़याल है कि आदमियों की ज़िन्दगी औसतन दूनी हो जाएगी।''[42]

प्रेमचंद को विश्वास था कि कोई बाहर से आकर हमें नहीं जगाएगा बल्कि हमें खुद की शक्ति और एकता से ऐसी व्यवस्था कायम करनी होगी जो किसानों और मजूरों की होगी। लेकिन, इसके लिए रूस उनके सामने आदर्श था।

रूस की उन्नति और प्रगति से प्रेमचंद खुश होते हैं। सर्वहारा क्रांति के उपरांत बनी वहाँ की सरकार के नेतृत्व में रूस की उन्नति का परचम हर तरफ़ लहरा रहा था। बाहरी हस्तक्षेप, आंतरिक विरोध, आर्थिक मंदी आदि से उबरकर सोवियत सरकार स्थापित हो चुकी थी। इस व्यवस्था ने न केवल रूस में असमानता और शोषण पर टिकी व्यवस्था का अंत कर दिया बल्कि पूरी दुनिया में व्यवस्था से त्रस्त वर्गों तथा उनके संघर्ष को इसमें उम्मीद की एक किरण दिखाई पड़ने लगी। सोवियत रूस की उन्नति प्रेमचंद के भीतर भी आशा और उत्साह का संचार करती है। 1932 में 'जागरण' में छपे अपने एक लेख में वे लिखते हैं- ''सोवियत रूस के पंचसाला कार्यक्रम का फल आशातीत हो रहा है। एक अंग्रेज पत्रकार ने वहाँ की दशा की पाँच साल पहले की हालत से तुलना करते हुए लिखा है कि रूस में नए नगरों और क़स्बों की बाढ़-सी आ गई है। कितने ही ऐसे गाँव,

जहाँ सौ दो सौ आदमी रहते थे, वहाँ जनसँख्या पचास गुनी ज्यादा बढ़ गई है। झोपड़ों के ज़रा-ज़रा से पुर्बे विशाल नगर बन गए हैं। व्यावसायिक उन्नति की यह रफ़्तार संसार के इतिहास में विस्मयजनक है। जहाँ जनता पर जनता के हित के लिए शासन किया जाता है, वहाँ ऐसी ही सफलता प्राप्त होती है।''[43] प्रेमचंद 'जनता पर जनता के हित के लिए शासन' को ही खुशहाली की कुंजी मानते हैं।

राधामोहन गोकुल उस दौर के उन लेखकों में से थे जो अपने मूलगामी और क्रांतिकारी राजनीतिक व सामाजिक विचार को साहस के साथ रखते हैं। वे ब्रिटिश सत्ता का विरोध देशभक्ति की कोरी भावना से नहीं बल्कि शोषण-तंत्र की बारीकी को पहचान कर करते हैं। धर्म और ईश्वर को लेकर उन्होंने कई उग्र और गंभीर लेख लिखे। 'हंस' के जनवरी 1933 के अंक में उनके लेख 'ईश्वर का बहिष्कार' की प्रशंसा प्रेमचंद ने की थी। सामाजिक और राजनीतिक आंडबरों पर उनके निर्मम लेखन की जड़ में साम्यवादी विचारों के प्रति उनका तीव्र आग्रह था। 'मर्यादा' मार्च, 1920 में प्रकाशित उनका लेख है 'ईश्वर और साम्यवाद'- ''ईश्वर की कल्पना केवल संपत्तिवादियों और ऊंच-नीच के पुजारियों का षड्यंत्र है क्योंकि वे श्रमजीवियों को भयभीत रखना चाहते हैं और उनके श्रम के बदले में उन पर क्रूर शासन अथवा अन्याय करके अपना मतलब निकालना चाहते हैं।''[44] गोकुल जी विचारक से आगे बढ़कर एक कम्युनिस्ट कार्यकर्त्ता भी थे। भारत में कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना के तुरंत बाद हिन्दी के पाठकों के सामने वे जैसे इस पार्टी का घोषणपत्र रखते हैं। 7 फरवरी 1925 को 'मतवाला' में प्रकाशित उनका लेख है- 'कम्यूनिस्ट पार्टी क्या चाहती है?' अपने इस लेख में उन्होंने कम्युनिस्ट पार्टी के उद्देश्यों और उसके विचारों को आसान तर्कों के साथ सामने रखा है। इस लेख का महत्त्व वे स्वयं बताते हैं- ''हाल में समस्त भारत के साम्यवादी दल का प्रधान केन्द्र कानपुर में कायम हुआ है।हमारे देश के बहुतेरे लोग पार्टी का उद्देश्य नहीं जानते। इसीलिए इस पार्टी का काम यथेष्ट नहीं फैला। अत: इसके उद्देश्यों पर प्रकाश डालना आवश्यक है।''[45] लोगों के बीच कम्युनिज़्म का खुलकर प्रचार करना गोकुल जी के लेखन-कार्य का महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। रूस की क्रांति का उल्लेख वे अपने कई निबंधों में करते हैं। 16 जनवरी 1926 को 'साम्यवादी' में प्रकाशित 'किसान-मज़दूरों से निवेदन' में वे उन्हें धनी वर्गों से अपनी मुक्ति की कोई उम्मीद न रखने की सलाह देते हैं। समझाने का तरीका बेहद जीवंत है-

''यहां पर मुझे रूस की एक कहानी याद आती है। किसी देश में एक बड़ा बलवान दैत्य रहता था जिसका नाम 'वीर' था। उसकी पलकें नीचे पैरों तक लटकती रहती थीं जिससे वह कुछ देख न सकता था। वह अपने तमाम खेतों को जोतता, बोता, सींचता, काटता और जब अन्न तैयार होता तो दूसरे लोग उठा ले जाते। इसी तरह वह सूत कातता, कपड़ा बनाता और जब माल तैयार होता तो उसे दूसरे ही लोग ले भागते। इस तरह अटूट परिश्रम करते रहने पर भी वह बलवान दैत्य सदा भूखा, नंगा ही बना रहता था।

एक दिन एक साम्यवादी उसके पास आया उसे इस परिश्रमी 'वीर' की दशा देखकर बड़ा दुख हुआ। उसने बाज़ार से एक बड़ी चिमटी खरीदी और 'वीर' की पैरों तक लटकती हुई पलकों को उलट दिया और वह देखने लगा। उसके बाद किसी की यह हिम्मत न थी कि उसका माल उठाकर ले जाता और 'वीर' अपनी मेहनत का फल आप खाकर आराम से रहने लगा।''[46]

भारत के मेहनतकशों की भी यही स्थिति थी। यह वर्ग शक्तिशाली है, व्यवस्था का मूल आधार है, लेकिन इसके श्रम की लूट ने इन्हें मुफलिस बना रखा है। जिस तरह रूस में इस वर्ग ने अपनी शक्ति को पहचाना वैसे ही भारत के श्रमिक वर्ग भी अपनी ताक़त को पहचानें- लेखक का यही निवेदन है।

राधामोहन गोकुल ने सितंबर 1924 से जनवरी 1925 तक 'मतवाला' में एक श्रृंखलाबद्ध लेख लिखा। इसके उन्होंने छद्म नाम 'प्रत्यक्षवादी' का सहारा लिया। लेख का शीर्षक है- 'रूस में अतिक्रांति'[47]। इस लेख में इतिहास पर लेखक की पकड़ सचमुच चौंकाने वाली है। वे रूस की क्रांति को उसके इतिहास में जाकर देखते हैं। क्रांति कोई सहसा घटित होने वाली चीज़ नहीं है। इसके लिए इतिहास-बोध, छोटी-छोटी क्रांतियों का आत्मसंघर्ष और सही मौके पर सही रणनीति की ज़रूरत होती है। बोल्शेविक क्रांति की भूमिका को सामने रखते हुए गोकुल जी उसके इतिहास को निहलिस्ट आंदोलन तक ले जाते हैं। इस क्रम में वे बाकुनिन के 'शासनहीन साम्यवाद' के सिद्धांत, उसकी सीमाओं और क्रांति की पूर्वपीठिका तैयार करने में उसके योगदान की विस्तार से चर्चा करते हैं। 1905 में रूस में भड़के आंदोलनों का तथा इस दौरान वहां साम्यवादी विचारों के ज़बरदस्त बढ़ाव से होते हुए यह लेख ज़ार के पतन तक का इतिहास है। लेखक घटनाओं और प्रवृत्तियों का वर्णन करते हुए उसकी तुलना भारत की स्थिति और ब्रिटेन के बड़बोलेपन से भी करता जाता है। इसी

प्रकार अपने एक अन्य लेख 'वर्तमान शताब्दी की गत तीन दशाब्दियां' में उन्होंने बोल्शेविक क्रांति और दुनिया भर में बढ़ रहे उसके प्रभावों का ज़िक्र किया है। यह लेख 'चांद' के सितम्बर, 1934 के अंक में छपा था। इसमें क्रांति के बाद रूस के सामने की चुनौती और इनसे लड़ने की उनकी सफल रणनीति को सामने लाया गया है। इस क्रांति का प्रभाव एशिया और यूरोप के देशों पर किस तरह पड़ रहा है लेखक ने इसकी विस्तृत चर्चा की है। तत्कालीन वैश्विक परिदृश्य को देखते हुए लेख के अंत में लिखा है- ''अनुमान होता है कि धीरे-धीरे एक बार कार्ल मार्क्स का मत संसार में फैल कर रहेगा।''[48] अपने समय-संदर्भों को देखते हुए यह गोकुल जी का सिर्फ अनुमान नहीं थी, उनकी आकांक्षा भी थी।

बोल्शेविक क्रांति को लेकर उस दौर की सबसे महत्त्वपूर्ण पुस्तकों में से एक थी राधामोहन गोकुल जी की 'कम्यूनिज्म क्या है'। इसे उन्होंने 1924 में लिखा और इसका प्रकाशन 1927 में कानपुर सोशलिस्ट बुकशॉप से हुआ। व्यापक अध्ययन, आधुनिक विचारबोध प्रवाहमय भाषा-शैली वाली इस किताब को उन्होंने बिल्कुल देशी भाषा और समझाने वाली शैली में लिखा है। बोल्शेविज्म को लेकर फैलाया जा रहे भ्रम को चुनौती देते हुए इसमें उन्होंने इसके असल उद्देश्यों को सामने रखा है। वे स्पष्ट करते चलते हैं कि कम्युनिस्ट समाज किस तरह का बनेगा? कैसे बनेगा? उसके समाज की विशेषताएं क्या होंगी? इसके लिए वे भारतीय शासन-व्यवस्था और यहां की सामाजिक संरचनाओं और पिछड़ेपन को भी उदाहरण के तौर पर सामने रखते हैं। पूंजीवादी शासन-व्यवस्था के भीतर छिपे अंतर्विरोधों को सामने लाते हुए वे कम्युनिज़्म को अवश्यंभावी बताते हैं- ''पूंजीपति शासन का विनाश अवश्यंभावी है। अब तो यह हमारी आंखों के सामने मरणोन्मुख हो रहा है। इसके नाश के दो मूल कारण हैं। एक ओर माल के पैदावार की गदर जिससे क्रय-विक्रय की होड़, होड़ी रुपए के बाज़ार का विप्लव और युद्ध होते ही रहते हैं, दूसरी ओर सामाजिक भेदभाव।''[49] राधामोहन गोकुल जी के सामने एक ओर दुनिया भर के साम्राज्यवादी देशों का चरित्र और पूंजीवादी व्यवस्था की अनगिनत करतूतें थीं तो दूसरी ओर एक समाजवादी समाज का विकल्प। पराधीन भारतीय समाज में शोषण के विभिन्न स्तरों से मुक्ति के लिए उन्होंने लोगों के सामने मुक्ति की स्पष्ट दिशाओं को सामने रखा है।

सत्यभक्त भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के संस्थापक सदस्यों में से एक थे। अपने लेखन के साथ-साथ एक सक्रिय बोल्शेविक कार्यकर्त्ता के रूप में उन्होंने इसका प्रचार-प्रसार किया। राधामोहन गोकुल के साथ कानपुर में रहकर वे आम भाषा-शैली में बोल्शेविज़्म का प्रचार में लिखते भी थे और मज़दूरों के बीच पर्चा भी बांटते, भाषण भी देते। 6 सितम्बर 1924 को 'मतवाला' में उनका एक छोटा लेख छपा- 'भारतीय साम्यवादी दल'। इसमें उन्होंने बोल्शेविज़्म को भारत की समस्या का एकमात्र उपाय बताया- ''बोल्शेविज़्म या कम्युनिज़्म का नाम हम पांच-छै वर्ष से बराबर सुन रहे हैं। शुरू में लोगों का ख्याल था कि बोल्शेविज़्म कोई बड़ी बला है जिसका उद्देश्य संसार को बर्बाद और खराब करना है। जब इस संबंध की सच्ची बातें मालूम होने लगीं तब हमने समझा कि बोल्शेविज़्म या कम्युनिज़्म तो संसार के उद्धार का एकमात्र मार्ग है। केवल इसी के द्वारा संसार के वर्तमान दोष, बुराइयां दूर हो सकती है, और भूखे, नंगे, गरीब लोगों की दुर्दशा का अंत हो सकता है।''[50] सत्यभक्त उस समय 'साम्यवाद' नाम से एक पत्रिका भी निकालते थे। यह कानपुर से प्रकाशित होती थी तथा इसमें बोल्शेविज़्म को लेकर सामान्य और सैद्धांतिक जानकारी पाठकों को दी जाती थी। यह तब मज़दूर वर्गों के बीच खासा लोकप्रिय हो रहा था। तभी इसके कांग्रेस के कुछ कार्यकर्त्ता इस पत्रिका के पीछे पड़ गए और सरकार से मिलकर इसका प्रकाशन बंद करवाया। इस प्रकरण की आलोचना करते हुए 'मतवाला' में 'मतवाले की बहक'[51] स्तंभ में 6 मार्च 1926 को तीन टिप्पणियां छपी[52]-

1. ''अभी होली का नशा अच्छी तरह उतरने भी नहीं पाया था, तब तक कानपुर से खबर आ गई कि कांग्रेस के कार्यकर्त्ताओं के स्तुत्य प्रयत्न से सहयोगी साम्यवाद का प्रकाशन बंद हो गया है! वाह! बड़ी बात हुई? कानपुर की नाक रह गई और गरीबों का रक्त चूसकर नेतागिरी करने का पथ भी निष्कंटक हो गया!''

2. ''जिस देश में गरीबों के उष्ण रक्त से देश-भक्त नेताओं की मोटरें दौड़ती हैं- शराब की बोतलें उड़ती हैं, बार बनियातें बगलें गरमाती हैं और जिन्हें बाल उखाड़ने का भी शऊर नहीं वे बरियार खां बन जाते हैं, वहां साम्यवाद और साम्यवादी की ज़रूरत ही क्या है? देश में साम्यवाद फैल जाएगा तो हमारे बड़े कांग्रेसी नेता लोग क्या बैठकर कोंपर चाटेंगे?''

3. ''कानपुर के जिन कांग्रेसकर्त्ताओं ने प्रेस वालों पर दबाव डालकर साम्यवादी का प्रकाशन रोकवा दिया है, उन्हें चाहिए कि साम्यवाद के प्रचारक श्रीयुत सत्यभक्त और मौ. हसरत मोहानी को भी जबह कर दें। जड़ ही पकड़कर उखाड़ लें तो सारा बखेड़ा ही मिट जाए।''

ये टिप्पणियां कांग्रेस और राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन के ऊपर तीखा व्यंग्य करने वाली हैं। कांग्रेस में हालांकि बोल्शेविक समर्थक लोग भी थे, स्वयं गांधी ने कई बार स्वयं को बोल्शेविक सिद्धांतों का समर्थक भी कहा है। लेकिन जिस प्रकार वे शुरू से आख़िर तक इसकी आलोचना और इसका इसका विरोध करते रहे, कांग्रेस भी अपनी नीतियों में बोल्शेविक प्रचारों की विरोधी थी। उन्हें इसके प्रचार से राष्ट्रीय आंदोलन के 'उग्र', 'हिंसक' और 'स्वाधीनता के पथ से च्युत' हो जाने का खतरा दिख रहा था।

बोल्शेविक क्रांति और उसके सिद्धांतों का खुलकर समर्थन करने वाले लेखकों में यशपाल भी आते हैं। ये प्रेमचंद की परंपरा और भगत सिंह की विचारधाराओं को लेकर चलने वाले साहित्यकार हैं। 'विप्लव' पत्रिका में 'मार्क्सवाद की पाठशाला' नाम से एक स्थाई स्तंभ आता था। इसे 'विलक्षण' नाम से यशपाल लिखते थे। यही लेख 1940 में पुस्तक के रूप में छपा। इससे पूर्व 1934 में सत्यभक्त की पुस्तक 'साम्यवाद के सिद्धांत' आ चुकी थी। इसी साल राहुल सांकृत्यायन की पुस्तिका 'साम्यवाद ही क्यों' छपी। इस पुस्तक को समर्पित करते हुए यशपाल ने लिखा है– ''मेरा यह परिश्रम समर्पित है उन सब साथियों को जो समाजवाद को पूर्णतः समझे बिना ही उसके सुखद स्वप्नों की कल्पना किया करते हैं और उन सब मित्रों को जो समाजवाद का वास्तविक परिचय प्राप्त किए बिना ही उसे समाज, सभ्यता और संस्कृति का शत्रु समझते हैं।''[53] दरअसल बोल्शेविक क्रांति को लेकर कई लोगों के अंदर कुछ पूर्वाग्रह थे और बग़ैर इसके राजनीतिक व वैचारिक आयाम को समझे उसका विरोध भी कर रहे थे। यशपाल की कोशिश उन्हें इस राजनीतिक सिद्धांत से अवगत करवाना था।

जर्मनी में साम्यवादी आंदोलनों का निर्ममतापूर्वक दमन करने तथा उग्र और साम्राज्यवादी राष्ट्रवाद को पागलपन की हद तक गति देने वाले हिटलर के उदय के बाद रूस के सामने एक नई चुनौती थी। क्योंकि इस दौर में जापान भी उग्र साम्राज्यवाद की राह पर निकल चुका था। रूस की पूर्वी और पश्चिमी दोनों ही सीमाएं असुरक्षित थीं। रूस ने जर्मनी के फ़ासीवाद के ख़िलाफ़ फ्रांस

और चेकोस्लोवाकिया से सुरक्षात्मक संधि की। लेकिन जब बार-बार उसके प्रयासों के बावजूद भी फ्रांस, इंग्लैंड, अमरीका आदि देश एक निर्णायक हिटलर-विरोधी मोर्चा बनाने में तटस्थ रहे तो उसने आगे बढ़कर जर्मनी से ही 'मोलोतोफ-रिबेनट्राप' संधि कर ली। यह संधि रूस के लिए ऐतिहासिक रूप से कुशल कूटनीति थी, जिसने जर्मनी के ख़िलाफ़ तैयारी का मौका दिया। दूसरे विश्वयुद्ध के शुरू होते ही जब हिटलर ने पश्चिमी योरोप को रौंदने के बाद रूस की ओर रूख़ किया, स्तालिनग्राद में उसे हार का सामना करना पड़ा। दूसरी ओर हिटलर की राजधानी बर्लिन में सबसे पहले रूसी सेनाएं पहुंची। इस प्रकार हिटलर और फ़ासीवाद पर सबसे महत्वपूर्ण और निर्णायक कील ठोंकने का काम रूस ने किया। प्रेमचंद ने इंग्लैंड में उभर रहे एक फ़ासीवादी पार्टी जो भारत में उठ रहे स्वरों का दमन करने की खुली समर्थक थी, की आलोचना और उस पर व्यंग्य करते हुए लिखा है कि फ़ासीवाद को अंततः साम्यवाद ही ख़त्म कर सकता है- ''अंग्रेज़ी फ़ासिज़्म के संस्थापक सर ओसवाल्ड को शायद जल्द मालूम हो जाएगा कि फ़ासिज़्म कोई स्थाई वस्तु नहीं है, वह कम्युनिज़्म के समीप आते-आते एक दिन उसी में विलीन हो जाएगा।''[54] फ़ासीवाद का उद्‌भव और उसके विकास के लिए मुख्यतः वह व्यवस्था ही ज़िम्मेदार थी जिसे विध्वंस कर बोल्शेविक पार्टी ने रूस में साम्यवादी व्यवस्था की नींव रखी।

विश्व के अर्थतंत्र में नियोजित अर्थव्यवस्था तथा पंचवर्षीय कार्यक्रम रूस की ही देन है। स्तालीन ने सोवियत सरकार को आंतरिक और बाहरी विरोधियों से मुक्त कराके वहाँ की आर्थिक नीतियों को इस ढंग से कार्यान्वित करना शुरू किया जिससे नई आर्थिक नीतियों के चलते उभर रहे नए पूंजीपति वर्ग और नए ज़मींदार वर्ग के प्रभाव को समाप्त किया जा सके। वहाँ की राजकीय योजना आयोग (गास्प्लान) ने 1928 में आर्थिक और सामाजिक स्तर पर क्रांतिकारी बदलावों और उनके सुदृढ़ीकरण के लिए एक योजना तैयार की। यह सोवियत सरकार की अगले पांच सालों की आर्थिक नीतियों की रूपरेखा थी। इसमें आधुनिक तकनीक के उपयोग, रूस को एक स्वतंत्र और शक्तिशाली औद्योगिक देश बनाने, भारी उद्योग का तेज़ विकास, खेती को सामूहिक पद्धति पर विकसित करने, हर तरह के पूंजीवादी प्रवत्तियों को समाप्त करने तथा रूस को सुरक्षा की दृष्टि से आत्मनिर्भर बनाने आदि पर बल दिया गया।[55] इस योजना के कार्यान्वयन में उसे ज़बरदस्त सफ़लता मिली। इसने रूस की सामाजिक-आर्थिक संरचना को आश्चर्यजनक ढंग से बदल दिया। विकास की इस गति ने पूरी दुनिया का ध्यान आकर्षित किया। इस नई और वैकल्पिक

सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था ने पूंजीवादी राष्ट्रों और उसके तंत्रों को भीतर तक हिला दिया। पूंजीवाद की हिमायती संस्थाएं और मीडिया ने रूस के ख़िलाफ़ षड्यंत्रकारी ढंग से बेबुनियादी और कई बार हास्यास्पद आरोप लगाए। भारत जैसे एक औपनिवेशिक देश जहाँ के हर तंत्र पर पूंजीवादी-साम्राज्यवादी और सोवियत व्यवस्था के प्रबल विरोधी ब्रिटेन का नियंत्रण था, रूस के बारे में ख़बरें एक 'औपनिवेशिक सेंसरशिप' से होकर ही आ पा रही थीं। दूसरे, यहाँ की पत्रिकाओं और मीडिया पर उन्होंने सख़्त पाबंदिया लगा रखी थीं। ऐसे में रूस से संबंधित वे ख़बरें जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद अथवा वैश्विक पूंजीवाद को चुनौती देने वाली हों, के प्रचार-प्रसार की अधिक गुंजाइश नहीं थी। यह प्रेमचंद की सजगता तथा सोवियत शासन के प्रति लगाव का ही परिणाम था कि उन्होंने न केवल रूस के तीव्र जनपक्षीय विकास को समझा और उसे अपने ढंग से प्रचारित-प्रसारित किया; बल्कि उसके ख़िलाफ़ रची जा रही षड्यंत्रों के ओछे उद्देश्यों का भी खुलासा किया। 21 अगस्त, 1933 का उनका एक लेख है- 'रूस में समाचार-पत्रों की उन्नति'। इसमें वे लिखते हैं-

''रूस के सिवा समस्त संसार में पूंजीपतियों का राज्य है और समाचार-पत्रों को भी पूंजीपतियों का राग अलापना पड़ता है, नहीं उनका दीवाला निकल जाए। अधिकांश पत्र तो पूंजीपतियों के धन से ही चलते हैं। इसलिए रूस के सोवियत शासन को काले से काले रंगों में रंगने की चेष्टा की जाती है और सिद्ध किया जाता है कि अब वह बहुत जल्द रसातल में पहुंचना चाहता है। पर रूस इतनी हवाई गति से उन्नति कर रहा है कि इन समाचार-पत्रों को भी कभी-कभी इस उन्नति को दबाए रखना कठिन हो जाता है। शिक्षा प्रचार में इन दस-बारह सालों में इसने जो तरक्की की है, उस पर सारा संसार दांतों तले अंगुली दबा रहा है। ... लोहे की चीज़ों में, बिजली के प्रसार में, खेती वृद्धि में वह बड़े वेग से क़दम बढ़ाता जा रहा है। अब ज्ञात हुआ कि उसने सोवियत काल में समाचार-पत्रों में अभूतपूर्व उन्नति की है। ... और उन चालबाजियों का नाम भी नहीं है, जो अन्य देशों के पत्र प्रतिद्वंद्विता के कारण अपनी ग्राहक-संख्या बढ़ाने के लिए किया करते हैं। सनसनी फैलानेवाली ख़बरें, चोरी, बलात्कार आदि की घटनाएं, तेज़ी, मंदी और मिल के हिस्सों की नोटिसें और शब्द जाल और पहेलियां, फ़ैशन और समाज के चुटकुले, उन पत्रों में नज़र नहीं आते। तलाक़, ज़िना आदि की ख़बरें छपने नहीं दी जातीं। हाँ, अंतर्राष्ट्रीय समाचारों पर काफ़ी ध्यान दिया जाता है। यहाँ तक कि विदेशी भाषाओं के पत्रों का प्रचार भी एक करोड़ से कम नहीं। इन प्रमाणों के

सामने कौन कह सकता है कि सोवियत शासन बौद्धिक और सांस्कृतिक उन्नति में उन्नत राष्ट्र से भी पीछे है।''[56]

समाचार-पत्रों और राजव्यवस्था के चरित्र के अंत:संबंधों का यहाँ प्रेमचंद ने सही विवरण दिया है। ये प्रथमत: और अंतत: आर्थिक उत्पादन के संबंधों से निर्मित 'आधार' की 'अधिरचनाएं' ही हैं, जिनका संबंध कई बार द्वंद्वात्मक और तनाव भरा होता है। तत्कालीन समाचार-पत्रों का वर्गीय चरित्र अंतत: पूंजीवादी औपनिवेशिक व्यवस्था के पक्ष में परिभाषित हो रहा था; हालांकि इन्हीं समाचार-पत्रों में उस व्यवस्था को चुनौती देने वाली ख़बरें भी छपती थीं।

अप्रैल 1934 में भारत के कुछ समाचार-पत्रों में यह ख़बर छपी कि सोवियत रूस में सरकारी नीतियों ने अरबों रूबल के विदेशी निवेश की योजना पास की है। यह संदेश भी दिया गया कि वहाँ अभी भी वर्गीय शोषण का स्वरूप काफी हद तक सुरक्षित है तथा सरकारी अफ़सरों की ज़िंदगी आम आदमी की अपेक्षा पर्याप्त ऐशो-आराम की है। ऐसे में प्रेमचंद इन ख़बरों को जारी करने और भारतीय जनमानस के बीच प्रसारित करने के उद्देश्य को समझने की कोशिश करते हैं। वे इसे सोवियत व्यवस्था के विरूद्ध एक साज़िश के रूप में देखते हैं- ''लेकिन हमारा तो अनुमान है कि यह ख़बर भी पूँजीवादी राष्ट्रों का रूस के ख़िलाफ़ प्रोपेगेंडा है। रूस अभी एक नई सभ्यता की प्रारंभिक अवस्था में है। पुराने संस्कार कुछ न कुछ रहेंगे ही। बेशक प्रोलिटेरियट के हाथ में बहुत अधिकार है। मज़दूरों और किसानों को विशेष अधिकार मिले हुए हैं, लेकिन यह पुरानी दशा की प्रक्रिया है, जब मजूरों और किसानों को कोई अधिकार ही नहीं था।''[57]

रूस में हुई बोल्शेविक क्रांति को लेकर भारत में जिस पैमाने पर भ्रम फैलाया जा रहा था और उसके दुष्प्रचार पर सरकार की सक्रियता बढ़ रही थी, लेखकों ने वहां की असल सच्चाई से पाठकों को रू-ब-रू करवाना अपनी जिम्मेदारी समझी। रूस में स्त्रियों की स्थिति को लेकर तरह-तरह का भ्रम फैलाया जा रहा था। यह कहा जा रहा था कि जिस प्रकार रूस ने ज़मीन और कारखानों को सार्वजनिक कर दिया है उसी तरह वहां महिलाओं को भी सार्वजनिक संपत्ति मान लिया गया है, आदि। इसके प्रत्युत्तर में रूस में क्रांति के बाद महिलाओं की स्थिति को लेकर कई लेख लिखे गए। इस दृष्टि से पं. देवव्रत शास्त्री ने 'वर्तमान रूस की स्त्रियां'[58], मनोरमा गुप्त ने 'सोवियत रूस में स्त्रियों का स्थान'[59], क्रांति कुमार शर्मा ने 'रूस की स्त्रियों में सामाजिक क्रांति'[60]

व एक भारतीय विदुषी महिला ने 'रूसी नारियों में आदर्श जागृति'[61] जैसे अनेकों लेख लिखे गए। रूस का भ्रमण कर लौटी बंबई की एक महिला विदुषी ने वहां का आंखों देखा हाल लिखा– ''अब से बीस ही वर्ष पहले रूसी स्त्रियों की दशा संसार के किसी देश की स्त्रियों से अच्छी नहीं थी, बल्कि अपेक्षाकृत खराब ही थी।'' लेकिन क्रांति के बाद यह स्थिति बदल गई– ''परंतु इससे कोई यह न समझे कि केवल अच्छे घरानों की नारियों की ही अवस्था ऐसी है। बल्कि सच पूछिए तो अपेक्षाकृत मज़दूर श्रेणी की महिलाओं की अवस्था कहीं अधिक अच्छी हो गई है। कारखानों में काम करने वाली मज़दूरिनों को अब स्वास्थ्य नाशक दुर्गन्धपूर्ण झोपड़ों में नहीं रहना पड़ता, बल्कि उनके निवास–स्थान का खूब ख्याल रखा जाता है। बीमार पड़ने पर फैक्टरी के डॉक्टर नि:शुल्क उनकी चिकित्सा करते हैं, दाइयां बिना किसी फीस के उनकी सेवा–शुश्रूषा के लिए नियुक्त की जाती हैं। हर फैक्टरी में चिकित्सालय के साथ–साथ पुस्तकालय तथा छोटे–छोटे बच्चों के लिए स्कूल भी रहते हैं। मज़दूरिनों के बच्चे शिक्षा प्राप्त करते हैं। काम के घंटे घटा दिए गए हैं और उनके साथ व्यवहार भी मनुष्योचित होने लगा है। गर्भावस्था के दिनों में तथा बच्चा पैदा होने के बाद भी महीनों के लिए उन्हें सवेतन छुट्टी मिलती है और वेतन के साथ–साथ उन्हें बच्चें के भरण–पोषण के लिए भत्ता भी मिलता है। इस प्रकार कारखाने अब रूस में शैतान के कारखाने नहीं रह गए हैं, बल्कि उनमें भी मनुष्यता निवास करने लगी।''[62] औपनिवेशिक भारत में बदतर होती जा रही स्त्रियों की स्थिति के सामने सोवियत रूस की स्त्रियों की दशा को सामने रख कर यहां भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के सामने भी एक चुनौती रख दी गई है। इस स्थिति तक भारत को पहुंचने के लिए 'सुधारवाद' से बहुत आगे बढ़कर राजव्यवस्था के चरित्र को बदलना पड़ेगा।

यहाँ पूंजीवादी राष्ट्रों के उस षड्यंत्र को समझना महत्वपूर्ण है कि वे किस प्रकार रूस की सोवियत–व्यवस्था के ख़िलाफ़ दुनिया भर में प्रचार–प्रसार कर रहे थे। प्रेमचंद रूस की उन्नति और उसमें आ रही बाधाओं को ठोस भौतिक आधार पर समझने की कोशिश करते हैं। रूस में हुई क्रांति एक अत्यंत जर्जर, शोषक और पूंजीवाद–सामंतवाद परस्त व्यवस्था को ध्वस्त करके सफल हुई थी। परंतु, क्रांति के पश्चात बोल्शेविक पार्टी के सामने कई चुनौतियां भी खड़ी थीं। रूस के अंदर वर्गीय टकराव ने गृहयुद्ध का रूप धारण कर लिया था, वहाँ के पूंजीवादियों और सामंत वर्ग तथा मध्यवर्ग के प्रतिक्रियावादी हिस्सों में सर्वहारा–क्रांति के विरूद्ध षड्यंत्र रचे जा रहे थे। यूरोपीय ताक़तों को यह क्रांति स्वाभाविक रूप से रास नहीं आ रही थी। इस क्रांति के बढ़ रहे प्रभाव को

नष्ट करने के लिए अनेक देशों में फ़ासीवादी शक्तियों का उदय हो रहा था तथा अमरीका, फ्रांस, इंग्लैंड जैसी शक्तियों ने इस फ़ासीवाद के ख़तरे को पहचान कर भी इसे कम्युनिस्ट आंदोलन से कम ख़तरनाक माना और इसे एक हद तक अपना मौन समर्थन दिया। जर्मनी और जापान जैसे रूस के पड़ोसी आकंठ साम्राज्यवादी होड़ में लिप्त थे। इस क्रांति के प्रभाव से दुनिया को बचाने के लिए पूंजीवादी राष्ट्र हर तरह की शक्तियों से समझौता कर सकते थे और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर इन आंदोलनों के ख़िलाफ़ हर तरह के षड्यंत्र रच रहे थे। सोवियत रूस को इन संकटों और विरोधों से निपटना था तथा अपनी व्यवस्था को देश के भीतर और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकृत करवाना था। उन्हें अपनी जर्जर और ध्वस्त-सी हो गई अर्थप्रणाली को पटरी पर लाना था तथा रूस को दुनिया के सबसे शक्तिशाली और विकसित राष्ट्रों की कतार में लाना था। हाँ, इतना अवश्य है कि इस दौरान विकास अथवा सुधार की जो भी परिभाषाएं गढ़ी गईं उसमें बुनियादी रूप से सर्वहारा के हितों को केंद्र में रखा गया।

संदर्भ सूची

[1] अतिरेकों का युग (भाग-1), एरिक हॉब्सबाम; अनु. प्रकाश दीक्षित, संवाद प्रकाशन, 2009 पृ. 73

[2] अन्ना लुई स्ट्रांग, स्तालीन युग, अनुवादक- राजेश उपाध्याय, आरोही बुक ट्रस्ट, 2004, पृ. 89

[3] अन्ना लुई स्ट्रांग, स्तालीन युग, अनुवादक- राजेश उपाध्याय, आरोही बुक ट्रस्ट, 2004, पृ. 73

[4] अन्ना लुई स्ट्रांग, स्तालीन युग, अनुवादक- राजेश उपाध्याय, आरोही बुक ट्रस्ट, 2004, पृ. 73-74

[5] अन्ना लुई स्ट्रांग, स्तालीन युग, अनुवादक- राजेश उपाध्याय, आरोही बुक ट्रस्ट, 2004, पृ. 75

[6] अतिरेकों का युग (भाग-1), एरिक हॉब्सबाम; अनु. प्रकाश दीक्षित, संवाद प्रकाशन, 2009 पृ. 77

[7] रूस में अभी तक जुलियन कैलेंडर ही प्रचलित था। यह ईसाई अथवा पश्चिम में प्रचलित ग्रेगरी कैलेंडर से तेरह दिन पीछे था। वास्तव में 'फरवरी क्रांति' मार्च में हुई थी और 'अक्टूबर क्रांति' 7 नवंबर को घटित हुई थी। अक्टूबर क्रांति के बाद इस कैलेंडर को बदला गया और रूसी वर्णमालाओं में भी कई सुधार किए गए। इस से इस क्रांति की गहराई का पता चलता है। कैलेंडर और वर्णमालाओं को बदल देना सामान्य स्थितियों में आसान नहीं होता।

[8] अधूरी क्रांतियों का इतिहासबोध, लाल बहादुर वर्मा; संवाद प्रकाशन, 2009, पृ. 112-13

[9] जॉन रीड, दस दिन जब दुनिया हिल उठी, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1989, पृ. 64 में उद्धृत

[10] अतिरेकों का युग (भाग-1), एरिक हॉब्सबाम; अनु. प्रकाश दीक्षित, संवाद प्रकाशन, 2009 पृ. 83

[11] 23 जुलाई, 1918 को कारखाना समितियों के मास्को गुबेर्निया सम्मेलन में लेनिन के भाषण से। ब्ला. ई. लेनिन, सर्वहारा अंतर्राष्ट्रीयवाद, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1983 में संकलित, पृ. 139-140

[12] अन्ना लुई स्ट्रांग, स्तालीन युग, अनुवादक- राजेश उपाध्याय, आरोही बुक ट्रस्ट, 2004, पृ. 15

[13] अन्ना लुई स्ट्रांग, स्तालीन युग, अनुवादक- राजेश उपाध्याय, आरोही बुक ट्रस्ट, 2004, पृ. 39

[14] अन्ना लुई स्ट्रांग, स्तालीन युग, अनुवादक- राजेश उपाध्याय, आरोही बुक ट्रस्ट, 2004, पृ. 42

[15] अन्ना लुई स्ट्रांग, स्तालीन युग, अनुवादक- राजेश उपाध्याय, आरोही बुक ट्रस्ट, 2004, पृ. 57-58

[16] न्यू इंडिया, (मद्रास) 26 मई 1917

[17] मांटेस्क्यू ने 1917 में पत्र लिखकर ब्रिटेन को यह जानकारी थी।

[18] किसान, राष्ट्रीय आंदोलन और प्रेमचंद: 1918-22 (प्रेमाश्रम और अवध के किसान आंदोलन का विशेष अध्ययन, वीरभारत तलवार; वाणी प्रकाशन 2008, पृ. 184

[19] डॉ. सत्या एम. राय (सं.) भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2009, पृ. 381 में उधृत

[20] डॉ. सत्या एम. राय (सं.) भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2009, पृ. 381-82 में उधृत

[21] डॉ. सत्या एम. राय (सं.) भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2009, पृ. 382 में उधृत

[22] डॉ. सत्या एम. राय (सं.) भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2009, पृ. 382 में उधृत

[23] डॉ. सत्या एम. राय (सं.) भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2009, पृ. 383 में उधृत

[24] 'प्रभा' पत्रिका, अप्रैल, 1920 पृ. 37

[25] 'प्रभा' पत्रिका, जनवरी, 1920 पृ. 42

[26] 'प्रभा' पत्रिका, अक्टूबर, 1924 पृ. 254

[27] 'प्रभा' पत्रिका, अक्टूबर, 1924 पृ. 260

[28] सुरेश सलिल(सं.), गणेशशंकर विद्यार्थी; खण्ड-1, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीव्यूटर्श (प्रा.) लि., 2011, पृ. 362

[29] सुरेश सलिल(सं.), गणेशशंकर विद्यार्थी; खण्ड-1, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीव्यूटर्श (प्रा.) लि., 2011, पृ. 363

[30] सुरेश सलिल(सं.), गणेशशंकर विद्यार्थी; खण्ड-1, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीव्यूटर्श (प्रा.) लि., 2011, पृ. 363-64

[31] सुरेश सलिल(सं.), गणेशशंकर विद्यार्थी; खण्ड-1, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीव्यूटर्श (प्रा.) लि., 2011, पृ. 360

[32] सुरेश सलिल(सं.), गणेशशंकर विद्यार्थी; खण्ड-1, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीव्यूटर्श (प्रा.) लि., 2011, पृ. 60

[33] प्रेमाश्रम- प्रेमचंद, राजस्थान पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, 2004 पृ. 43

[34] 'नवीन' गद्य रचनावली (प्रथम खंड), सम्पादक डॉ. लक्ष्मी नारायण दुबे; साहित्यवाणी इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1988, में संकलित; पृ. 128

[35] महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली; खण्ड: नौ, संकलन-संपादन: भारत यायावर, किताबघर नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृ. 17-18

[36] प्रेमचंद के विचार, प्रेमचंद (भाग-1) ; प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2008, पृ 35

[37] प्रेमचंद के विचार, प्रेमचंद (भाग-1) ; प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2008, पृ 210

[38] क्रिस हरमन, विश्व का जन इतिहास; अनुवाद: लाल बहादुर वर्मा, संवाद प्रकाशन, 2009, पृ. 384

[39] चिट्ठी-पत्री, भाग-1, संकलन व संपादन- अमृत राय, मदन गोपाल, हंस प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1962, पृ. 93

[40] लेख 'पुराना ज़माना-नया ज़माना', प्रेमचंद के विचार, प्रेमचंद (भाग-3) में संकलित; प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2008, पृ. 238

[41] प्रेमाश्रम- प्रेमचंद, राजस्थान पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, 2004 पृ. 43

[42] प्रेमचंद : घर में - शिवरानी देवी; आत्माराम एण्ड सन्स, 2006, पृ. 133

[43] प्रेमचंद के विचार, प्रेमचंद (भाग-1) ; प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2008, पृ. 283-84

[44] कर्मेन्दु शिशिर (संकलन व संपादन), राधामोहन गोकुल समग्र, खण्ड-2, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., 2009, पृ. 217

[45] कर्मेन्दु शिशिर (संकलन व संपादन), राधामोहन गोकुल समग्र, खण्ड-2, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., 2009, पृ. 221

[46] कर्मेन्दु शिशिर (संकलन व संपादन), राधामोहन गोकुल समग्र, खण्ड-2, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., 2009, पृ. 227

[47] कर्मेन्दु शिशिर (संकलन व संपादन), राधामोहन गोकुल समग्र, खण्ड-2, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., 2009, पृ. 235

[48] कर्मेन्दु शिशिर (संकलन व संपादन), राधामोहन गोकुल समग्र, खण्ड-2, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., 2009, पृ. 269

[49] कर्मेन्दु शिशिर (संकलन व संपादन), राधामोहन गोकुल समग्र, खण्ड-2, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., 2009, पृ. 383

[50] प्रो. शंभुनाथ, रामनिवास द्विवेदी (संपादक), हिन्दी पत्रकारिता हमारी विरासत, वाणी प्रकाशन, 2012, पृ. 405 में संकलित

[51] मतवाला पत्रिका कलकत्ते से प्रकाशित होती थी। 'मतवाले की बहक' इसका नियमित स्तंभ था जिसे पत्र के संचालक मुंशी नवजादिक लाल श्रीवास्तव लिखते थे। अधीक व्यस्तता के कारण बाद में उन्होंने शिवपूजन सहाय से भी इसमें योगदान लिया।

[52] कर्मेंदु शिशिर (संपादक), नवजागरणकालीन पत्रकारिता और मतवाला, खंड-2, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., 2012, पृ. 75-76 में संकलित

[53] आनन्द (समन्वय-सम्पादन), यशपाल रचनावली, खण्ड-11, लोकभारती प्रकाशन, 2007, पृ. 2

[54] प्रेमचंद के विचार, प्रेमचंद (भाग-1) ; प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2008, पृ. 331

[55] अधूरी क्रांतियों का इतिहासबोध, लाल बहादुर वर्मा; संवाद प्रकाशन, 2009, पृ. 112-13

[56] प्रेमचंद के विचार, प्रेमचंद (भाग-1) ; प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2008, पृ. 312-13

[57] प्रेमचंद के विचार, प्रेमचंद (भाग-1) ; प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2008, पृ. 332

[58] 'सुधा', नवंबर 1929 में प्रकाशित, स्वाधीनता-संग्राम हिन्दी प्रेस और स्त्री का वैकल्पिक क्षेत्र, संकलन-संपादन जगदीश्वर चतुर्वेदी और सुधा सिंह, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., 2006, पृ. 51 में संकलित

[59] 'विश्वमित्र', मई, 1939 में प्रकाशित व स्वाधीनता-संग्राम हिन्दी प्रेस और स्त्री का वैकल्पिक क्षेत्र, संकलन-संपादन जगदीश्वर चतुर्वेदी और सुधा सिंह, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., 2006, पृ. 67 में संकलित

[60] 'विश्वमित्र', अक्टूबर, 1934 में प्रकाशित व स्वाधीनता-संग्राम हिन्दी प्रेस और स्त्री का वैकल्पिक क्षेत्र, संकलन-संपादन जगदीश्वर चतुर्वेदी और सुधा सिंह, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., 2006, पृ. 77 में संकलित

61 'विश्वमित्र', जून, 1936 में प्रकाशित व स्वाधीनता-संग्राम हिन्दी प्रेस और स्त्री का वैकल्पिक क्षेत्र, संकलन-संपादन जगदीश्वर चतुर्वेदी और सुधा सिंह, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., 2006, पृ. 168 में संकलित

62 'विश्वमित्र', जून, 1936 में प्रकाशित व स्वाधीनता-संग्राम हिन्दी प्रेस और स्त्री का वैकल्पिक क्षेत्र, संकलन-संपादन जगदीश्वर चतुर्वेदी और सुधा सिंह, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., 2006, पृ. 168-169

चौथा अध्याय

राष्ट्रवाद का वैश्विक संदर्भ तथा हिन्दी का कथेतर गद्य

4.1 राष्ट्रवादः अर्थ पर विचार

'भाग चलो, पितृभूमि आ रही है।' (अपने बेटे से इटली की एक किसान स्त्री[1])

पितृभूमि, मातृभूमि और राष्ट्र के निर्माण-प्रक्रिया के अनेक पहलू हैं और उसका एक सिरा काफी पीछे तक जा सकता है। लेकिन, एक 'वाद' के रूप में राष्ट्रवाद मुख्य रूप से 19वीं सदी में उभरा। 'राष्ट्रवाद' शब्द सबसे पहले 19वीं सदी के अंत में सामने आया। यह फ्रांस और इटली के उन दक्षिणपंथी समूहों का द्योतक था जिन्होंने विदेशियों के ख़िलाफ़ झंडा उठा रखे थे। यह समूह उदारवादियों और समाजवादियों का विरोधी था तथा अपने राज्य का आक्रामक विस्तार करना चाहता था। यह विश्व राजनीति का वो दौर था जब 'सारे देशों में सर्वोपरि है जर्मनी' गाने की पूरे जर्मनी में धूम थी और इसने वहां की संगीत की दुनिया में बाकी सबको पीछे छोड़ दिया था और इसे राष्ट्रगीत बना दिया गया। 19वीं सदी में यह एक सुविधाजनक ढर्रा बन चुका था जो उन तमाम आंदोलनों में प्रयुक्त होने लगा जहां 'राष्ट्रीय प्रश्न' की प्रमुखता थी। राजनीति में 'लोकतंत्रीकरण' के बाद चुनाव प्रक्रिया ने राष्ट्रवाद के इस आधार को और भी फायदेमंद और स्वाभाविक बना दिया जहां कोई चेक, जर्मन, इतालवी होकर सहज ही एक बड़े समुदाय से जुड़ने का अनंत अवसर प्राप्त कर सकता था।

राष्ट्र अपनी अवधारणा में एक आधुनिक निर्मिति है[2]। यह प्राथमिक तौर पर एक राजनीतिक सिद्धांत है जो औद्योगिक क्रांति की मांगों और उसके बाद उत्पन्न आर्थिक व राजनीतिक परिस्थितियों की दबाव से उपजा है। 1848-1870 का दौर एक साथ ही राष्ट्र-राज्य के उद्‌भव का भी दौर था और साथ ही महान क्रांतियों के असफल और संभावित क्रांति की अभिलाषा का भी। औद्योगिक क्रांति ने नगरीकरण की प्रक्रिया को अचानक से बढ़ा दिया तथा अलग-अलग पृष्ठभूमि के समुदायों को शहरों की ओर खींचा। ऐसे में उनके लिए एक साझी अस्मिता के निर्माण की आवश्यकता पड़ी।

इस दौरान उनकी पहली और बड़ी ज़रूरत, साझी भाषा थी। इस साझी भाषा की तलाश साझे अतीत और साझी संस्कृति की रचना से जुड़ी। इस तरह राष्ट्रवाद के भीतर राष्ट्रभक्ति अथवा देशभक्तिपूर्ण राष्ट्रवाद का उदय होने लगा जो एक मज़दूर को सिर्फ़ अपने लिए नहीं बल्कि 'अपने से बहुत ऊँचे राष्ट्र की उन्नति के लिए' ज़्यादा श्रम करने को तैयार करता है। इस प्रकार, साझी भाषा, साझी संस्कृति और साझे इतिहास ने नई गतिशील श्रमशक्ति को एकताबद्ध और औद्योगोन्नमुखी किया; और दूसरी तरफ एक बड़ी 'अस्मिता' के लिए जी-जान से जुट जाने को प्रेरित किया। बाज़ार और कच्चे मालों की अत्याधिक चाहत ने कारखानेदारों को उकसाया कि वे अन्य प्रांतों-ईलाकों को अपने नियंत्रण में कर लें। इन कारखानेदारों की राजनैतिक हैसियत उन देशों की संसद तक थी। उन्हें एक ऐसी अवधाारणा की तलाश जगी जो जनता के भीतर अपनी सम्मिलित 'अस्मिता' के लिए श्रेष्ठताबोध उत्पन्न करे, देश की सेना को दूसरे क्षेत्रों-देशों पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित कर दे और जिसपर सवाल खड़ा करना आसान न हो। एक ऐसी अवधाारणा जो लोगों की जातिगत, धार्मिक, और क्षेत्रीय अस्मिताओं और सवालों से ऊपर हो, ज़िंदगी की बुनियादी ज़रूरतें औंरर सवालों को ढक देने के लिए काफी हो। राष्ट्रवाद की अवधारणा ने ये कर दिखाया। योरोप में राष्ट्रवाद की उत्पत्ति के पीछे औद्योगिक क्रांति की ये ज़रूरतें सक्रिय थीं।

राष्ट्र की अवधारणा को लेकर एक प्रमुख चिंतन बेनेडिक्ट एण्डरसन की है। उन्होंने राष्ट्र को 'एक कल्पित राजनीतिक समुदाय' के रूप में देखा है जो 'सीमित भी हो सकता है और स्वायत्त भी'।[3] एण्डरसन द्वारा राष्ट्र को काल्पनिक कहने का आधार यह है कि ''राष्ट्र, यहाँ तक कि सबसे छोटे राष्ट्र के सदस्य उसी राष्ट्र के दूसरे अधिकांश सदस्यों को सीधे तौर पर न जानते हैं, न मिलते हैं और न ही उसे सुनते है, जबकि उनमें से प्रत्येक के मानस में उस समुदाय को लेकर काल्पनिक एकसूत्रता का बिम्ब होता है...उस समुदाय में प्रबल वास्तविक असमानता और शोषण के बावजूद राष्ट्र हमेशा एक गहरा और व्यापक भाईचारे के रूप में देखा जाता है। परिणामत: इसी बिरादराने अथवा समरूपता के कारण यह संभव हो पाता है और जैसा कि पिछले दो दशकों में हुआ भी कि लाखों लोग न सिर्फ़ लोगों की हत्या कर देते हैं, बल्कि स्वयं भी खुशी-खुशी अपनी जान गंवा देते हैं।''[4] राष्ट्रवाद, जो कि एंडरसन के अनुसार एक काल्पनिक समुदाय की अवधारणा है, हर सदस्य को समान अवसर और अधिकार वाले ठोस समुच्चय के रूप में पहचान प्रदान करता है, लेकिन यह काल्पनिक समुच्चय वास्तव में ऐसा होता नहीं है। इस काल्पनिक धरातल के निर्माण में

मीडिया महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है जो इस लिहाज़ से स्वयं को संप्रेषित करती है कि वे एक ही समुदाय के रूप में अपनी पहचान बनाने लगते हैं। इन समुदायों को सीमित इसलिए कहा गया है क्योंकि ये स्वयं को एक राष्ट्र की सीमा के अंदर ही कल्पित करते हैं और उस सीमा के बाहर 'अन्य राष्ट्र' होता है। जबकि इन्हें स्वायत्त इन अर्थों में कहा गया है कि कोई राज्य या शासन-व्यवस्था इस कल्पित समुदाय को नष्ट नहीं कर सकती और न ही इस पर अपना प्राधिकार स्थापित कर सकती है।

बेनेडिक्ट एण्डरसन राष्ट्र की इस अवधारणा का संबंध शासन-व्यवस्था अथवा आर्थिक उत्पादन के वे संबंध जो परिवर्तनशील होने के बावजूद पिछली कुछ सदियों से शोषण पर टिका हुआ है से जोड़ते हैं, जहाँ इस कल्पित समुदाय के भीतर एकजुटता का भाव इस तरह मौजूद होता है कि लाखों लोग इस 'कल्पना' के पीछे न सिर्फ़ दूसरों की हत्या कर देते हैं बल्कि गर्व के साथ स्वयं भी प्राण न्यौछावर कर देते हैं। उन्होंने इस तरह के कल्पित समुदाय के निर्माण को 'प्रिंट केपिटलिज़्म' से जोड़ा है। पूँजीवाद के उस दौर ने स्वयं को प्रसारित और स्वाभाविक करने के लिए किताबों को मानक भाषाओं के अलावा क्षेत्रीय भाषाओं में भी छापा जिसके चलते स्थानीय और क्षेत्रीय भाषाओं को बोलने वाले लोग एक-दूसरे के संपर्क में आने लगे। एण्डरसन के अनुसार यूरोपीय राष्ट्र-राज्यों का उदय 'राष्ट्रीय प्रिंट-भाषा' के इर्द-गिर्द हुआ। इस प्रकार वे राष्ट्र और राष्ट्रवाद को ख़ास राजनीतिक और आर्थिक लक्ष्यों की पूर्ति के लिए की हुई सामाजिक निर्मिति मानते हैं जो आधुनिकता से पैदा हुई है।

राष्ट्रवाद को लेकर जो अलग-अलग मत हैं उनसे मुख्यत: दो तरह के राष्ट्रवाद देखे जा सकते हैं। पहला, 'सिविक नेश्नलिज़्म' अथवा 'नागरिक राष्ट्रवाद', जो समुदायों के बीच में आनुवांशिक रिश्तों की अपेक्षा नागरिक अधिकारों को ज़्यादा महत्व देता है, साझे सांस्कृतिक मूल्यों को प्रोत्साहित करता है और इसकी गुंजाइश बनाये रखता है कि विभिन्न उत्पत्तियों के लोग एक दूसरे के साथ घुल-मिल सके। दूसरा, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद या 'एथेनिक नेश्नलिज़्म' अथवा 'नृजातीय राष्ट्रवाद' समुदायों के बीच आनुवांशिक संबंधों पर ज़ोर देता है। यह किसी ख़ास नृजातीय विरासत को आधार बनाकर इसके तहत लोगों को जोड़ता है। ज़ाहिर है, इसकी प्रकृति अपेक्षाकृत अपवर्जी होती है। 19$^{वी}$ सदी में इन दोनों तरह की राष्ट्रीयताओं ने अपने वैश्विक प्रभाव डाले। 'सिविक

नेश्नलिज़्म' अथवा 'नागरिक राष्ट्रवाद' ने एक तरफ़ यदि कई देशों में जनता को एकजुट कर सामंतवादवाद विरोधी और साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष का आधार तैयार किया तो दूसरी ओर, सांस्कृतिक या 'एथेनिक नेश्नलिज़्म' अथवा 'नृजातीय राष्ट्रवाद' ने दो समुदायों, नस्लों और मान्यताओं के बीच घृणा का प्रचार कर एक वर्ग विशेष के हित में राजनीतिक अर्थव्यवस्था को मोड़ा। 20वीं सदी में कई देशों में उभरे फासीवाद के आधार के रूप में इसी तरह की राष्ट्रीयता काम कर रही थी। दरअसल, राष्ट्रवाद की उपर्युक्त दोनों तरह की संकल्पनाएं पूँजीवाद के चरित्र की द्वंद्वात्मकता से उपजी हैं।

राष्ट्र को एक अविछिन्न ऐतिहासिक परंपरा और शाश्वत सांस्कृतिक इकाई के रूप में देखने के कारण 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' अतीत और उत्पत्ति के सवाल को प्रमुखता देता है। राष्ट्रवाद की इस अवधारणा का संबंध किसी नस्ल, समुदाय, संप्रदाय अथवा अस्मिता के प्रति पुनर्उत्थानवादी संकल्पना से जुड़ता है। यह संकल्पना आधुनिक विचारधाराओं अथवा समय के कटु यथार्थ से घबराकर, उनके समानांतर एक परंपरागत सुनहरे अतीत की कल्पना और दावा करता है। राष्ट्र की इस अवधारणा में एक समुदाय-विशेष को 'अन्य' बनाया जाता है तथा उक्त 'राष्ट्र' की वर्तमान स्थिति का ज़िम्मेदार उसे बताया-बनाया जाता है। इस दौरान 'राष्ट्र' की विभिन्नताओं और अन्य सभी अस्मिताओं व सवालों पर अंकुश लगा दिया जाता है। इतिहास में राष्ट्रवाद की इस व्याख्या ने घृणा और वीभत्सता का कुत्सित तांडव रचा है। शुद्ध जर्मन नस्ल की दुहाई देकर यहूदियों के जनसंहार को भी राष्ट्रहित में माना गया था। अमेरिका व अन्य कई देशों में अश्वेतों के ख़िलाफ़ बाक़ायदे एक संगठन निर्मित हुआ- 'कू-क्लक्स-क्लान'। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद में अनिवार्य रूप से फासीवाद के लक्षण होते हैं जहां, राष्ट्र का एक गुट उसी राष्ट्र के दूसरे गुट को पीसकर रख देता है। और इस सबके पीछे सक्रिय होता है- पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के अपने अंतर्विरोध। अंतर्विरोधों से उपजे सवालों के सतह पर आ जाने, मज़दूर आंदोलनों की जड़ मजबूत होने, व समाजवादी-साम्यवादी आंदोलनों के बढ़ते ज़ोर से घबराकर जर्मनी के मुख्य पूंजीघरानों और उनकी नुमाइंदगी करने वाली राजनीतिक पार्टियों ने हिटलर को सत्ता सौंप दी। राष्ट्रवाद की उन्मादी लहर पर सवार होकर ही हिटलर जर्मनी का सर्वेसर्वा बना था।

एन्थोनी स्मिथ ने राष्ट्रवाद की दो अवधारणाओं- शाश्वतवादी और आधुनिकतावादी, को मिलाकर 'एथेनो-सिम्बॉलिस्ट' की अवधारणा को सामने रखा है। किसी भी राष्ट्रीय पहचान के लिए मिथकीय आवासभूमि के महत्व को वे उस राष्ट्र की वास्तविक सीमाओं की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। उनके अनुसार राष्ट्र भले ही आधुनिकतावाद की उपज हैं लेकिन उनके एथेनिक (नृजातीय) तत्वों को खोजा जा सकता है जो इन आधुनिक राष्ट्रों से बचे हुए हैं। राष्ट्रवाद की संकल्पना को समझने के लिए वे सबसे बड़े प्रतिमान के रूप में वर्तमान के निर्माण में अतीत की भूमिका और इसके प्रति अपनाए गए दृष्टिकोण को मानते हैं। स्मिथ का मानना है कि आधुनिक राष्ट्र व्यवहारत: बहुत सारे पूर्व-आधुनिक एथेनिक तत्वों को अपने में समेटे रहता है। राष्ट्रवाद के विमर्श में 'एथेनिक' तत्वों अथवा समुदाय के बारे में विचार करते हुए सामी जुबैदा ने इसे ठोस राजनीतिक व आर्थिक संदर्भो से जोड़ा है। उनका मानना है कि एथेनिक समरूपता पूर्व-आधुनिक युग में केन्द्रीय सरोकारों द्वारा पैदा की गई राष्ट्रीय एकता का परिणाम है। उनका तर्क है कि एथेनिक समूह राष्ट्र की सांस्कृतिक निर्मिति है न कि उसके कारण राष्ट्र निर्मित होता है।[5]

मार्क्सवादी चिंतक हॉब्सबॉम राष्ट्र को आधुनिक निर्मितियां मानते हैं, लेकिन उनके अनुसार यह अपरिवर्तनशील नहीं है। वे राष्ट्रवाद को एक ऐसे सिद्धांत के रूप में देखते हैं जिसमें कि 'मूलत: राजनीतिक और राष्ट्रीय इकाईयां एक दूसरे की संगति में होती हैं।'[6] राष्ट्रवाद का विकास राजनीति, तकनीक और सामाजिक परिवर्तन की अंत:क्रिया की बिन्दु पर होता है। राष्ट्र के निर्माण को हमेशा ऊपर से नीचे की ओर देखने के बजाय हॉब्सबॉम यह प्रस्ताव करते हैं कि इसे नीचे से ऊपर की ओर भी देखा जाना चाहिए। उनके अनुसार, राज्यों की विचारधाराएं इस बात को निर्धारित नहीं कर सकती हैं कि वहाँ का समुदाय कैसे सोचते हैं और न ही यह संभव है कि लोग अपनी राष्ट्रीय अस्मिता को समाज से प्राप्त अन्य अस्मिताओं की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। दरअसल, वे ख़ास भाषा, स्थान, और वर्ग चेतना के विकास के महत्व को रेखांकित करते हैं, जिससे जन अपनी राजनीति को तय करने की ओर अग्रसर होता हैं और जो राष्ट्र को संभव बनाती है।

टॉम बॉटमोरे द्वारा संपादित 'ए डिक्सनरी ऑफ मार्क्सिस्ट थॉट' में इस बात का उल्लेख किया गया है कि यद्यपि मार्क्स और एंगेल्स 'राष्ट्र' और 'राष्ट्रवाद' के सवाल को अधिक महत्वपूर्ण नहीं मानते थे लेकिन उन्होंने उस दौर में इन्हें निर्मित और निर्धारित करने वाले राजनीतिक-आर्थिक

तत्वों का विश्लेषण किया है। अनेक प्राचीन और पारंपरिक अस्मितायें अथवा राष्ट्रीयतायें जो कि आधुनिक राष्ट्रों की तरह एक राजनीतिक परिघटनायें नहीं थीं (जैसे कि स्लेव और वेल्श जातियां), उनमें एक ढीलापन आ रहा था। औद्योगिक क्रांति ने इस प्रक्रिया को तेज़ी और नया संदर्भ-आयाम प्रदान किया। नये उत्पादन संबंधों ने एक नई अर्थव्यवस्था को सार्वभौमिक बनाने की शरूआत की। बुर्जुआ वर्ग के इसमें निजी हित निहित थे; लेकिन श्रमिक वर्ग के लिए राष्ट्र की अवधारणा का कोई औचित्य नहीं है।[7] 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र' में कहा गया है कि 'श्रमिक जनता का कोई राष्ट्र नहीं होता'।[8]

मार्क्सवादी चिंतन, राष्ट्रवाद को पूँजीवादी अर्थव्यवस्था से एक अनिवार्य संबंध के रूप में देखता है, जो पूँजीवाद के विकास के एक ख़ास चरण की निर्मिति और उसकी आवश्यकता है। राष्ट्रवाद, दरअसल पूँजीवाद के विकास की विशिष्टताओं से निर्धारित होता है। पूँजीवाद के अंतर्गत राष्ट्रों के बीच अन्त:संबंधों का स्वरूप प्रतिबिम्बित करते हुए राष्ट्रवाद दो रूपों में प्रकट होता है: प्रभुत्वशाली राष्ट्रों का महाशक्तिशाली अंधराष्ट्रवाद, जिसकी विशेषता अन्य राष्ट्रों के प्रति हेयदृष्टि है, तथा उत्पीड़ित राष्ट्र का स्थानीय राष्ट्रवाद, जिसपर अपने को अलग घेरे में रखने की इच्छा और दूसरे राष्ट्रों के प्रति अविश्वास की छाप होती है। 'राष्ट्रहित' के नारों के माध्यम से एक वर्ग विशेष मेहनतकश वर्गों की चेतना को कुंठित करने, अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर आंदोलन में फूट डालने, उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यी युद्धों को जायज़ ठहराने का वैचारिक षड्यंत्र करता है।[9] अत: मार्क्सवादी चेतना में राष्ट्रीयता के बजाय 'अंतर्राष्ट्रीयतावाद' पर बल दिया जाता है। परंतु जैसा कि भारत जैसे औपनिवेशिक देशों में हुआ कि राष्ट्रवाद एक व्यापक संकल्पना के रूप में साम्राज्यवाद-विरोधी चेतना में अभिव्यक्त होने लगा और एक सीमा तक इसने स्वाधीनता संघर्षों में प्रगतिशील भूमिका भी निभायी। इसके बावजूद मार्क्सवादी चिंतन राष्ट्रवाद के इस महत्व को लेकर आलोचनात्मक रूख़ अपनाने पर ज़ोर देता है तथा इसे तभी तक सही मानता है जब तक कि इसमें आम जनवादी अन्तर्वस्तुएं निहित होती हैं अर्थात् जब तक इसका चरित्र साम्राज्यवाद-विरोधी हो और यह सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक स्वाधीनता के प्रति प्रतिबद्ध हो। इसकी वजह यह है कि राष्ट्रवाद का एक पहलू यह भी है जहाँ यह साम्राज्यवाद के प्रति समझौता-परस्ती का रूख़ अख़्तियार कर लेता है तथा एक सीमित वर्ग के हित में सामंतवाद, आर्थिक असमानता जैसे सवालों पर ढुलमुल रवैया अपनाता है। एरिक हॉब्सबाम 'राष्ट्रीयता' के 'एतिहासिक' आग्रह को 'सत्तानशीं' या पढ़े-लिखे

लोगों द्वारा बनाये गये संस्थान, प्रतिष्ठान और उनका सांस्कृतिक व्यवहार मानते हैं, जिससे आम आदमी भी एकात्मकता महसूस करता है, जबकि; 'राष्ट्रीयता' की विचारधारा को वे इससे 'कहीं ज़्यादा उग्र, लोकतांत्रिक और क्रांतिकारी' मानते हैं लेकिन इस सैद्धांतिकी से बाहर 'इसके व्यवहारिक उदाहरण कितने थे'।[10] भारत में राष्ट्रवाद की जिस संकल्पना को आधार बनाकर स्वाधीनता आंदोलन नेतृत्व की मुख्य धारा आगे बढ़ रही थी, उसके संबंध में भी ये सवाल अपने लिए जवाब की मांग करते हैं।

1917 में, रूस में बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व में हुई पहली सर्वहारा क्रांति के बाद सोवियत संघ के सामने एक बड़ी चुनौती सोवियत संघ के भीतर परस्पर प्रतिद्वंद्वी राष्ट्रवादी आकांक्षाओं की टकराहट को सुलझाने के रूप में सामने आया। हर नृजातीय समुदाय को उसके आकार और इतिहास के अनुरूप शासन में सापेक्षिक स्वायत्तता प्रदान कर तथा उन्हें अपनी सांस्कृतिक उत्थान के लिए आज़ादी देकर इस समस्या का समाधान करने की कोशिश की गयी। इस दौरान स्टालिन ने एक महत्वपूर्ण लेख लिखा–'मार्क्सवाद और राष्ट्रीयताओं का सवाल'[11]। इसमें उन्होंने राष्ट्र को किसी नस्लीय अथवा आदिम जातीय परिघटना न मानकर एक ऐतिहासिक प्रक्रिया की निर्मिति कहा, जिसमें निश्चित और गतिशील सामुदायिकता, सम्मिलित भाषा, निश्चित क्षेत्र, आर्थिक संबद्धता और एक सम्मिलित चरित्र– पांच प्रमुख कारक होते हैं। इस क्रम में वे 'राष्ट्रीय अथवा सम्मिलित चरित्र' को राष्ट्र का सबसे आवश्यक चरित्र मानते हैं। एक ख़ास ऐतिहासिक प्रक्रिया से होकर ये सभी एक सकारात्मक राजनीतिक रूप में आकर राष्ट्र का रूप धारण करते हैं। आगे इस 'सकारात्मक राजनीतिक रूप' को स्पष्ट करते हुए स्टालिन कहते हैं कि यह पूँजीवाद के उभार तथा बुर्जुआ वर्ग के उदय के दौरान सामंतवाद से संघर्ष के क्रम में सामने आता है। इस संदर्भ में वे राष्ट्र की अवधारणा को उसके द्वंद्वात्मक निहितार्थ में देखने की कोशिश करते हैं।

इस संदर्भ में एक महत्वपूर्ण बात यह कि भारत समेत औपनिवेशिक पराधीनता भोगते देशों के संदर्भ में राष्ट्रवाद को कैसे देखा जाए, जहाँ उपनिवेशवाद के ख़िलाफ़ संघर्ष में एक विचारधारा के रूप में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। एण्डरसन ने जिस राष्ट्रवाद को एक 'काल्पनिक समुदाय' के रूप में चिह्नित कर, इसके सामाजिक–आर्थिक आधार को उद्योगीकरण और मुद्रण–पूँजीवाद के प्रसार से जोड़ा है, उसके व्यापक संपर्क में भारत एक औपनिवेशिक देश के रूप

में पश्चिमी प्रभाव के भीतर आने के बाद आया। इस सिद्धांत और मान्यता की आलोचना करते हुए इतिहासकार पार्थ चटर्जी कहते हैं कि अगर निमित्त कारण का निर्धारण और हमारे भाग्य का निश्चय पश्चिम ने किया; उपनिवेशी व्यवस्थाओं के ख़िलाफ़ हमारे संघर्ष की ओर उसी ने सोचे तो फिर हमारे पास सोचने के लिए और क्या रह गया! वे इस मान्यता को एशिया की जनता को बौद्धिक शक्ति से वंचित मानने वाला सिद्धांत कह कर इसकी आलोचना करते है। उनका तर्क है कि भारत में सत्ता के लिए हुए राजनीतिक संघर्षों से काफी पहले ही भारतीय समाज एक निजी सांस्कृतिक क्षेत्र में अपने राष्ट्रत्व की कल्पना करने लगा था, भले ही तब सत्ता उवनिवेशकों के हाथ में था। यहीं आकर उसने प्रभुसत्ता के अपने खुद के क्षेत्र के बारे में सोचा और ऐसी भारतीय आधुनिकता का निर्माण किया जो आधुनिक तो था, पर पाश्चात्य नहीं। पार्थ चटर्जी के अनुसार, भारत में राष्ट्रवाद को विकसित करने में यहाँ के पश्चिमी-शिक्षा प्राप्त राजनीतिक नेताओं का विशिष्ट योगदान है और यह पश्चिम से एक 'अलग' लेकिन 'व्युत्पन्न संवाद'(derivative discourse) के रूप में उभरा।[12] आशीष नंदी के अनुसार भी पश्चिमी साम्राज्यवाद के प्रत्युत्तर में भारतीय राष्ट्रवाद का निर्माण-निर्धारण भी उसी से हुआ जिसके प्रत्युत्तर में उसे खड़ा होना था।[13]

भारत के एक राष्ट्र के रूप में संगठन को लेकर मुख्यत: दो तरह की मान्यतायें हमारे सामने हैं। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो भारत के संदर्भ में राष्ट्रवाद के विकास को लेकर हुई बहसें मुख्यत: दो आधारभूमि पर खड़ी हैं। इनमें पहली आधारभूमि वह एतिहासिक दृष्टिकोण है जो राष्ट्र के रूप में भारत के विकास को एक एतिहासिक प्रक्रिया के साथ जोड़कर देखता है। जबकि दूसरा भारत को सनातन रूप से संगठित एक राष्ट्र के रूप में देखता है। यहाँ राष्ट्रवाद के विकास को एक एतिहासिक प्रक्रिया से जोड़कर देखने वालों में भी दृष्टिकोण का अंतर देखने को मिलता है। अपने लेख 'बहुजातीय राष्ट्रीयता और साहित्य'[14] में रामविलास शर्मा हालांकि एक राष्ट्र के रूप में भारत के संगठित होने को वैदिक काल से जोड़कर देखते हैं, परंतु वेदों को अपौरूषेय न मानने के चलते वे इस विकास को एक एतिहासिक प्रक्रिया के तहत ही देखते हैं। उनके अनुसार उस सामंती काल में यद्यपि राज्यों की सीमायें बदलती रहती थी, परंतु 'सांस्कृतिक इकाइयों की सीमायें अपेक्षाकृत स्थिर रहती थी'। दूसरी तरफ़ कई बार महत्वकांक्षी और चक्रवर्ती शासकों ने एक बड़े भौगोलिक क्षेत्र को एक ही राज्य के भीतर लाने का महत्वपूर्ण कार्य किया जो कई बार काफी स्थायित्व वाले राज्य होते थे। आर्थिक व्यापार ने इन राज्यों के भीतर तथा इनकी सीमाओं के बाहर

जाकर आर्थिक व परस्परता के संबंध स्थापित किए; क्योंकि 'राज्यों की सीमाओं से आर्थिक संबंधों की परिधि बड़ी थी' और 'इस आर्थिक परिधि से सांस्कृतिक संबंधों की परिधि और भी बड़ी थी'। इसके अलावा बाहरी हमलों से भी अलग-अलग जनपदों-महाजनपदों में 'एतिहासिक रूप से एकता की भावना वैसे ही सुदृढ़ हुई जैसे अंग्रेजों से मुक्ति पाने के लिए पुरातन राष्ट्रीय एकता आधुनिक काल में पुष्ट हुई'।

डॉ. रामविलास शर्मा की इस अवधारणा में अमूर्तता, अस्पष्टता तो है ही, यह अपने साथ कई साथ सवाल उत्पन्न करते हैं जिनका जवाब न तो रामविलास शर्मा के उक्त लेख में दिया गया है और न ही उन्होंने राष्ट्र की जातीय अस्मिता अथवा 'हिन्दी जाति' के विकास संबंधी अपनी अवधारणा में कहीं अन्यत्र दिया है। मसलन, जिस भारत को आज हम एक राष्ट्र के रूप में जानते हैं क्या उसका संगठित अस्तित्व वैदिक काल में ही सामने आ गया था या एक प्रक्रिया के तहत यह बाद में अपना स्वरूप ग्रहण करता है? जिन आर्थिक संबंधों की सीमाओं को वे राज्यों की सीमाओं से व्यापक मानते हैं तथा इस क्रम में एक और बड़ी परिधि खींच कर उसे सांस्कृतिक एकता की भावना उत्पन्न होने तक ले जाते हैं तो क्या इस आधार पर उन सुदूर देशीय सीमाओं को, जिनसे एक व्यापारिक और सांस्कृतिक संबंध जुड़े थे, एक राष्ट्र कहा जाए? और एक बड़ा सवाल यह कि रामविलास शर्मा जिसे एक सांस्कृतिक इकाई के रूप में देख रहे हैं, वह कौन-सी संस्कृति है, संस्कृति से उनका तात्पर्य क्या है? संस्कृति के भी अपने वर्गीय और सामाजिक आधार होते हैं। क्या यह मान लिया जाए कि सुदूर पश्मिोत्तर और दक्षिण की तथा आदिवासियों की संस्कृति वैदिक काल से ही एक संयुक्त संस्कृति के रूप में विकसित होने लगी थी? यदि हाँ तो एक ऐतिहासिक प्रक्रिया के तहत आधुनिक भारत की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तनों ने उसमें किस तरह की भूमिका निभाई। या इसकी भूमिका को गौण मान लिया जाये! कार्ल मार्क्स ने भारत में जिस ब्रिटिश राज को 'सुअरपन' कहा उसके भीतर छिपे 'नये बीजों' की चर्चा भी उन्होंने की है। परंतु, रामविलास शर्मा राष्ट्र के रूप में भारत के विकास में ब्रिटिश राज की भूमिका पर चुप रह जाते हैं। दरअसल अपने चिंतन को साम्राज्यवाद-विरोधी दिखाने और राष्ट्र की संकल्ना को 'जातीय एकता' कहकर इसे प्रायः हर हाल में प्रगतिशील मान लेने के चलते, उनका इतिहास-बोध 'द्वंद्वात्मक भौतिकवाद' से दूर चला गया है। हिन्दी नवजागरण के संबंध में उनकी 'हिन्दी जाति' की अवधारणा की आलोचना करते हुए वीरभारत तलवार लिखते हैं-''डॉ. शर्मा ब्रिटिश

शासन के निकृष्ट स्वार्थों से प्रेरित होने की बात को सच मानते हैं लेकिन सामाजिक क्रांति में उसके माध्यम होने की बात को नहीं। वे किसी भी द्वंद्वात्मक प्रक्रिया को एक सपाट प्रक्रिया बनाकर ही उसे मान पाते हैं। विरोधी तत्वों की उनकी धारणा में एक ओर ब्रिटिश शासन के निकृष्ट स्वार्थ हैं, दूसरी ओर है भारतीय जनता का प्रतिरोध। ...वे ब्रिटिश शासन की कल्पना एक ऐसे बर्बर हमले के रूप में करते हैं जिससे लड़कर भारतीयों ने आधुनिकता हासिल की। अगर ब्रिटिश शासन एक सपाट बर्बर हमला भर था, उसके अंदर और कोई विरोधी प्रक्रिया (उसकी सृजनात्मक भूमिका) नहीं थी तो उसका विरोध करने के क्रम में आधुनिकता कैसे पैदा हो गई?''[15] निश्चित तौर से भारत में राष्ट्रवाद के उदय को एक ऐतिहासिक प्रक्रिया के साथ-साथ इसे आधुनिक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था और इसके विभिन्न चरणों व संदर्भों से जोड़ कर देखा जाना चाहिए।

पार्थ चटर्जी ने भारत जैसे देशों के संदर्भ में एंडरसन के 'राष्ट्रः एक काल्पनिक समुदाय' वाले सिद्धांत पर सवाल करते हैं कि राष्ट्र अगर कल्पित समुदाय है, तो वह किसकी कल्पना का समुदाय है तथा इस कल्पना का आधार क्या है।[16] पार्थ चटर्जी को उद्धरित करते हुए मैनेजर पांडेय ने लिखा है ''यह सवाल भारतीय राष्ट्रवाद के बारे में भी पूछा जाना चाहिए ताकि उसके सामाजिक आधार, राजनीतिक उद्देश्य और विचारधारात्मक अभिप्राय की वास्तविकता सामने आये। एंडरसन कहते हैं कि राष्ट्र में वास्तविक विषमता और शोषण होने के बावजूद राष्ट्रवाद में एक प्रकार के गहरे साहचर्य की कल्पना होती है। लेकिन भारत जैसे देशों में जहाँ उपनिवेशवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय संघर्ष हुए हैं, वहाँ कुछ ऐसे लेखक भी हैं जो विषमता और शोषण की वास्तविकता की उपेक्षा करने वाले राष्ट्रवाद के बारे में यह प्रश्न पूछते हैं कि राष्ट्र किसकी कल्पना का समुदाय है, सामंतों, पूँजीपतियों और उनके प्रतिनिधियों की कल्पना का या उनके द्वारा शोषित और दलित जनसमुदाय की कल्पना का...''[17] दरअसल आधुनिक अर्थों में जिसे राष्ट्रवाद कहा जाता है उसकी संकल्पना तो पूंजीवादी अर्थतंत्र की एक विशेष आवश्यकता से हुआ, लेकिन यही राष्ट्रवाद पूंजीवाद से निकले साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद से लड़ने का एक महत्वपूर्ण हथियार भी बन गया।

4.2 भारत में राष्ट्रवाद का उदय और राष्ट्रवादी वर्ग

भारत में राष्ट्रवाद का उदय एक औपनिवेशिक व्यवस्था में और उसी से जुझते हुए हुआ। सामान्यतया इतिहासकारों का मानना है कि आधुनिक अर्थों में जिसे हम भारत-एक राष्ट्र कहते हैं, का अस्तित्त्व ब्रिटिश राज से पहले नहीं था। साम्राज्यवाद पर प्रतिक्रिया और विरोध इसकी प्रारंभिक आधारबिंदु बना। शेखर बंदोपाध्याय ने कहा है कि ''19वीं सदी में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का सामना जिस भारतीय राष्ट्रवाद ने किया और जिसने 1947 में भारतीय राष्ट्र-राज्य के जन्म के रूप में अपनी जीत का जश्न मनाया, वह औपनिवेशिक आधुनिकता की उपज था।''[18] और जिस प्रकार साम्राज्यवादियों ने स्वयं ही यह घोषणा कर रखी थी कि वे उपनिवेशों को उनकी तत्कालीन बर्बर और मध्यकालीन अवस्था से उठाकर आधुनिक, सभ्य और प्रगति की राहों पर चलने वाला देश बनाना चाह रहे हैं, वहां भारत जैसे उपनिवेशों के लिए यह ज़रूरी हो गया था कि वह अपने ऊपर लगे पिछड़ेपन के ठप्पे से मुक्त हो तथा यह साबित कर पांए कि वे आधुनिक राज्य के ढांचों में एकजुट हो सकते हैं तथा अपना शाासन स्वयं चला सकने में सक्षम हैं। इस प्रकार, औपनिवेशिक भारत के सामने दोहरी चुनौती थी- राष्ट्रीय एकता स्थापित करना और आत्मनिर्णय के अधिकार का दावा करना।[19] भारत जैसे बहु-विविधता वाले देश को अपनी सारी विविधताओं (क्षेत्र, भाषा, धर्म, जाति, उपजातियता आदि) को समेटकर एक राष्ट्र के रूप में निर्मित होना था।

भारत में मुग़ल काल के अंत के साथ ही कंपनी राज की शुरूआत हुई। इंग्लैण्ड की कंपनी ने शीघ्र ही पूरे भारत पर अपनी पकड़ बना ली। हर क्षेत्र, उनकी औपनिवेशिक नीतियों से प्रभावित हो गया। लेकिन इस शासन-व्यवस्था को टिकाये रखने के लिए ज़रूरी था कि अंग्रेज़ भारत के भीतर अपने समर्थकों का एक वर्ग पैदा कर सकें। एक वर्ग जो सामाजिक और राजनीतिक रूप से वर्चस्वशाली था या उसके क़रीबी तथा पढ़े-लिखे उच्च मध्य वर्ग से आने वाले लोगों का था, के द्वारा औपनिवेशिक शासन-व्यवस्था को समर्थन मिला। लेकिन इस वर्ग का विकास भी एक द्वंद्वात्मक प्रक्रिया से हो रहा था। इसी प्रक्रिया ने उन्हें भारतीय राष्ट्रवाद का अलंबरदार भी बनाया। यह वर्ग औपनिवेशिक सरकार के लिए सहयोगी था। दरअसल भारतीय समाज-व्यवस्था में परिवर्तन की गति जिस तरह से धीमी थी, उसमें उन्हें मुक्त व्यापार के लिए सहज अवसर नहीं मिल सकता था। रूढ़ियों और जड़ताओं में बंधे भारतीय समाज में व्यापार करना अथवा पूँजी का मुक्त

प्रवाह करना न तो अधिक फ़ायदेमंद था और न ही सुरक्षित। पुरोहित वर्ग की निरंकुशता, सामाजिक अंधविश्वासों और जड़ताओं पर ब्रिटिश सरकार के नीतिगत प्रहार दरअसल उनकी आर्थिक आवश्यकताओं से उपजे थे। लेकिन भारतीय समाज इस तरह के किसी भी परिवर्तन के लिए सहजता से तैयार न था। उसे यह न सिर्फ़ अपने आंतरिक जनजीवन में साम्राज्यी हस्तक्षेप लगता, बल्कि भारतीय समाज इन जड़ताओं को अपनी सभ्यता और संस्कृति के रूप में अंगीकार कर चुका था और उसे पाश्तात्य रहन-सहन तथा संस्कृति के समानांतर और उससे श्रेष्ठ भी मान रहा था। इस प्रकार इनमें किसी तरह का हस्तक्षेप के सामने एक बड़ी संभावना भारतीय जनता की प्रतिकूल प्रतिक्रिया की थी। इसके लिए उन्हें भारतीय जनता के बीच मान्य एक ऐसे वर्ग की आवश्यकता थी जो 'व्यापक सुधारों का समर्थन' करे और 'अंग्रेज़ी शिक्षा के आरंभ के कारण यह वर्ग जल्द ही पैदा होने वाला था।'[20]

कार्ल मार्क्स ने भारत में ब्रिटिश उपनिवेश के प्रभाव को उसकी द्वंद्वात्मकता में देखते हुए कहा है कि ब्रिटेन को यहाँ ''दो काम करने थे: एक ध्वंसात्मक काम था; दूसरा रचनात्मक। उसे पुराने एशियाई समाज को नष्ट करना था और एशिया में पश्चिमी समाज का आधार तैयार करना था।''[21] इस क्रम में वे इन प्रभावों में से उन बिन्दुओं को चिह्नित करते हैं जो ''पुनः जीवन देने'' की भूमिका में थे। रजनी पाम दत्त, मार्क्स को उद्धरित करते हुए लिखते हैं-''अंग्रेजों ने, चाहे जितनी कम संख्या में और चाहे जितना मन मसोसकर क्यों न हो, भारतीय लोगों का एक शिक्षित वर्ग तैयार किया।''[22] यह वर्ग सामाजिक व धार्मिक सुधारों के लिए सक्रिय था तथा देश की जनता का विश्वास बनाए रखने के लिए यह औपनिवेशिक अर्थनीतियों के प्रति आलोचनात्मक भी था। भारतीय राष्ट्रवादी और पूँजीवाद के संबंध को लेकर सब्यसाची भट्टाचार्य लिखते हैं-''19वीं शताब्दी से ही राष्ट्रीयतावादी नेतागण पूँजीवादी हितों के विरोधी न थे, बल्कि देशी पूँजी का विकास शुरू से ही अर्थनीतिक राष्ट्रीयतावाद की कार्य-सूची में शामिल था, पर यह सोचना गलत होगा कि वे शुद्ध रूप से देशी पूँजीवाद के औजार थे और पूँजीपति उस औजार का इस्तेमाल करने वाले। अगर ऐसा प्रतीत होता तो बाद में नेताओं को जनसमर्थन बनाए रखना मुश्किल हो जाता और वे ब्रिटिश शासकों के सामने जनप्रतिनिधियों के रूप में खड़ा न हो सकते थे। राष्ट्रीयतावादी नेताओं का उद्देश्य था, देश में वर्ग-वैषम्य और वर्ग-स्वार्थ से पैदा होने वाले द्वंद्व को प्रधान होने से रोके रखना और वर्ग-विशेष औपनिवेशिक जाति के तमाम लोगों के हितों बनाम शासक जाति के हितों के संघर्ष को प्रधानता

देना। यही उनका रणकौशल था और यही उनकी कार्यपद्धति। हालांकि सभी जानते हैं कि इन राष्ट्रीयतावादी नेताओं के बीच कई नेता ऐसे थे जिनमें वर्ग-वैषम्य की चेतना विद्यमान थी।''[23] भारतीय राष्ट्रवादियों को इसी द्वंद्वात्मकता में देखना होगा। एक तरफ वे भारतीय पूंजीपतियों और स्वयं अपनी वर्गीय चरित्र के चलते राष्ट्रीय आंदोलनों को वर्ग-संघर्ष के निर्णायक मोड़ पर नहीं आने देना चाहते थे; तो दूसरी ओर, उन्हें भारतीय पूंजीपतियों के हाथों का महज़ खिलौना भी नहीं कहा जा सकता।

औपनिवेशिक दासता में आकार लेता यह राष्ट्रवादी वर्ग, विचारधारात्मक स्तर पर जो आंदोलन अथवा सुधार कार्यक्रम चला रहा था उसमें उनकी भारतीयता और विचारों पर पड़े, पाश्चात्य प्रभाव एक साथ सक्रिय थे। राममोहन राय से लेकर जवाहरलाल नेहरू तक मुख्यधारा के विचारकों के साथ इसे देखा जा सकता है। उस ख़ास दौर में भारत में उभरता यह वर्ग सांस्कृतिक और वैचारिक रूप से भारतीय और पाश्चात्य दोनों दृष्टियों के बीच एक स्वाभाविक द्वंद्व की स्थिति से गुज़र रहा था। इस संदर्भ में कहा जाता है कि राममोहन राय के कलकता में दो घर थे; एक में वे अपने यूरोपिय मित्रों की मेजबानी करते थे जबकि दूसरे में उनका परिवार रहता था। कहा जाता है कि पहले घर में राममोहन राय को छोड़ बाकी सबकुछ पाश्चात्य था जबकि दूसरे घर में सिवाय राममोहन राय के हर चीज़ भारतीय थी। जवाहरलाल ने तो अपनी आत्मकथा में लिखा भी है कि वे 'पूर्वी और पश्चिमी दुनिया का एक विचित्र मिश्रण' बन गये हैं; और यह भी कि जीवन के प्रति उनके विचार तथा दृष्टिकोण, पूरब के बजाय पश्चिम से अधिक मेल खाते हैं, लेकिन उनके भीतर भी भारतीयता उसी तरह से विद्यमान है जैसे कि किसी अन्य भारतीय में- ''मैं खुद अपनी मनोरचना के लिए इंग्लैंड का बहुत ऋणी हूँ, इतना कि उसके प्रति जरा भी परायेपन का भाव नहीं रख सकता। और मैं चाहे जितनी कोशिश करूं, लेकिन मैं अपने मन के उन संस्कारों से और दूसरे देशों तथा सामान्यतया जीवन के बारे में विचार करने की उन पद्धतियों और आदर्शों से, जो मैंने इंग्लैंड के स्कूल और कॉलेजों में प्राप्त किये हैं, मुक्त नहीं हो सकता। राजनैतिक योजना को छोड़ दे, तो मेरा सारा पूर्वानुराग इंग्लैंड और अंग्रेज़ लोगों की ओर दौड़ता है; और अगर मैं हिन्दुस्तान में अंग्रेजी शासन का 'कट्टर विरोधी' बन गया हूं तो मेरी अपनी स्थिति ऐसी होते हुए भी ऐसा हुआ है।''[24] के.एन. पणिक्कर ने इसे 'औपनिवेशिक पराधीनता भोगते भारतीयों की सांस्कृतिक दुविधा' कहा है।[25] इस 'सांस्कृतिक दुविधा' और अपनी वर्गीय पृष्ठभूमि के चलते इस वर्ग में हमें अंतर्विरोध मिलते हैं।

20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों तक आते-आते यह वर्ग एक राष्ट्रवादी बुद्धिजीवी वर्ग की भूमिका में आकर अंग्रेजी राज के प्रति आलोचनात्मक होने लगा था। जिन वर्गीय स्वार्थों और सामाजिक आदर्शों के चलते यह वर्ग अंग्रेजी राज के प्रति वफ़ादारी की भूमिका में था उसे लेकर इनके भीतर अब असंतुष्टियां उत्पन्न होने लगी थी। अपनी वर्गीय स्थितियों के कारण यह वर्ग अंग्रेजी शिक्षा और पाश्चात्य संपर्कों में आने का लाभ उठा चुका था। लेकिन यह वर्ग अभी भी असंतुष्ट था। एक तो यह वर्ग इंग्लैण्ड में अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने वाले वर्ग की तुलना में काफी दीन-हीन दशा में था और दूसरे, उन्हें इसका अनुमान भी होने लगा था कि अंग्रेजी राज में उनकी दशा अब और नहीं सुधर सकती। इतिहासकार ताराचंद अपनी पुस्तक 'भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास' में लिखते हैं-''यूरोपीय मध्यवर्ग की भांति भारतीय मध्यवर्ग भी मुनाफे की भावना से अनुप्राणित था। परन्तु उस लक्ष्य की प्राप्ति में व्यापार तथा व्यवसाय-विषयक ब्रिटिश एकाधिकार और औद्योगिक विकास के लिए उपयुक्त उपायों पर परिस्थितियों के अभाव ने बाधा डाली।...उस वर्ग ने अपने शासकों के पाश्चात्य तौर-तरीकों, प्रथाओं और चाल-ढाल का अन्धानुकरण किया, पर उसे न तो शासकों का आदर-भाव प्राप्त था और न ही उस ग्रामीण जनता का प्रेम, जिसके कल्याण और उन्नति के लिए उसने कुछ नहीं किया। फिर भी...उसी में से उन पढ़े-लिखे लोगों की पल्टन तैयार हुई, जो भारत के मुक्ति आंदोलन के अगुआ बने।''[26] इतिहासकार शेखर बंद्योपाध्याय का इस संदर्भ में कहना है-''...जो भारतवासी अंग्रेज़ी शिक्षा की ओर आकर्षित हुए वे मुख्यत: मध्य और निम्न आय-वर्गों के हिन्दू सवर्ण पुरूष थे, जो उस काल के परिवर्तनों के कारण आर्थिक दृष्टि से बहुत तंगहाल थे। इनमें से अधिकांश के लिए शिक्षा एक कार्यकारी उपयोगिता थी: यह कठिन समय में जीवन रक्षा का साधन, आर्थिक संवृद्धि और शक्ति पाने का साधन थी और केवल बौद्धिक ज्ञान का मार्ग भर नहीं थी। लेकिन जब वह भौतिक आशा पूरी न हुई तो इन्हीं लोगों का ज्ञान, एक कठोर उपनिवेशी राजसत्ता का सामना करने का सबसे अच्छा शस्त्र बन गया''।[27] औपनिवेशिक पराधीनता में आकार लेने वाले इस वर्ग के विकास और उनकी नियति को इन द्वंद्वात्मकता में ही देखी जानी चाहिए।

यद्यपि अंग्रेज़ी शिक्षा का उद्देश्य भारत में साम्राज्यी हितों में एक वर्ग तैयार करना और उसके माध्यम से यहाँ अपने शोषण-व्यवस्था को स्थायित्व देना था, लेकिन इसी नई शिक्षा-व्यवस्था और पश्चिमी मूल्यों से भारतीयों के संपर्क ने राष्ट्रीय चेतना के विकास का द्वार भी खोला। रजनी

पाम दत्त ने लिखा है- ''यह साम्राज्यवाद की पूरी व्यवस्था में निहित अन्तर्विरोधों का परिणाम था कि शिक्षा की जो पद्धति साम्राज्यवाद के हितों की रक्षा करने के लिए जारी की गई थी, उसी ने भारत के लोगों के लिए इंग्लैण्ड की जनवादी जन-आंदोलनों और जनसंघर्षों से, और मिल्टन, शेली तथा बायरन जैसे कवियों से प्रेरणा प्राप्त करने का भी रास्ता खोल दिया। इंग्लैण्ड की यह महान जनवादी धारा उसी प्रकार की निरंकुशता से लड़ रही थी, जिस प्रकार की निरंकुशता भारत में कायम थी, और कभी-कभी तो उसका मुक़ाबला शासक वर्ग के उन्हीं व्यक्तियों से होता था जो भारत को गुलाम बनाये हुए थे और उसका शोषण कर रहे थे, जैसे पिट्ट, हेस्टिंग्ज़, और वेलिंग्टन। इस असंगति का मूल कारण यह था कि भारत का साम्राज्यवादी शासन एक ऐसे देश का शासक वर्ग चला रहा था, जहाँ की जनता खुद अपनी आज़ादी के लिए उससे लड़ रही थी।''[28] ये वो भौतिक आधार था जिस पर यहाँ एक राष्ट्रवादी बौद्धिक वर्ग औपनिवेशिक दासता से उलझते हुए अपना आकार ग्रहण करने लगा।

19वीं सदी के अंत तक आते-आते इस वर्ग ने अस्पष्ट दृष्टिकोण, असंबद्धता तथा तर्कशीलता की कमी के बावजूद भारत में ब्रिटिश पूँजी के निवेश पर सवाल उठाना शुरू कर दिया था। वे इस बात को समझने लगे थे कि विदेशी निवेश वाली पूँजी दरअसल हमारी अर्थव्यवस्था के बुनियादी संरचना को बुरी तरह प्रभावित करने के साथ यहाँ के सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में भी अपना हस्तक्षेप बढ़ाएगी। इसके बाद, ऐसी विशिष्टताएं स्वभावतः ही राजनीतिक प्रभुत्व में परिवर्तित हो जाती हैं। औपनिवेशिक अर्थनीतियों की आलोचनाओं के इस क्रम में वे इस औपनिवेशिक भारतीय समाज को अंतर्राष्ट्रीय संदर्भों के आधार पर भी मूल्यांकित कर रहे थे। औपनिवेशिक व्यवस्था के साथ यहां की जनता के अंतर्विरोध जब अपने आंदोलनात्मक रूप में प्रकट हो रहे थे, तो उसे नेतृत्त्व करने वाले राष्ट्रवादी बुद्धिजीवी वर्ग के सामने एक अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ भी था। यह सच है कि 'भारत का राष्ट्रीय आंदोलन यहाँ की सामाजिक स्थितियों से पैदा हुआ है। वह साम्राज्यवाद की परिस्थितियों से और उसकी शोषण की व्यवस्था से उत्पन्न हुआ है' लेकिन इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि ''बीसवीं सदी में दुनिया भर के राष्ट्रीय स्वतंत्रता तथा सामाजिक और आर्थिक स्वतंत्रता के आन्दोलनों को प्रेरणा देने का काम मुख्यतया 1905 और 1917 की रूसी क्रांतियों ने और 1949 की चीनी क्रांति की ऐतिहासिक विजय ने किया है।''[29] संघर्षों और क्रांतियों

का इतिहास-बोध इसी को कहते हैं। अपनी वर्गीय सीमाओं और कमज़ोरियों के बावजूद भारत के राष्ट्रवादी नेतृत्व पर जनांदोलनों के साथ इस इतिहास-बोध का भी दबाव काम कर रहा था।

भारत जैसे देश, जिसने औपनिवेशिक दंश को झेला है, के लिए यह पश्चिम में राष्ट्र की संकल्पना से अलग लेकिन उसके साथ संवाद स्थापित करती हुई संकल्पना है। आशीष नंदी ने कहा है कि भारत में राष्ट्रवाद पश्चिमी साम्राज्यवाद के प्रत्युत्तर में अवश्य खढ़ा हुआ लेकिन उसका निर्धारण करने वाले निरूपक तत्व भी वहीं से आये। भारतीय राष्ट्रवादियों ने इन तत्वों को राष्ट्र-राज्य का पश्चिमी मॉडल से ही लिया था। महात्मा गांधी और रविन्द्रनाथ टैगोर आदि ने राष्ट्रवाद संबंधी अपने चिंतन में इन निरूपक तत्वों को नकारा और इसलिए उन्हें साम्राज्यवादी पश्चिम के प्रति-आधुनिकतावादी (काउंटर मॉर्डनिस्ट) समालोचक कहा जा सकता है। यह दृष्टिकोण सार्वभौमवाद की था। यह अपनी रचनात्मकता में भारत को राजनीतिक स्तर पर तो नहीं लेकिन सामाजिक सतह पर एक कर सकती थी। लेकिन, भारतीय राष्ट्रवादियों ने इसकी जगह पर क्षेत्रीयता की पहले से मौजूद भावना को आधार बनाकर, लोक-नैतिकता व सदाचारी शासन के देसी विचारों पर आधारित बुद्धिवादी और पारंपरिक देशभक्ति को राष्ट्रवाद का आधार स्वीकार कर लिया।[30] अनेक प्रभावों, अंतर्विरोधों और चेतना के अनेक स्तरों के बावजूद इन आधारभूत तत्वों को एक औपनिवेशिक शासन-व्यवस्था से और स्वयं से टकराते हुए आगे बढ़ना था। इस प्रक्रिया से हाते हुए राष्ट्र को खड़ा होना था, जिसकी आधारभूमि तैयार हो चुकी थी। इन आधारभूमि पर राष्ट्र के निर्माण को लेकर भी विभिन्न विचारकों, इतिहासकारों और राजनीतिशास्त्रियों में बहस है।

राष्ट्रवादी विचारकों और बाद में उनके अनुयायियों ने राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया में चेतना के अन्य स्तरों और सवालों को इसके अधीन रख दिया। उनकी राष्ट्र की चेतना औपनिवेशिक शासन-व्यवस्था के साझे विरोध पर, देशभक्ति की भावना पर और भारत की प्राचीन परंपराओं पर गर्व करने की भावना पर आधारित थी। इन्होंने भारतीय समाज के अंदरूनी सवालों को अनदेखा किया और क्षेत्रीय अस्मिताओं और वर्गीय हितों की टकराहट को अनिश्चित काल के लिए टाल दिया। विद्वानों का एक समूह जिसे 'नव परंपरावादी' कहा गया है के अनुसार, भारतीय समाज का राजनीतिकरण वर्ग या राष्ट्र जैसी आधुनिक धारणाओं के बजाय भाषाई क्षेत्रों, जातियों या धार्मिक समुदायों जैसी पारंपरिक सामाजिक संरचनाओं के आधार पर हुआ है।[31] स्वाभाविक तौर पर इसमें

परिर्वतन के महत्त्वपूर्ण उत्प्रेरक यहां पहले से मौजूद विशेषाधिकार संपन्न देसी व कुलीन समूह थे। भारतीय राजनीति में गांधी के आगमन तक यह प्रक्रिया चली। विचारकों के 'कैंब्रिज समुदाय' के अनुसार, भारत में एकजुट राष्ट्रीय आंदोलन जैसी कोई चीज़ कभी रही ही नहीं। इनका मानना है कि चूंकि यहां साम्राज्यवादी कमज़ोर थे और वे बग़ैर भारतीय सहयोग के अपना शासन भी नहीं चला सकते थे; अत: उनसे टकराते हुए जो राष्ट्रवाद विकसित हुआ वह भी कमज़ोर था।[32] औपनिवेशिक सरकार को इनसे सहयोग चाहिए था और इन्हें अंग्रेज़ों की कृपादृष्टि; इसलिए स्वाधीनता आंदोलन के नेतृत्त्वकारी वर्ग ने अपने स्वार्थों के लिए अनेक सौदेबाजी की। यह विचारधारा पूरे राष्ट्रीय आंदोलन के स्तर को गिराकर उसे महज़ छल, धोखेबाजी और स्वार्थ के लिए षड्यंत्र तक सीमित कर देने वाली है, अत: इसे प्राय: गंभीरता से नहीं लिया जाता। 1982 में रणजीत गुहा द्वारा संपादित पुस्तक 'सबल्टर्न स्टडीज़' ने राष्ट्रवाद के विमर्श में एक साहसिक हस्तक्षेप किया। उन्होंने कहा कि 'भारतीय राष्ट्रवाद के इतिहास-लेखन पर लंबे समय से कुलीनवाद का वर्चस्व रहा है। तंगनज़र इतिहास-लेखन भारतीय राष्ट्रवाद की व्याख्या नहीं कर सकता, क्योंकि यह इस राष्ट्रवाद के निर्माण और विकास में जनता द्वारा अपने बूते पर अर्थात् कुलीनों से स्वतंत्र रूप से किए गए नए योगदान की उपेक्षा करता है।

भारत में राष्ट्रवाद के उदय का एक सूत्र साम्राज्यवाद-विरोधी चेतना ज़रूर थी लेकिन इसके उभार और इसके शोर में मूलभूत सवालों और राष्ट्रीय आंदोलनों के भीतर के अंतर्विरोध को दबाने का भी प्रयास होता रहा है। यह राष्ट्र-राज्य निर्माण के साथ ही जुड़ा हुआ है कि ''इसके आधार पर बने राष्ट्रीय समुदाय वर्गीय, जातिगत और धार्मिक विभाजनों को भी लांघ जाते हैं। राष्ट्रवाद के आधार पर बने कार्यक्रम और राजनीतिक परियोजना के हिसाब से जब किसी राष्ट्र-राज्य की स्थापना हो जाती है तो उसकी सीमाओं में रहने वालों से अपेक्षा की जाती है कि वे अपने विभिन्न अस्मिताओं के ऊपर राष्ट्र के प्रति निष्ठा को ही अहमियत देंगे। वे राष्ट्र के क़ानूनन का पालन करेंगे और उसकी आंतरिक व बाह्य सुरक्षा के लिए अपने प्राणों का बलिदान भी दे सकते हैं।''[33] भारत जैसे देशों में राष्ट्रवाद का इतिहास, सामाजिक समस्याओं से बचने और भागने का इतिहास रहा है। इस संदर्भ में मैनेजर पांडेय ने लिखा है कि वैसे तो यह ''...विमर्श समूचे भारतीय समाज के बारे में बोलने का दावा और दिखावा करता है, लेकिन उसमें उच्च वर्गों और उच्च वर्णों की आकांक्षाओं की आवाज़ अधिक सुनाई देता है। उस राष्ट्रवाद ने जिस मुख्यधारा की कल्पना की थी, उसका देश

के ग़रीब किसानों, मज़दूरों, स्त्रियों और दलितों के साथ संबंध उपयोग और उपेक्षा कर था।''[34] हिन्दी के राष्ट्रवादी लेखकों ने इस राष्ट्रवाद पर बार-बार सवाल उठाए हैं कि अगर इस राष्ट्र की संकल्पना को उपनिवेशवाद से जूझते हुए ही अपना स्वरूप अख़्तियार करना है तो यह किसकी संकल्पना का राष्ट्र होगा- सामंतों, पूंजीमालिकों और इनके प्रतिनिधियों का या यहां के वंचित, शोषित, दलित समुदाय का! भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की सबसे बड़ी विडंबना थी जिसे प्रेमचंद का 'गोदान' उद्घाटित करता है, कि यहां राय साहब और खन्ना की दोस्ती है और राय साहब 'सुराज' की लड़ाई में जेल भी जा चुके हैं।

राष्ट्रवाद की एक भावना, इसके केन्द्र में देश की जनता को रखकर उसकी मुकम्मल मुक्ति के लिए स्वर उठा रही थी तो दूसरी ओर राष्ट्रवाद के उफ़ान पर खड़े होकर यह भी तर्क गढ़ा जा रहा था कि बड़े लक्ष्य (राष्ट्र की स्वाधीनता) को हमें अपना एकमात्र लक्ष्य घोषित कर देना चाहिए और इस दौरान मज़दूरों-मालिकों के हितों की टकराहट, किसानों-ज़मीदारों के हितों की लड़ाई, दलितों-ब्राह्मणवादियों की लड़ाई, महिला-मुक्ति के सवाल को भविष्य के लिए छोड़ दिए जाए। स्वाधीनता आंदोलन में गांधी और भगत सिंह के विचारों में टकराहट, गांधी-अंबेडकर विवाद के मूल में भी किसी-न-किसी अंश में राष्ट्र की ये दो परस्पर विरोधी कल्पना शामिल हैं। भारतीय राष्ट्र-निर्माण में अलग-अलग वर्गों व समुदायों की कल्पनाओं-आकांक्षाओं और हितों का खींच-तान था। स्वाधीनता आंदोलन का नेतृत्त्वकारी वर्ग, राष्ट्र-निर्माण की साम्राज्यवाद-विरोधी आधारभूमि को स्वीकार कर भी उसके भीतर सामाजिक-चेतना को समाहित नहीं करना चाह रहे थे। दूसरी ओर इसी आंदोलन को अपने विचार और नेतृत्त्व देने वाले लेखकों-क्रांतिकारियों का यह मानना था कि यदि साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष के समय राष्ट्रीय चेतना को सामाजिक चेतना से नहीं जोड़ा जाता है तो भविष्य मुक्ति का नहीं बल्कि उपनिवेशवाद के बदले हुए रूप का होगा।

दरअसल, राष्ट्र, और राष्ट्रवाद को लेकर की गई सभी व्याख्यायें किसी-न-किसी सवाल या उलझन पर बिखरने लगती है। यह न सिर्फ हर देश के लिए अलग-अलग है बल्कि वर्गीय, जातीय और धार्मिक समुदायों का भी अपना राष्ट्र होता है, राष्ट्र-निर्माण को लेकर उनके भीतर भी अपनी सामूहिक आकांक्षाएं होती हैं। आज जबकि भूमंडलीकरण के दौर ने राष्ट्र की अवधारणा और राष्ट्रीय सीमाओं पर ही सवालिया निशान खड़ा कर दिया है, एक विचित्र स्थिति उत्पन्न हो गई है।

राष्ट्र-राज्य की नींव हिला देने वाले पूंजीवाद के भूमंडलीकरण का सबसे बड़ा समर्थक और उसका स्वागत करने वाली विचारधारा (या राजनीतिक ताक़तें), आज राष्ट्रवाद के उन्मादी स्वरूप के साथ भी खड़े हैं।

विभिन्न देशों में राष्ट्रवाद की संकल्पना अलग-अलग तरीकों से उपजी। फ्रांस में इसकी अभिव्यक्ति हिंसक जन-भागीदारी से हुई तो इंग्लैण्ड में अपेक्षाकृत शांतिपूर्वक संसदीय ढंग से। सोवियत रूस में यह समावेशी अवधारणा थी तो हिटलर ने जर्मनी में इसे नस्लवाद का अभिप्राय बना दिया। भारत में राष्ट्रवाद एक तरफ साम्राज्यवाद विरोधी स्वरों को एकजुट करने वाला था तो दूसरी ओर इसकी आड़ में अन्य सामाजिक व राजनीतिक सवालों को दबाया भी जा रहा था। इस राष्ट्रवाद ने एक तरफ देश में हिन्दू-मुसलमानों की एकता को सुदृढ़ किया तो दूसरी ओर इसे 'सनातन धर्म' और 'हिन्दू संस्कृति' से जोड़कर सांप्रदायिक उन्माद भी खड़ा किया गया।

भारत में राष्ट्रवाद की अनेक व्याख्याओं में एक व्याख्या है जो इसे 'हिन्दू संस्कृति' से जोड़कर अपनी राजनीति साधती है। इस विचारधारा ने राष्ट्रवाद का अभिप्राय 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' को माना, हिन्दुत्व ही उनका राष्ट्रत्व है, वहां देशप्रेम का अभिप्राय सनातन-धर्म से प्रेम है। 1925 में स्थापित आरएसएस (राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ) के लिए राष्ट्र और राष्ट्रवाद क्या था, स्वयं उनके की विचारकों की नज़र में-

''कोई भी सच्चा भारतीय, जो भारतवर्ष के वेदांग, उपनिषद, गीता, पुराण, दर्शन, संस्कृति और कला का उत्तराधिकारी है, हिंदू है। केवल तभी जब हिन्दू परिवार में पैदा हुआ कोई व्यक्ति अपने सांस्कृतिक अतीत को अस्वीकार कर देता है या मुस्लिम परिवार में पैदा हुआ व्यक्ति, अपनी राष्ट्रीय मूल जड़ों से अपने को अलग कर सिर्फ कुरान पर ही भरोसा करता है अथवा ईसाई परिवार में पैदा हुआ कोई व्यक्ति केवल पाश्चात्य साहबों और मेम साहबों की नकल करता है और जिसमें राष्ट्रीय आत्मसम्मान नहीं होता तथा जिसकी जड़ें भारतीय संस्कृति में गहराई तक नहीं जातीं, वह भारतीय नही रह जाता है और इस तरह मातृभूमि की सच्ची संतान नहीं रह जाता।''[35]

संघ का यह राष्ट्रवाद पोंगापंथ और दूसरे धर्मों के ख़िलाफ़ घृणा पर टिका हुआ है। राष्ट्रवाद की अवधारणा के भीतर संभावित सबसे ख़तरनाक पहलू को पकड़ कर यह विचारधारा, देश की

जनता को धर्मों के आधार पर बांटकर उसके बीच से किसी 'अन्य' को खड़ा करता है तथा वर्तमान की 'दुर्दशा' के लिए उसी 'अन्य' को ज़िम्मेदार मानता है। अपनी उग्रता में यह फासीवाद है और इसकी वर्गीय पक्षधरता पूंजीपतियों के हित में है। समाज में व्याप्त असमानता, वर्ग-भेद उभर कर सामने न आने पाए इसलिए ये वर्ग और वर्ग-संघर्ष के अस्तित्व और ज़रूरत को ही नकार देते हैं- ''क्या भारत में ऐसी विषमता है? हमारे यहां के पूंजीपतियों का धन, यूरोप तथा अमेरिका के पूंजीपतियों की तुलना में नगण्य है। यहां तो धनवानों से लेकर निर्धनों तक क्रमशः एक सीढ़ी ही पाई जाती है। अतः यह कहना कि समाज में दो वर्ग हैं, सर्वसाधारण जनता को धोखे में डालना है। समाज को दो वर्गों में विभाजित करने की यह चाल है।'' उनके मुताबिक हिंदू मज़दूर और हिंदू मालिक, एक ही हैं! किसानों और ज़मींदारों के बीच कोई अंतर नहीं है अगर दोनों एक ही धर्म के हैं! इस आधार पर वे ज़मीदारी प्रथा को मिटाये जाने के ख़िलाफ़ हैं, मज़दूर आंदोलनों के विरोध में हैं। राष्ट्रवाद की इस संघी समझ के मुताबिक, हिंदूओं और मुसलमानों के बीच सांप्रदायिक झगड़ों से होकर ही भारत एक राष्ट्र के रूप में अपने को स्थापित कर सकता है।

राष्ट्रवादियों का एक हिस्सा स्वाधीनता आंदोलन के उस दौर में विदेश में रहकर भी अपने स्तर से इस औपनिवेशिक दासता के ख़िलाफ़ संघर्षरत था। पश्चिमी दुनिया में समानता, स्वतंत्रता, तर्कशीलता आदि जैसे नये और आधुनिक सामाजिक मूल्य तब तक आम बहस में शामिल होने लगे थे। वहाँ यह वर्ग अनेक पत्र-पत्रिकाएं निकालकर, वहाँ के प्रमुख पत्रिकाओं में भारत के औपनिवेशिक राजव्यवस्था के प्रति आलोचनात्मक लेख लिखकर तथा अलग-अलग राजनीतिक पार्टियां व फ़ोरम बनाकर ब्रिटिश साम्राज्यवाद की आलोचना कर रहा था। ये पश्चिमी देशों की तुलना भारत से कर, इसकी हीन दशा का ज़िम्मेदार ब्रिटिश साम्राज्यवाद को मानते थे। जब भारत में अंग्रेजी राज के विरोध में आंदोलन शुरू हो रहे थे, इन्होंने विरोध के इस स्वर को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर उठाया। महत्वपूर्ण बात यह कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ अन्य देशों में जाकर स्वर उठाने के लिए सबसे अधिक इंग्लैण्ड की ज़मीन का ही इस्तेमाल किया गया। लंदन में 10 मई 1908 को भारत के प्रथम स्वाधीनता संग्राम के पचास साल पूरे होने के अवसर पर एक बड़ा समारोह का आयोजन किया गया। उस समारोह में मंच पर लगे पर्दे पर रानी लक्ष्मीबाई, नाना साहब, वीर कुंवर सिंह, बहादुरशाह जफ़र, मौलवी अहमदशाह आदि के चित्र बने थे और क्रार्यक्रम का प्रारंभ वन्देमातरम् के गायन से हुआ।[36]

1913 में लाला हरदयाल ने अमेरिका में ग़दर पार्टी की स्थापना की। यह एक क्रांतिकारी पार्टी थी, जो विदेशों में रह रहे भारतीय श्रमिकों से लगातार संपर्क में थी और उन्हें ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरोध में जागरूक कर रही थी। ब्रिटिश फ़ौज में असंतुष्ट भारतीय सैनिक जो सेनानिवृत होने के बाद कनाडा चले गए थे, उन्होंने वहाँ 1909 में एक सभा कर अंग्रेजी सरकार द्वारा प्राप्त हुए तमगे और वीरता प्रमाण-पत्र को त्याग दिया। पोर्टलैंड में कुछ भारतीय क्रांतिकारियों ने 'हिन्दी एसोसिएशन' नाम की एक संस्था बनाई जो आगे चलकर 'हिन्दुस्तान ग़दर पार्टी' बनी। 'ग़दर' नाम से एक साप्ताहिक पत्र निकाला गया, जिसके सारे पद अवैतनिक थे। इसके पहले अंक में लाला हरदयाल ने लिखा कि विदेशी ज़मीन पर लेकिन अपने देश की भाषा में आज एक नई लड़ाई की शुरूआत हो रही है।[37] इस पत्र में भारतीय स्वाधीनता आंदोलन को लेकर अनेक लेख लिखे गये, जिनमें अक्सर विश्व के अन्य देशों की स्थितियों और वहाँ चल रहे मुक्तिसंघर्षों का उल्लेख रहता था। विदेशों में प्रकाशित हो रहे क्रांतिकारी भारतीय पत्र-पत्रिकाओं में ग़दर के महत्व को बताते हुए रामविलास शर्मा लिखते हैं- ''श्रीमती कामा का 'वन्दे मातरम', श्यामजी कृष्ण वर्मा का 'सोशियोलौजिस्ट', बर्लिन से प्रकाशित होने वाला 'तलवार', इनका जोड़ीदार था 'ग़दर'। शायद ही किसी अन्य क्रांतिकारी पत्र ने किसानों, मज़दूरों, फ़ौज के सिपाहियों से उन्हीं की भाषा में इस तरह राजनीतिक बातें की हों जिस तरह 'ग़दर' ने कीं।''[38] लाला हरदयाल ने 1912 में 'कार्ल मार्क्स ए मॉडर्न ऋषि' नाम की एक पुस्तक लिखी जिसमें उन्होंने साम्राज्यवाद का अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ में आलोचना की और मार्क्स के 'साम्यवाद' के सिद्धांत का समर्थन किया।

इंग्लैण्ड और अमेरिका के अलावा भारत के क्रांतिकारी राष्ट्रवादियों का एक वर्ग अन्य देशों जैसे- जमर्नी, आयरलैंड, सिंगापुर, जापान, नेपाल, अफ़गानिस्तान, ईरान चीन, आदि में रहकर भी ब्रिटिश साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ मुखर होकर आंदोलनरत थे। इन क्रांतिकारियों का भारत में चल रहे आंदोलनों से सीधा संबंध था। ये भारत में उठ रहे स्वाधीनता के स्वर को वैश्विक आयाम दे रहे थे। 1925 में चीन के हांगकांग में, पूरब के देशों का साम्राज्याद के विरोध में एक बड़ा अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। इसमें भारत की ओर से ग़दर पार्टी के सदस्यों ने हिस्सा लिया। इसके अलावा कोरिया और वियतनाम के लोगों ने भी इसमें भागीदारी की थी। इसके प्रमुख संगठन कर्त्ता वियतनाम के क्रांतिकारी हो ची मिन्ह थे। ग़ौरतलब है कि उस समय चीन भी ब्रिटिश साम्राज्यवाद के भीषण दमन और शोषण का शिकार था। इसी तरह का एक सम्मेलन फरवरी 1927 में बेल्जियम के ब्रुसेलस

शहर में हुआ, जिसमें भारत की ओर से जो प्रतिनिधिमंडल गया था उसमें कांग्रेस की ओर से जवाहरलाल नेहरू, भारतीय क्रांतिकारियों की बर्लिन में स्थित कमिटी की ओर से वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय और नम्बियार तथा ग़दर पार्टी की तरफ से बरकतुल्ला और रतनसिंह प्रमुख थे। जाहिर है कि ऐसे सम्मेलनों में साम्राज्यवाद के साथ-साथ पूँजीवादी शोषण के अन्य तरीकों और पूरे विश्व के राजनीतिक-सामाजिक परिदृश्यों पर भी उनके बीच विचार-विमर्श होता रहा।

अन्य देशों में रहकर क्रांतिकारी गतिविधियों में शामिल इन राष्ट्रवादियों का सीधा संबंध भारत में चल रहे स्वाधीनता संघर्ष की एक धारा से था। 1914 में जब प्रथम विश्वयुद्ध शुरू हुआ तो उस समय के वैश्विक हालात को देखकर भारत में ग़दर पार्टी ने घोषणा की कि अब वो सही समय आ गया है जब भारत को आज़ादी के लिए अपना संघर्ष छेड़ देना चाहिए। उनका तर्क था कि एक ऐसे समय में जब दुनिया भर में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ लोग अपना सर उठाने लगे हैं इस विश्वयुद्ध में जब उस पर एक ओर से जर्मनी हमला करेगा तो दूसरी ओर से हमें भी अंग्रेजी राज के प्रति विद्रोह का बिगुल फूंक देना चाहिए। डा. रामविलास शर्मा ने इस बात का उल्लेख किया है कि भारत में तब उनके इन तर्कों को भले ही कोई ख़ास महत्व नहीं मिला लेकिन इसने यहाँ उग्र राष्ट्रवादी संघर्ष को एक नई संभावना और दिशा प्रदान की।[39]

दरअसल राष्ट्रवाद को हम राजनीतिक मानें या सांस्कृतिक- यह तभी लोकप्रिय होता है 'जब इसे आवश्यक रूप से एक कॉकटेल शराब के रूप में गले से उतारा जाए। इसका आकर्षण इसके अपने स्वाद में नहीं था, बल्कि इसके अन्य किन्हीं संघटकों के साथ मिश्रण में था, जिनसे अपेक्षा की जाती थी कि वह पिपासुजनों की आध्यात्मिक और भौतिक प्यास को संतुष्ट कर सकेंगे।'[40] सबके अपने-अपने राष्ट्र हैं, कम-से-कम कल्पना के स्तर पर।

4.3 राष्ट्रवाद और हिन्दी लेखन

राष्ट्र के पश्चिमी मूल्यों और ज़रूरतों पर आधारित संकल्पना को नकारते हुए रविन्द्रनाथ टैगोर ने एक स्वतंत्र राष्ट्र की कल्पना की-

''जहां मस्तिष्क भयहीन और ऊंचा

उठा हुआ है

जहां ज्ञान मुक्त है

और विश्व संकुचित सीमाओं में

विभाजित नहीं है।

जहां विवेक की शुद्ध धारा

रूढ़ियों के रेगिस्तान में

मर्ग नहीं भूलती।

जहां मानस ऊर्ध्वमुख होकर

निरन्तर विस्तार पाते हुए विचारों

और क्रियाओं में आगे बढ़ता है

उस मुक्ति के स्वर्ग में

हे परम पिता !

--मेरे राष्ट्र का जागरण हो।[41]

भारत में राष्ट्रवाद, उपनिवेशवाद के कंधों पर सवार होकर आया। उसे अपने स्वरूप को इसी उपनिवेशवाद से जूझते हुए, भारतीय समाज और राजनीति के साथ संवाद स्थापित करते हुए, अंतर्विरोंधों को जन्म देते हुए बढ़ना था। जैसाकि कि एरिक हॉब्सबाम ने कहा है कि ये संकल्पना तभी लोकप्रिय होती है जब किसी अन्य धारणा अथवा उद्देश्य के साथ मिला दिया जाए। यूरोप में इसे आधार बनाकर शक्तिशाली देशों ने साम्राज्यवाद के तहत वैश्विक ग्लोब को विजित-विजेता में विभाजित कर दिया। वीभत्स उन्माद के साथ राष्ट्र को नस्ल तक और फिर रक्त तक सीमित रख

देने की कोशिश हुई। भारत में इसके आवेग में सामाजिक सवालों और अंतर्विरोधों को दबाया जा रहा था, यद्यपि भावना के स्तर पर यह उपनिवेशी व्यवस्था के विरोध में एकजुट कर रहा था। हिन्दी के लेखकों-विचारकों ने इस संपूर्णता में राष्ट्र को देखने-समझने की कोशिश की, और सैद्धांतिक विमर्शों के बजाय उसके व्यवहारिक पहलूओं व परिणामों पर अपनी प्रतिक्रिया दी।

भारत के राष्ट्र-निर्माण में एक बड़ा सवाल था कि यह आख़िर किन शक्तियों के अग्रसर होने से आगे बढ़ेगी! जब भारत के भीतर औपनिवेशिक शासन और जनता के हितों का अंतर्विरोध हो, यहां के समाज के साथ दलित समुदायों का अंतर्विरोध हो, यहां के किसानों और ज़मीदारों के हित टकरा रहे हों, वर्गीय आधार पर कोई धन्नासेठ बना बैठा हो और कोई दाने-दाने को मुहताज हो; तब अगर भारत को एक राष्ट्र बनना है तो वह किसका राष्ट्र होगा? यही सवाल उस दौर के साहित्यकारों के सामने था। राष्ट्र की संकल्पना ही अपने-आप में बुरी चीज़ है कह देने भर से कुछ हल नहीं होने जा रहा था; क्योंकि औपनिवेशिक प्रतिक्रिया में उसकी आधारशिला रखी जा चुकी थी। ऐसे में शोषित-वंचित जनता और अस्मिताओं की ओर से उसपर दावेदारी करना एक महत्त्वपूर्ण कार्य था। गणेशशंकर विद्यार्थी ने इस काम को अपने लेखन में बख़ूबी किया। 'राष्ट्रीयता' शीर्षक से उन्होंने 1914 में एक लेख लिखा जो 21 जून, 1915 को *साप्ताहिक प्रताप* में प्रकाशित हुआ। इसमें वे राष्ट्र को अपनी पक्षधरता से परिभाषित करते हैं-

''राष्ट्रीयता जातीयता नहीं है। राष्ट्रीयता धार्मिक सिद्धांतों का दायरा नहीं है। राष्ट्रीयता सामाजिक बंधनों का घेरा नहीं है। राष्ट्रीयता का जन्म देश के स्वरूप से होता है। उसकी सीमाएं देश की सीमाएं हैं। प्राकृतिक विशेषता और भिन्नता देश को संसार से अलग और स्पष्ट करती है और उसके निवासियों को एक विशेष बंधन-किसी सादृश्य के बंधन- से बांधती है। राष्ट्र पराधीनता के पालने में नहीं पलता। स्वाधीन देश ही राष्ट्रों की भूमि है, क्योंकि पुच्छविहीन पशु हों, तो हों, परंतु अपना शासन अपने हाथों में न रखने वाले राष्ट्र नहीं होते। राष्ट्रीयता का भाव मानव-उन्नति की एक सीढ़ी है।''[42]

यहां तक आते-आते भारत की राजनीति में सांप्रदायिकता ने अपनी पैठ बनानी शुरू कर दी थी। सदियों से साथ रह रहे हिन्दू-मुसलमानों को अब जबकि और अधिक एकजुट होकर औपनिवेशिक सरकार के सामने खड़ा हो जाना चाहिए था, उनके बीच तनाव बढ़ रहे थे।

औपनिवेशिक सरकार की दोनों के बीच में फूट डालने की रणनीति क्रमशः आगे बढ़ती जा रही थी। अपनी प्राचीन और 'गौरवशाली' अतीत को दिखाकर भारत-राष्ट्र का अभिप्राय, हिन्दू-राष्ट्र करने की कोशिशों को हवा दिया जा रहा था। गणेशशंकर विद्यार्थी ने अपने इसी लेख में साफ कर दिया कि हिन्दू-राष्ट्र की बात करने वाले लोग असल में क्या चाहते हैं और भारत में यह संभव नहीं है-

''हम भविष्यवक्ता नहीं, पर अवस्था हमसे कहती है कि अब संसार में 'हिन्दू राष्ट्र' नहीं हो सकता, क्योंकि राष्ट्र का होना उसी समय संभव है, जब देश का शासन देशवालों के हाथ में हो। और यदि मान लिया जाए कि आज भारत स्वाधीन हो जाए, या इंग्लैंड उसे औपनिवेशिक स्वराज्य दे दे, तो भी हिंदू ही भारतीय राष्ट्र के सबकुछ न होंगे। और जो ऐसा समझते हैं-हृदय से या लोगों को प्रसन्न करने के लिए- वे भूल कर रहे हैं और देश को हानि पहुंचा रहे हैं।''[43]

विद्यार्थीजी के लिए राष्ट्रवाद महज़ औपनिवेशिक शासन से मुक्ति के लिए और देश के लोगों को उच्च मानवीय मूल्यों पर खड़े करने व उनके बीच सामाजिक एकता बनाने का हथियार था। इसको आधार बनाकर समाज को बांट देने, उसे यथास्थिति पर छोड़ देने, या उसे एक उन्माद तक सीमित कर देने की किसी भी कोशिश को वे नकारते हैं- ''हम राष्ट्रीयता के अनुयायी हैं, पर वही हमारी सबकुछ नहीं, वह केवल हमारे देश की उन्नति का उपाय-भर है।''[44] एक देश जो राष्ट्र बनने की प्रक्रिया में है को राष्ट्र का अभिप्राय जानना होगा। 28 जून, 1915 में *प्रताप* में उनका लेख है- 'राष्ट्र की नींव'। उसका शुरूआती अंश है-

''राष्ट्र महलों में नहीं रहता। प्रकृति राष्ट्र के निवास-स्थल वे अगणित झोपड़े हैं, जो गांवों और पुरवों में फैले हुए खुले आकाश के दैदीप्यमान सूर्य और शीतल चंद्र और तारागण से प्रकृति का संदेश लेते हैं। और इसलिए राष्ट्र का मंगल और उसकी जड़ मजबूत उस समय तक नहीं हो सकती, जब तक इन अगणित लहलहाते पौधों की जड़ों में जीवन का-मजबूती का- जल नहीं सींचा जाता। भारतीय राष्ट्र के निर्माण के लिए उसके गांवों और पुरवों में जीवन की ज्योति की आवश्यकता है।''[45]

अपनी साम्राज्यवाद-विरोधी अंतर्वस्तु के बावजूद, भारत में राष्ट्रवाद के उदय में पश्चिमी टूल्स और उन्माद की पकड़ मजबूत थी। एक शक्तिशाली यूरोपीय देश में राष्ट्रवाद के आवेग में वहां

की भाषा, क्षेत्र, जाति, धर्म आदि पर आधारित सभी अस्मिताओं को ढक दिया गया था और राष्ट्रहित का मतलब किसी कमज़ोर देश पर कब्जा जमा लेना बना दिया गया था। भारत में भी इसी तर्ज़ पर राष्ट्रवाद का उपयोग यहां की अन्य शोषित अस्मिताओं को दबाने, यहां के सामाजिक अंतर्विरोधों से भागने के लिए किया गया। यूरोप की तर्ज़ पर यह राष्ट्रवाद भी धार्मिक व जातिगत आधार पर पूर्वाग्रह से ग्रसित था। जैनेन्द्र ने एक लेख लिखा। शीर्षक है- 'आधुनिक राष्ट्रवाद अंग्रेज की देन है'। इसमें वे लिखते हैं-

''...यह आधुनिक राष्ट्रवाद, कहना ग़लत न होगा कि, भारत को अंग्रेजों और अंग्रेजियत की देन है। अंग्रेज इस पर गर्व भी मान सकता है। लेकिन भारत के मनीषीजन आज स्वीकार कर रहे हैं कि ब्रिटेन की यह देन अन्त में प्रतिक्रियात्मक सिद्ध हो रही है। समीचीन भारतीयता के वह अनुकूल नहीं है। कुल मिलाकर विलायती राष्ट्रवाद ने देश को एक नहीं किया है, बल्कि बांट डाला है। इस्लाम यहां बीसियों सदी पहले आ चुका था। पर इस्लामी राष्ट्रवाद का शब्द अंग्रेज़ों के ज़माने में उपजा। ... मैं कहना चाहता हूं कि इस राष्ट्रवाद में भारत की मुक्ति नहीं है, आत्मलाभ नहीं है। भारत का अपना राष्ट्रभाव अलग प्रकार का होगा। वह किसी के लिए ख़तरा न बनेगा और सबके लिए आश्वासन का कारण होगा।''[46]

अपने एक अन्य लेख 'स्वस्थ राष्ट्रीयता ही युद्ध का समाधान' में जैनेन्द्र ने पश्चिमी राष्ट्रवाद और साम्राज्यवादी युद्धों के संबंधों को साफ करते हुए लिखते हैं-

''अब तक जो राष्ट्रवाद हमें प्राप्त रहा उसमें साम्राज्यवाद और विस्तारवाद के बीज निहित रहे हैं। अतः अपेक्षा है कि कोई समावेशी और अविरोध राष्ट्रवाद सम्भव बने। क्या यह हो सकता है? मैं मानता हूं कि युद्ध की समस्या का निदान और समाधान उसी स्वस्थ राष्ट्रीयता के उदय में पाया जा सकेगा कि जो किसी के लिए भी भय और आतंक का कारण न बने, प्रत्युत जिससे सबको स्वस्ति और आश्वस्ति प्राप्त हो।''[47]

अपने एक महत्त्वपूर्ण लेख 'राष्ट्रीयता' में जैनेन्द्र ने राष्ट्रवाद और समाजवाद के सम्मिलित अवधारणा पर विचार किया है। लेखक के अनुसार, सोशलिज़्म के साथ राष्ट्रवाद के कॉकटेल ने उग्र राष्ट्रवाद को विश्वबंधुत्व की आड़ में पनपने का मौका दे दिया। यह और अधिक उग्र हो बैठा।

जर्मनी में हिटलर का राष्ट्रवाद इसका सबसे ख़तरनाक उदाहरण था। विश्व राजनीति में हिटलर जर्मनी को कहां ले गया, मामला यह नहीं है। उसने सोशलिस्ट शब्द को महज़ जुमले की तरह इस्तेमाल किया[48] और अपने ही देश के एक समुदाय को 'अन्य' और 'शत्रु' घोषित कर उन्हें पीस कर रख दिया। जैनेन्द्र के अनुसार, ''...नेशनल सोशलिज़्म नाम के संकर पदार्थ में दो अनमेल तत्त्वों का मेल है। इसमें वह बारूद है जो फट पड़ने के लिए है। यूरोप में राष्ट्र उस बारूद को अपनी काया में भर बैठे हैं और विस्फोट समक्ष है।''[49] दरअसल राष्ट्रवाद जब स्वयं को किसी शब्द या जुमले के सहारे लोगों के आदर्श भावावेग में तीव्र, पुष्ट और लोकप्रिय होती है तो इससे उसकी शक्ति भले ही बढ़ जाए लेकिन उसके ख़तरे भी काफी बढ़ जाते हैं।

'प्रभा', 'कर्मवीर', 'प्रताप' आदि अनेक पत्रों के सम्पादक रहे माखनलाल चतुर्वेदी ने राष्ट्र को औपनिवेशिक मुक्ति के लिए लड़ रहे एक जूझारू आम भारतीय की नज़र से देखा। इस क्रम में देश की सेवा में अपना सर्वस्व न्योछावर कर देने का आह्वाहन तो उन्होंने किया ही है, साथ ही राष्ट्र-निर्माण की पूरी प्रक्रिया को देश और इसके लोगों से जोड़ने की कोशिश की है- ''वह राष्ट्र, राष्ट्र नहीं है जिसकी रीढ़ की हड्डी नैतिकता से न बनी हो। जहां ऊंचा सर नहीं हो सकता, वहां कोई सिर उतारकर क्यों रखेगा? सिर देने की बात तो उसी राष्ट्र के मस्तक में आएगी जिसका ललाट बहुत उठा हुआ हो। किसी राष्ट्र का निर्माण तब तक नहीं हो सकता जब तक उसके पास ईमान और आदर्शों का बल, अभिमान करने योग्य वस्तुओं की उपस्थिति और बलिदान का निश्चय न हो।''[50] राष्ट्र, महज़ कुछ घरानों और कुछ विचारों का नहीं हो, बल्कि उसका हर नागरिक उसे अपना समझे, उसमें सर उठा कर चल सके। तभी वह राष्ट्र के हित अपना सबकुछ न्योछावर कर सकता है।

हिन्दी नवजागरण के प्रखर विचारक और साहित्यकार राधामोहन गोकुल अपनी स्पष्ट और वर्गीय पक्षधरता तथा लेखन के लिए जाने जाते हैं। उन्होंने राष्ट्रीय अनैक्य और राष्ट्रीय शत्रुता को लोगों को बांटने और शोषण के स्तरों में एक और आयाम जोड़ देने वाला बताया। राष्ट्र के उदय के साथ ही 'हमारा राष्ट्र' व 'दूसरा राष्ट्र' की अवधारणा भी आ गई। भाषा, जाति, क्षेत्र व अन्य आधारों पर राष्ट्र गठित किए जाते हैं। राधामोहन गोकुल ने 1924 में एक किताब लिखी- 'कम्युनिज़्म क्या है?'। इसका प्रकाशन 1927 में हुआ। इसी पुस्तक में एक महत्वपूर्ण लेख है- 'राष्ट्रीयता'। इस लेख

में गोकुलजी ने अंतर्राष्ट्रीय स्तर की अनेक घटनाओं का उदाहरण दिया जहां एक समुदाय 'अन्य' समुदाय को इसी आधार पर लूटता है, उसके सामान्य और बुनियादी अधिकारों तक को छीन लेता है। वे सवाल उठाते हैं कि एक ही राष्ट्र के भीतर दो जातीय समूहों के अलग-अलग अधिकार क्यों हैं! अगर राष्ट्र सबका है तो उन्हें बराबरी का अधिकार क्यों नहीं दिया जाता! शासन-व्यवस्था, उनके बीच कभी एकता क्यों नहीं होने देती। यही नहीं दूसरे राष्ट्र में भी कमज़ोर वर्ग का ही शोषण क्यों होती है- राष्ट्रवाद पर विचार करने के दौरान ये बेहद ज़रूरी और बुनियादी सवाल हैं।

यह ठीक है कि साम्राज्यवाद के अधीन भारत में राष्ट्रवाद का बनियादी स्वरूप साम्राज्यवाद-विरोधी था। लेकिन सवाल है कि क्या अगर इस साम्राज्यवाद से लड़ना हो तो उसके भारतीय टूल्स (औजार) के ख़िलाफ़ भी संघर्ष नहीं छेड़ना होगा। केवल अंग्रेजों को भगा भर देने से क्या हम एक राष्ट्र-निर्माण कर पायेंगे। राधामोहन गोकुल अपने उसी लेख में लिखते हैं-

''सवाल है, क्या भारतवासियों के लिए उचित होगा कि वे बिना विचारे सारे अंग्रेजों, फ्रांसीसियों, चीनियों, ततारियों, तुर्कों, मिस्रियों, इटालियनों से शत्रुता और घृणा करने लग जाए? क्या भारत के श्रमिक दल और किसान समुदाय को इस बात का नैसर्गिक अधिकार है कि दूसरे देशों के लोगों पर संदेह करे, उन्हें घृणा की दृष्टि से देखे, केवल इसलिए कि वे विदेशी हैं, दूसरी भाषा बोलते हैं, उनके रहन-सहन, चाल-व्यवहार दूसरी तरह के हैं? कदापि नहीं, संसार के सभी श्रमिक, किसान, कारीगर वैसे ही हैं जैसे भारत के। भाषा, भाव, आचार-विचाार, रीति-रिवाज, जुदा हों तो इससे क्या। सभी हमारे भाई हैं, सभी हमारी तरह सत्ताधारियों, धनवानों, राजकर्मचारियों के अत्याचारों से पीड़ित मनुष्य हैं, सभी गरीबी, अत्याचार और अन्याय का दु:ख हमारी तरह भोग रहे हैं।''[51]

वे आगे लिखते हैं-

''क्या भारतवासी, सत्ताधारी भारतवासी को इसलिए प्यार करेगा कि वह उसे हिन्दुस्तानी में गाली देता है और हिन्दुस्तानी जूते से मारता है और अंग्रेजों से इसलिए घृणा करेगा कि वह अंग्रेजी में डेमफूल, सन ऑफ विच कहता है और डासन के बूटों की ठोकर लगाता है? यह बात सभी देश के श्रमिक दल के विचारने की है कि हमें किसी भी मनुष्य से घृणा नहीं है, हमें घृणा है अत्याचार से, हमें घृणा है लूट-खसाोट से और धींगा-धींगी से। संपन्न और शासक मंडल भी जिस दिन सीधे

रास्ते पर आ जाएंगे, हम उनका ऐब छुड़ाकर उन्हें मनुष्य बनाना चाहते हैं, सताना नहीं चाहते। ... जातीयता और राष्ट्रीयता का भ्रममूलक अभिमान और मूर्खता छोड़कर संपन्नों के अनुचित आचरणों के साथ संसार के श्रमजीवी मिलकर झगड़े के लिए तैयार हो जाएं।''[52]

राष्ट्रवाद के उन्माद में श्रमिकों और गरीबों के हाथ कुछ नहीं लगता। राष्ट्र के बंटवारे में मज़दूरों की एकता को तोड़ी जाती है। कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र में मार्क्स-एंगेल्स ने कहा है कि श्रमिकों-मज़दूरों का कोई राष्ट्र नहीं होता। उनका आह्वाहन है कि दुनिया के मज़दूरां एक हों! राष्ट्रों के बीच तनाव और युद्धों को राधामोहन गोकुल इसी नज़रिये से देखते हैं। एक उदाहरण-

''क्या हम नहीं देखते कि फ्रांस, इंग्लैंड को इंग्लैंड, जर्मनी को और जर्मनी, फ्रांस को इसी तरह एक देश दूसरे को कुचलने के लिए सिंहनाद करता रहा है और अब भी ऐसा ही कर रहा है। पर हम पूछते हैं कि जर्मनी के कुचले जाने से फ्रांस, इंग्लैंड, इटली देशों के गरीबों की क्या गरीबी मिट गई? प्रत्यक्ष में ते यही देखा जाता है कि थोड़ से राज्य-कर्मचारी और बड़े-बड़े धन पात्र और सम्पन्न धन कुबेर बन गए, गरीबें की संख्या बढ़ी, बेकारी की वृद्धि हुई, लेकिन मरने वालों में गरीब लोग ही थे। लाखों-करोड़ों की तादाद में जो सिपाही दोनों पक्ष से भरती होकर गए थे, 10-10, 20-20 रुपए मासिक के श्रमिक ही तो थे। क्या यह प्रत्यक्ष हरामखोरों वाली वाणी नहीं है कि आ तो दमादम, कमाएं माई-बाबू खांए हम। गरीब ही मरें, गरीब ही मेहनत करें और जो माल पैदा हो थोड़े से धनवान हड़प कर जाएं या राज और गिरजे के लोग निगल जाएं। इसलिए इस प्रकार के अंतर्राष्ट्रीय लड़ाईयों का शीघ्र अंत होना चाहिए और इसका अंत करना श्रमिकों के ही हाथ में है। किसी राष्ट्र के भाग्य का निर्माण ठीक-ठीक श्रमिक ही कर सकते हैं परराष्ट्रों के साथ अपने राष्ट्र के संयोग के भी श्रमिक ही अधिकारी हैं।''[53]

पहले विश्वयुद्ध के दौरान जब राष्ट्रवाद का उन्माद ज़ोरों पर था, उसी बीच रूस में मज़दूरों, किसानों और सैनिकों ने लेनिन और बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्त्व में वहां क्रांति कर दी थी। रूस ने पहला प्रयास यह किया कि वह किसी भी हालत में युद्ध से बाहर हो जाए। इसके लिए 'क्रांतिकारी अपमान' वाली संधि भी की गई थी। राष्ट्रवाद के कंधे पर सवार होकर ही यह युद्ध आया था, जिसका परिणाम वर्गीय होना था; अर्थात् मरे-खपे गरीब लोग और सैनिक, पर मौज उड़ाए

कारखानेदार और उसके वर्ग के लोग। लेनिन ने दुनिया भर के श्रमिकों और उनकी पार्टियों से अपील की थी कि वे अपने-अपने देश के शासक वर्गों के ख़िलाफ़ खड़े हों और युद्ध का निशाना उनकी तरफ़ मोड़ दें।

'हिंदू पंच' पत्रिका का जनवरी 1930 में जो अंक प्रकाशित हुआ उसे 'बलिदान अंक' कहा गया। इस अंक में जनार्दन राय नागर 'अकिंचन' का एक लेख प्रकशित हुआ- 'राष्ट्र और बलिदान' नाम से। इस लेख में राष्ट्र की संकल्पना को पराधीनता से मुक्ति दिलाने वाला और जनता को सारे कष्ट से मुक्ति दिलाने वाला माना गया है। एक पराधीन राष्ट्र को मुक्त करवाने की अभिलाषा यहां केन्द्र में है और राष्ट्र की संकल्पना को उसकी वास्तविकता में नहीं बल्कि एक आदर्श मान कर व्याख्यायित किया गया है- ''राष्ट्र अपने पैरों पर खड़ा रहकर मानव-जाति के जन्मसिद्ध अधिकारों की सदैव रक्षा करता है; क्योंकि परमात्मा के प्राणों की नैसर्गिक भेंट स्वाधीनता का अपहरण करके जीवन की विभूतियों का हरण करना है। ईश्वर-प्रदत्त मानवीय शक्तियों का विकास अनंत व्योम की भांति नहीं होने पाता और इस प्रकार जीवन को लघु कर देना एक महापाप नहीं तो क्या है? इस पापाचार से राष्ट्र समाज को बचााए रखता है- राष्ट्र की शक्ति एक शब्द में महान है!''[54] हिन्दी में कुछेक साहित्यकारों को यदि छोड़ दिया जाए तो शेष ने राष्ट्र को एक राजनीतिक नहीं बल्कि सांस्कृतिक संकल्पना के रूप में देखा है, एक भावुकतापूर्ण अभिलाषा के रूप में देखा है; जिसके उदय के साथ लोगों में उच्च मानवीय गुणों का आगमन हो जाएगा और लोगों व पूरे देश का कष्ट इससे दूर हो जाएगा! लेकिन वस्तुस्थिति इससे इतर थी। दुनिया भर में राष्ट्रवाद के उदय ने एक ऐसे उन्माद को बढ़ाया जहां देश-हित का अभिप्राय वहां के कारखानेदारों का बढ़ता मुनाफ़ा था और जिसकी किसी भी रूपरेखा में वहां की आबादी के बहुसंख्यकों को अनदेखा किया जा रह था।

'मतवाला' में 17 जुलाई 1930 को एक लेख छपा जिसका शीर्षक था- 'राष्ट्र-धर्म'। इस लेख में राष्ट्रवाद को मानव-जाति की 'अराजकता' को दूर करने वाला, निर्बलों का शक्तिशालियों से रक्षा करने वाला तथा एक समुदाय-विशेष को बाहरी हमलों से बचाने वाला कारक के रूप में देखा गया है। लेकिन वैश्विक राजनीति में इसकी सच्चाई और वास्तविकता क्या है, इस लेख में इसे रखा गया है- ''राष्ट्र-धर्म के भिन्न-भिन्न रूपों तथा राष्ट्रों के पारस्परिक झगड़ों का आज कोई स्थान नहीं होता, यदि राष्ट्रों के निर्माण का सैद्धांतिक और व्यवहारिक उद्देश्य सार्वभौम राष्ट्र होता; परंतु

परिस्थितियां भिन्न हैं। ... प्लेग और महामारी, भूकंप और ज्वालामुखी तथा हिंसक जंतुओं से जितने मनुष्यों की अकाल मृत्यु होती है, उससे कहां अधिक संख्या में मनुष्यों के प्राण मनुष्यों के द्वारा अपहरण किए जाते हैं! मनुष्यों का समूह अपने को राष्ट्र का नाम देकर मनुष्यों के दूसरे समूह का इतना भयानक संहार करता है, जिसे देख हृदय एकबारगी दहल उठता है! और ये सभी अभिनय राष्ट्र-धर्म के नाम से किए जाते हैं। विगत यूरोपीय युद्ध राष्ट्र-धर्म के नाम से ही संपन्न हुआ था; परंतु उसमें ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी आदि राष्ट्रों का साम्राज्यवाद छिपा था। उसमें यूरोपीय राष्ट्रों की रक्त-शोषण नीति छिपी थी।''[55] राष्ट्रवाद के उदय की आवश्यकता आदर्श रूप में भारत को पराधीनता से मुक्ति दिलाने में थी। लेकिन उस दौर में इसके उदाहरण कम थे; जबकि इसी संकल्पना पर खड़े होकर कमज़ोर देशों और कमज़ोर लोगों को गुलाम बनाए गए, उनके अधिकारों को ख़तम किया गया- ऐसे उदाहरण इतिहास में भरे हुए हैं। भारत और ब्रिटेन- दोनों के यहां इसी एक 'वाद' का क्या परिणाम था (भारत के संदर्भ में होना चाहिए) का उदाहरण हमें इसी लेख में मिलता है- ''इस हालत में जबकि ब्रिटेन, आज भारत पर अपने भयानक अत्याचारों द्वारा राष्ट्र-धर्म के नाम पर स्वार्थवाद और साम्राज्यवाद की सिद्धि करता है तब भारत का भी सर्वश्रेष्ठ राष्ट्र-धर्म यह है कि वह ब्रिटेन के अत्याचारों का उत्तर अपने त्याग और तपस्याओं से दे। इतना ही नहीं भारत के राष्ट्र-धर्म की पूर्ण उपासना हम तभी कर सकते हैं, जबकि हममें से प्रत्येक प्राणी ब्रिटेन के विरूद्ध असहयोग का प्रचार करें''[56] एक साम्राज्यवादी और उन्मादी राष्ट्रवाद के समानान्तर औपनिवेशिक भारत का अपना राष्ट्रवाद होगा जो साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ देश की जनता को एकजुट करेगा। वह राष्ट्रवाद जो हर प्रकार के शोषण से मुक्त समाज और देश को रचने वाला तथा स्वतंत्र मस्तिष्क और मुक्त ज्ञान का आधार होगा।

साम्राज्यवाद के उदय के कई कारणों में से एक था- यूरोप में राष्ट्रवाद का उदय। इसकी जड़ को प्रेमचंद राष्ट्रवाद का स्वरूप, इसकी राजनीतिक अर्थव्यवस्था और इसकी आक्रामकता में देखते हैं। अपने समय के भारतीय राष्ट्रवादियों के समक्ष राष्ट्रवाद के उदय को लेकर उनके विचार अधिक प्रगतिशील और तार्किक हैं। जब पूरे देश में साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ एक राष्ट्रव्यापी आंदोलन अपने उफान पर था और राष्ट्रप्रेम की लहर उसे व्यापकता प्रदान कर रही थी; ऐसे में प्रेमचंद का राष्ट्रवाद के प्रति विचार प्रगतिशील और जनपक्षधरता लिए हुए हैं। उन्होंने अपने एक लेख 'नवयुग' का प्रारंभ ही इन पंक्तियों के साथ किया है- ''राष्ट्र केवल एक मानसिक प्रवृत्ति

है''[57] राष्ट्र के प्रति प्रेमचंद के इन विचारों को आज के एक प्रमुख विचारक व राजनीतिक चिंतक बेनेडिक्ट एण्डरसन के सामने रख कर देखा जा सकता है। 1987 में इनकी एक पुस्तक छपी- 'राष्ट्र- एक काल्पनिक समुदाय'। अमेरिकी चिंतक एण्डरसन द्वारा राष्ट्र को काल्पनिक कहने का आधार यह है कि प्राय: राष्ट्र, यहाँ तक कि सबसे छोटे राष्ट्र के सदस्य का उसी राष्ट्र के दूसरे अधिकांश सदस्यों से सीधे तौर पर कोई परिचय नहीं होता है, जबकि उनमें से प्रत्येक के मानस में उस समुदाय को लेकर काल्पनिक एकसूत्रता का बिम्ब होता है। उस समुदाय में प्रबल वास्तविक असमानता और शोषण के बावजूद राष्ट्र हमेशा एक गहरा और व्यापक भाईचारे के रूप में देखा जाता है। परिणामत: इसी बिरादराने अथवा समरूपता के कारण यह संभव हो पाता है कि लाखों लोग न सिर्फ़ लोगों की हत्या कर देते हैं, बल्कि स्वयं भी खुशी-खुशी अपनी जान गंवा देते हैं।[58] प्रेमचंद के उसी लेख में राष्ट्र के स्वरूप को उसके राजनीतिक और आर्थिक आयामों और उद्देश्यों से जोड़कर देखने की कोशिश की गई है-

''वर्तमान राष्ट्र योरोप की ईजाद है और राष्ट्रवाद वर्तमान युग का शाप। पृथ्वी को भिन्न-भिन्न राष्ट्रों में विभक्त करके उनमें कुछ ऐसी प्रतियोगिता, ऐसी प्रतिस्पर्धा भर दी गई है, कि आज प्रत्येक राष्ट्र की यही कामना है कि संसार की सारी विभूतियों पर उसी का अधिकार रहे, वही संसार में फलने-फूलने के योग्य है और किसी राष्ट्र को जीवित रहने का अधिकार नहीं है। एक-दूसरे से इतना सशंक हैं कि जब तक अपने को फौलाद से मढ़ न ले, जब तक अपने को गोला-बारूद के अंदर बन्द न कर ले, उसे संतोष नहीं। ...इसी राष्ट्रवाद ने साम्राज्यवाद, व्यवसायवाद आदि को जन्म देकर संसार में तहलका मचा रखा है। व्यपारिक प्रभुत्व के लिए महान युद्ध होते हैं, कपट-नीति चली जाती है, एक-दूसरे की आंख में धूल झोंकी जाती है।''[59]

राष्ट्रवाद, साम्राज्यवाद, युद्धोन्माद तथा पूंजीवाद के अंत:संबंध, 20वीं में आकर वैश्विक फ़लक पर साफ-साफ दिखने लगा था। भारत जैसे एक औपनिवेशिक राष्ट्र में चल रहे स्वतंत्रता आंदोलनों को वैचारिक स्तर पर इन अंत:संबंधों और इसके जटिल तंत्र को समझना आवश्यक था। इस संदर्भ में रचनाकार-विचारक प्रेमचंद की दृष्टि का अपना महत्व है।

भारत जैसे विशाल देश में जिसका इतिहास विभिन्न प्रांतों में बंटे विभिन्न शासको और उसकी प्रांतीय विशेषताओं का इतिहास भी रहा है, के लिए राष्ट्रीय एकसूत्रता बहुत आसान न थी।

अंग्रेजी शासन से पूर्व यह देश हमेशा से ही कई प्रांतों में विभक्त था। कुछ शक्तिशाली शासकों और प्रांतों द्वारा कई बार प्रांत विस्तार की कोशिश हुई, लेकिन वह कोशिश क्योंकि एक राष्ट्र बनाने की नहीं थी; अत: ऐसा हुआ भी नहीं। ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने पूरे देश को जकड़ लिया था। अत: उससे लड़ने के लिए एक वृहतर एकता और एकजुटता की ज़रूरत थी। इस ज़रूरत को भी राष्ट्रवाद कहा गया। कई बार प्रांतीयता उसके रास्तें में रूकावट की तरह खड़ी हो गई थी। 1932 में प्रेमचंद का लेख है- 'नये-नये सूबों की सनक'। इसमें उन्होंने प्रांतीयता और राष्ट्रीयता को आमने-सामने रखा है- ''अंग्रेजों के राज्य-विस्तार ने राष्ट्र-भावना की सृष्टि की और भारत को एक शक्तिशाली, सुव्यवस्थित राष्ट्र बनाने की आकांक्षा उत्पन्न हुई। ... लेकिन इधर कुछ दिनों से फिर प्रांतीयता का भाव ज़ोर पकड़ने लगा है। कहीं प्रतिद्वंद्विता के वशीभूत होकर, कहीं निकट स्वार्थ के कारण और कहीं ऐतिहासिक आधार लेकर नये-नये सूबे की मांग की जा रही है। ... प्रांतीयता की मनोवृत्ति राष्ट्रीय मनोवृत्ति की विरोधिनी है। वह हमारे मन में संकीर्णता का भाव उत्पन्न करती है और हमें किसी प्रश्न पर सामूहिक दृष्टि डालने के अयोग्य बना देती है। और इतिहास कह रहा है कि इसी संकीर्ण मनोवृत्ति ने भारत को पराधीन बनाया।''[60] यहां प्रेमचंद क्षेत्रीय अस्मिताओं के विरोध में नहीं बल्कि एक औपनिवेशिक काल में संपूर्ण एकता के पक्षकार हैं। लेकिन उनकी नज़र में विश्व और विशेषकर गरीब-शोषित जनता पर राष्ट्रवाद के तत्कलीन प्रभाव कभी ओझल नहीं हुए। राष्ट्रवाद के उस स्वरूप पर जो लोगों को बांटता है, कमज़ोर देशों को किसी शक्तिशाली के अधीन करवा देता है, प्रेमचंद ने लगातार हमले किए- ''यह कहना कि भारत का राष्ट्रीय आंदोलन पश्चिम का ऋणी है, और उसकी क़लम वहीं से लाकर आरोपित की गई, मानव प्रकृति से अपने अज्ञान का परिचय देना है। 'जातीयता' यूरोप के कारख़ाने में अवश्य बनी है पर यूरोप में भी तीन सौ साल पहले जातीयता का रूप इतना प्रचंड न था। उसे हम मानव जाति की कोई बड़ी विभूति नहीं समझते। उसने मनुष्य को भिन्न-भिन्न भागों में बांटकर एक-दूसरे का शत्रु बना दिया है।''[61]

व्यापक व सामूहिक एकता, न्याय और प्रगति पर आधारित और घृणा व उन्माद से मुक्त राष्ट्रवाद ही मुकम्मल तौर पर साम्राज्यवाद से संघर्ष कर किसी देश को सामाजिक और राजनीतिक आज़ादी के रास्ते पर ला सकती है। और यही आकर वह अन्तर्राष्ट्रीयतावाद को प्राप्त कर लेती है। प्रेमचंद उस दौर में स्थापित हो रहे राष्ट्रवाद के सामने अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की बात करते हैं। उसे ही अपना और अपने देश का उच्च मूल्य समझते हैं। इसका कारण है। प्रेमचंद का एक लेख जो 27

नवंबर 1933 को प्रकाशित हुआ उसका शीर्षक था- 'राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता'। यह प्रेमचंद और उस दौर के तक़रीबन सारे प्रगतिशील लेखकों-विचारकों का विचार था कि-

''राष्ट्रीयता वर्तमान युग का कोढ़ है, उसी तरह जैसे मध्य-कालीन युग का कोढ़ सांप्रदायिकता थी। नतीजा दोनों का एक है। सांप्रदायिकता अपने घेरे के अंदर पूर्ण शांति और सुख का राज्य स्थापित कर देना चाहती है, मगर उस घेरे के बाहर जो संसार था, उसको नोचने-खसोटने में उसे ज़रा भी मानसिक क्लेश न होता था। राष्ट्रीयता भी अपने परिमित क्षेत्र के अंदर रामराज्य का आयोजन करती है। उस क्षेत्र के बाहर का संसार उसका शत्रु है। सारा संसार ऐसे ही राष्ट्रों या गिरोहों में बंटा हुआ है, और सभी एक-दूसरे को हिंसात्मक संदेह की दृष्टि से देखते हैं और जब तक इसका अंत न होगा, संसार में शांति का होना असंभव है। जागरूक आत्माएं संसार में अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रचार करना चाहती हैं और कर रही हैं, लेकिन राष्ट्रीयता के बंधन में जकड़ा हुआ समाज उन्हें ड्रीमर या शेखचिल्ली समझ कर उनकी उपेक्षा करता है।''[62]

प्रेमचंद अपने पाठकों को अन्तर्राष्ट्रीयतावाद समझाते हुए लिखते हैं- ''... अन्तर्राष्ट्रीयता मानव-संस्कृति और जीवन का बहुत ऊँचा आदर्श है और आदि से संसाार के विचारकों ने इसी आदर्श का प्रतिपादन किया है। 'वसुधैव कुटुम्बकम' इसी आदर्श का परिचायक है।''[63] वे माननते हैं कि राष्ट्रीयता के 'रोग' से ग्रसित लोग पढ़े-लिखे व संभ्रांत लोग हैं। अन्तर्राष्ट्रीयता को वे एकात्मवाद और समता के समकक्ष मानते हैं जो आध्यात्मिक भी है और भौतिक भी। यह आध्यात्मिकता उच्चतर मानवीय मूल्यों की खोज से जुड़ी है। आज अगर इन भावनाओं का लोप हो रहा है तो उसकी वजह प्रेमचंद के अनुसार, निजी संपत्ति का बोलबाला हो जाना है। यही अन्तर्राष्ट्रीयता के रास्ते का सबसे बड़ा रोड़ा है- ''जब तक संपत्ति मानव समाज के संगठन का आधार है, संसार में अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। राष्ट्रों-राष्ट्रों की, भाई-भाई की, स्त्री-पुरूष की लड़ाई का कारण यही संपत्ति है। संसार में जितना अन्याय और अनाचार है, जितना द्वेष और मालिन्य है, जितनी मूर्खता और अज्ञानता है, उसका मूल रहस्य यही विष की गांठ है।''[64] प्रेमचंद, राष्ट्रवाद के ताने-बाने में चल रहे पूंजी के खेल को पाठकों तक लाते हैं।

20वीं शताब्दी के पहले दशक से ही हिन्दी में देशभक्तिपूर्ण रचनाओं और विचारधारात्मक लेखन ज़ोर पकड़ने लगा। एक ऐसे देश में जो साम्राज्यवाद के अधीन लगातार पिस रहा हो, वहां के

स्वाधीनता आंदोलन को यह भावना मुख्य रूप से एक ख़ुराक मुहैया करवाती है। लेकिन राष्ट्रीय आंदोलन के दौर में यह संकल्पना इतनी अनुशासित नहीं थी कि यह देश की जनता को साम्राज्यवाद से मुक्ति की प्रेरणा भर दे। इसके भीतर एक उन्माद का स्वरूप ले लेने और पुरानी अथवा नवनिर्मित अस्मिताओं पर केंद्रित हो जाने का एक दो-धारीपन इसके अंतर मौजूद होता है। विभिन्न अस्मिताओं और राष्ट्रीयताओं से निर्मित इस देश में राष्ट्रवाद का स्वर भी विविधताओं से भरा ही रहा।

इस लिहाज से यहां राष्ट्रवाद की कम-से-कम तीन धाराएं देखने को मिलती हैं। पहली धारा उन विचारकों और क्रांतिकारियों की है जो इस राष्ट्र के केन्द्र में यहां की प्राकृतिक संपदा और संघर्षशील आम लोगों को रखकर उनके हितों के लिए संघर्ष को राष्ट्रवाद की पहली और आख़िरी शर्त मानते हैं। औपनिवेशिक शासन व्यवस्था ने इसे सबसे अधिक हानि पहुचायी इसलिए यह धारा साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ निर्णायक संघर्ष की बात करता है। निर्णायक संघर्ष से अभिप्राय साम्राज्यवाद और उसके समस्त 'टूल्स' के खिलाफ़ संघर्ष से है। ब्रिटिश साम्राज्य के साथ-साथ यह ज़मींदारी प्रथा, महाजनी सभ्यता, ब्राह्मणवादी व्यवस्था आदि के ख़िलाफ़ संघर्ष से ही संभव था।

उस दौर में राष्ट्रवाद की दूसरी धारा उन लोगों की थी जो किसी अस्मिता अथवा नस्ल अथवा धर्म के आधार पर एक समुदाय को 'राष्ट्र' का अभिप्राय बना रहे थे। धार्मिक आधार पर सांप्रदायिकता इनका मुख्य आधार बिंदु बना। अपने संप्रदाय की 'महानता' को पुनः प्राप्त करने हेतु इन्होंने, दूसरे संप्रदाय अथवा धर्म को निशाना बनाना शुरू किया। ये साम्राज्यवाद को अपना शत्रु न बना सके। उल्टे राष्ट्रवाद की इस परिभाषा का इस्तेमाल ब्रिटिश हुकूमत ने किया। भारत में हिन्दू महासभा, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और मुस्लिम लीग जैसे संगठित ताक़तों का राष्ट्रवाद उनके 'अपने धर्म' पर ही केंद्रित रहा।

भारत में राष्ट्रवाद की तीसरी परिपाटी थी, जिसके प्रमुख वक्ता यहां के उन नेताओं की जो स्वाधीनता आंदोलन के 'मुख्यधारा' के नेतृत्त्वकर्त्ता थे। ये जनता के बीच अपनी लोकप्रियता और मान्यता को टिकाये रखने के लिए साम्राज्यवाद से संघर्ष तो करते थे लेकिन 'एकता' की 'चाहत' इन्हें समाज के उन वर्गों के ख़िलाफ़ नहीं खड़ा होने देती जो यहां साम्राज्यवाद के मुख्य आधार थे। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने गांधी के नेतृत्त्व में अंग्रेजों के ख़िलाफ़ तो संघर्ष किया लेकिन जो

ज़मींदारों, जाति-व्यवस्था के पोषकों, महाजनों असल में अंग्रेजी शासन-व्यवस्था को यहां टिकाये हुए थे उनके ख़िलाफ़ इन्होंने कभी भी कोई आंदोलन नहीं छेड़ा। यहां तक कि इस वर्ग के लोग स्वयं उन आंदोलनों की मुख्य भूमिका में थे।

इन तीनों धाराओं में पहले को छोड़कर बाकी दो ही राष्ट्रवाद की व्याख्याओं में मुख्य रूप से आधाार बिंदु बने। प्रथम को देशभक्ति कहकर प्राय: हाशिये पर डालने की कोशिश चलती रही। हिन्दी में राष्ट्रवाद को लेकर जो लेखन हुए हैं उनमें इन तीनों ही पहलुओं की प्रतिक्रिया देखने को मिलती है।

राष्ट्रवाद अपने सामान्य रूप में भी कुछ-न-कुछ संकीर्णता की गुंजाइश लिए होता है। अपने राष्ट्र से विशेष प्रेम करने अथवा इसके इतिहास व परंपराओं को 'महान' मानने के पीछे प्राय: श्रेष्ठता-बोध की काल्पनिकता ही होती है। इसमें अन्य 'राष्ट्रों' के प्रति अगर प्रत्यक्ष रूप से घृणा का भाव न भी छिपा हो तो भी इसके उन्मादी और हिंसक रूप अख़्तियार कर लेने की एक गुंजाइश बनी रहती है।

भारत के स्वाधीनता आंदोलन के दौरान जबकि पूरे देश में राष्ट्रवादी भावनाओं का ज्वार उठा था और हालांकि इसका अपना सकारात्मक महत्व भी था, रवींद्रनाथ टैगोर ने इस संदर्भ में एक महत्वपूर्ण आलोचना की। गांधी के नेतृत्व में पूरा आंदोलन राष्ट्रवाद के तीव्र भावावेग से बढ़ रहा था और रवींद्रनाथ ने इस पर सवाल उठा दिया। साम्राज्यवाद-विरोध के दौरान अंग्रेज जाति के विरोध में बन रही लोगों की मानसिकता की उन्होंने आलोचना की। उनके अनुसार, अंग्रेज केवल वही नहीं हैं जो भारत में राज करते हैं और यहां के लोगों का शोषण और दमन; बल्कि अंग्रेजों का एक बड़ा हिस्सा और वर्ग वह है जो अपने देश में शोषित-पीड़ित है तथा भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरोधी हैं। अत: हमारी राष्ट्रवादी भावनाओं को इस बात का ध्यान रखना होगा कि आने वाले दिनों में जब हमे स्वाधीनता मिल जाएगी तो हमें इंग्लैंड और सारी दुनिया से संबंध रखने हैं। अमेरिका में दिए गए अपने एक भाषण 'भारत में राष्ट्रवाद' में उन्होंने कहा- '' मैं किसी एक राष्ट्र के विरूद्ध नहीं हूं बल्कि सभी राष्ट्रों के एक सामान्य विचार के विरूद्ध हूं। आख़िर यह राष्ट्र है क्या?''[65] सभी राष्ट्रों में एक सामान्य विचार के रूप में फैलता यह राष्ट्रवाद ही था।

भारतीय राष्ट्रवाद का जन्म यहां मध्यवर्ग के उभार के साथ हुआ था। इन दोनों की विकास की प्रक्रिया एक दूसरे के लिए महत्त्वपूर्ण तथा विशिष्ट रहीं। 19वीं सदी के मध्य तक आते-आते इस वर्ग की सामाजिक व राजनैतिक हैसियत महत्त्वपूर्ण हो गई थी। यह वर्ग अंग्रेजों के प्रति वफ़ादार था, स्थानीय ज़मींदारों के ठीक नीचे लेकिन आम लोगों के बीच अधिक सामजिक हैसियत रखता था। भारत के बाहर की आबो-हवा से वे एक हद तक परिचित थे और प्राय: इंग्लैण्ड के मध्यवर्ग की तरह जीवन-शैली चाहते थे। लेकिन, ऐसा नहीं है कि उनकी वफ़ादारी अंग्रजों के प्रति हमेशा एक जैसी ही रही, या हमेशा ही रही। इसके एक हिस्से ने साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ लोगों की चेतना को निर्मित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका भी निभाई। उस दौर के कई लेखक अपने सामीजिक जीवन में भी कार्यकर्त्ता की भूमिका में थे।

20वीं सदी तक आते-आते युद्धोन्माद में राष्ट्रवाद की भूमिका अधिक स्पष्ट होने लगी थी। एक पूर्वनिर्धारित पैमाने पर निर्मित अथवा काल्पनिक एक विशेष क्षेत्रवासियों अथवा विशेष जनसमूहों के हितों के नाम पर चंद राजनीतिज्ञों और पूंजीपतियों द्वारा 'राष्ट्रहित' में अधिक उपनिवेश और फिर उसके लिए युद्ध को आवश्यक बताया जाने लगा। युद्ध जीते जायें इसके लिए जनता का व्यापक समर्थन चाहिए था साथ ही 'राष्ट्रहित' में खुशी-खुशी मर-मिट जाने वालें युवकों की एक फौज। जनता के एक बड़े हिस्से के ऊपर एक धारणा ही नहीं बल्कि उससे भी बढ़कर एक भावुकता की स्थिति इसकी बड़ी आवश्यकता थी। श्रेष्ठताबोध एक अतिवाद में जाकर युद्धोन्माद का आधार बन जाता है। यह युद्धोन्माद साम्राज्यवादियों की लूटमार थी।

संदर्भ सूची

[1] एरिक हॉब्सबाम, साम्राज्य का युग, अनु. प्रकाश दीक्षित, संवाद प्रकाशन, 2009 पृ. 200 में उद्धरित

[2] Gellner, E. (1983), Nations and Nationalism, Ithaca; Cornell University Press.

[3] Anderson, B. (1991) Imagined Communities: Reflections on the origin and spread of Nationalism, Revised Edition, London and New York: Verso.

[4] Anderson, B., Imagined community: Reflections on the Origins and Growth of National Consciousness (London: Verso, 1983) page-7

[5] Smith, A., Nationalism : A Reader, Vol 1 (Oxford : Oxford University press,1994

[6] Hobsbawm, E. J., Nations and nationalism since 1789(Cambridge:Cambridge University press,1989)

[7] A DICTIONARY OF MARXIST THOUGHT; Edited by TOM BOTTOMORE, पृ. 392

[8] कम्युनिस्ट घोषणपत्र–कार्ल मार्क्स, एंगेल्स; खण्ड–2

[9] Dictionary of Philosophy Edited by I.T. Frolov हिन्दी अनुवाद, दर्शनकोश नाम से, प्रगति प्रकाशन, मास्को 1988, पृ. 537–38

[10] पूँजी का युग– एरिक हॉब्सबाम, संवाद प्रकाशन, 2009 पृ. 119

[11] Stalin, J.V. 'Marxism and the National Question' (1913) ; in Omar Dahbour, Micheline R. Ishay (editors); The Nationalism Reader , Humanity Books. page- 192-197

[12] Partha Chatterjee (1986), Nationalist Thought and the Colonial World: A Derivative Discourse? London: Zed Books. page 50-51

[13] Ashis Nandy (1994), The illegitimacy of Nationalism: Rabindranath Tagore and the Politics of Self; Delhi: Oxford University Press, page 3-4

[14] भारतीय साहित्य के इतिहास की समस्याएं –रामविलास शर्मा; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 2002, पृ. 29

[15] लेख 'हिंदी नवजागरण : अध्ययन की समस्याएं' ; सामना – वीरभारत तलवार, में संकलित; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 2005, पृ. 254

[16] Partha Chatterjee (1994), The Nation and its Fragments , Delhi: Oxford University Press

[17] 'राष्ट्रवाद, उपन्यास और प्रेमचंद'- मैनेजर पांडेय; 'अनभै सांचा' में संकलित, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, 2002 पृ. 150

[18] शेखर बंदोपाध्याय, पलासी से विभाजन तक: आधुनिक भारत का इतिहास, ओरिएंट ब्लैकस्वॉन, 2011, पृ. 201

[19] शेखर बंदोपाध्याय, पलासी से विभाजन तक: आधुनिक भारत का इतिहास, ओरिएंट ब्लैकस्वॉन, 2011, पृ. 201

[20] पलासी से विभाजन तक- आधुनिक भारत का इतिहास: शेखर बंद्योपाध्याय ; अनुवाद- नरेश 'नदीम'; ओरियंट ब्लैकस्वॉन 2009, पृ.152-53

[21] कार्ल मार्क्स; 'हिन्दुस्तान में ब्रिटिश राज्य के भावी परिणाम', न्यूयार्क हेरल्ड ट्रिब्यून, 8 अगस्त 1853; कार्ल मार्क्स, भारत संबंधी लेख, में संकलित

[22] रजनी पाम दत्त; भारत वर्तमान और भावी, पृ. 44

[23] आधुनिक भारत का आर्थिक इतिहास (1850-1947), सब्यसाची भट्टाचार्य; राजकमल प्रकाशन, पहला हिंदी संस्करण 1990, पृ. 174-75

[24] मेरी कहानी : जवाहरलाल नेहरू, हिंदी संपादक हरिभाऊ उपाध्याय, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन 2007, पृ. 494

[25] औपनिवेशिक भारत में सांस्कृतिक और विचारात्मक संघर्ष; के.एन. पणिक्कर, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन 2003, पृ. 11

[26] भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास, खंड-1 ; ताराचंद , प्रकाशन विभाग सूचना एवं प्रसार मंत्रालय, भारत सरकार, 2007; पृ. 320

[27] पलासी से विभाजन तक- आधुनिक भारत का इतिहास: शेखर बंद्योपाध्याय ; पृ. 158

[28] रजनी पाम दत्त; भारत: वर्तमान और भावी, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड, पृ.117

[29] रजनी पाम दत्त; भारत: वर्तमान और भावी, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड, पृ.117

[30] शेखर बंदोपाध्याय, पलासी से विभाजन तक: आधुनिक भारत का इतिहास, ओरिएंट ब्लैकस्वॉन, 2011, पृ. 202

[31] शेखर बंदोपाध्याय, पलासी से विभाजन तक: आधुनिक भारत का इतिहास, ओरिएंट ब्लैकस्वॉन, 2011, पृ. 203

[32] शेखर बंदोपाध्याय, पलासी से विभाजन तक: आधुनिक भारत का इतिहास, ओरिएंट ब्लैकस्वॉन, 2011, पृ. 203

[33] अभय कुमार दुबे (सं), समाज-विज्ञान विश्वकोष, खण्ड-5, राजकमल प्रकाशन, 2013, पृ. 1621

[34] मैनेजर पांडेय, अनभै सांचा, वाणी प्रकाशन, 2012, पृ. 159

[35] एंथनी एलेनजी मित्तम, फिलॉसफी एंड एक्शन ऑफ द आर.एस.एस फॉर हिंद स्वराज्य, लक्ष्मी पब्लिकेशन, बंबई, 1951, पृ. 111-112

[36] भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद भाग-1 ; रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, 1982; पृ. 76 में इसका ज़िक्र है।

[37] ग़दर के अंक उर्दू और पंजाबी में निकलते थे और इसके कुछ अंको को हिन्दी, गुजराती समेत अन्य भारतीय भाषाओं में भी निकाला गया था।

[38] भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद भाग-1 ; रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, 1982; पृ. 80

[39] भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद भाग-1 ; रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन , 1982; पृ. 86

[40] एरिक हॉब्सबाम, साम्राज्य का युग, अनु. प्रकाश दीक्षित, संवाद प्रकाशन, 2009 पृ. 224

[41] 'गीतांजली' में संकलित रविन्द्रनाथ टैगोर की कविता 'चित्तो जेथा भयशून्यो' का हिन्दी अनुवाद

[42] गणेशशंकर विद्यार्थी रचनावली, सं. सुरेश सलिल, भाग-1, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., 2011, पृ. 69

[43] गणेशशंकर विद्यार्थी रचनावली, सं. सुरेश सलिल, भाग-1, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., 2011, पृ. 71

[44] गणेशशंकर विद्यार्थी रचनावली, सं. सुरेश सलिल, भाग-1, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., 2011, पृ. 71

[45] गणेशशंकर विद्यार्थी रचनावली, सं. सुरेश सलिल, भाग-1, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., 2011, पृ.120

[46] जैनेन्द्र रचनावली, भाग-12, सं. निर्मला जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, 2008, पृ. 376

[47] जैनेन्द्र रचनावली, भाग-12, सं. निर्मला जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, 2008, पृ. 419

[48] हिटलर की नाज़ी पार्टी का पूरा नाम था- 'नेशनल सोशलिस्ट जर्मन वर्कर्स पार्टी'।

[49] जैनेन्द्र रचनावली, भाग-9, सं. निर्मला जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, 2008, पृ. 567

[50] माखनलाल चतुर्वेदी रचनावली, भाग-3, सं. श्रीकांत जोशी, वाणी प्रकाशन, 1995, पृ. 95

[51] राधामोहन गोकुल समग्र (भाग-2), सं. कर्मेन्दु शिशिर, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., 2009, पृ. 413

[52] राधामोहन गोकुल समग्र (भाग-2), सं. कर्मेन्दु शिशिर, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., 2009, पृ 413-14

[53] राधामोहन गोकुल समग्र (भाग-2), सं. कर्मेन्दु शिशिर, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., 2009, पृ 414-15

[54] प्रो. शंभुनाथ, रामनिवास द्विवेदी (सं.), हिन्दी पत्रकारिता हमारी विरासत; खण्ड-1, वाणी प्रकाशन, 1993, पृ. 501

[55] कर्मेन्दु शिशिर (सं.), नवजागरणकालीन पत्रकारिता और मतवाला, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., 2012, पृ. 327

[56] कर्मेन्दु शिशिर (सं.), नवजागरणकालीन पत्रकारिता और मतवाला, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., 2012, पृ. 329

[57] कर्मेन्दु शिशिर (सं.), नवजागरणकालीन पत्रकारिता और मतवाला, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., 2012, पृ.91

[58] Anderson, B., Imagined community: Reflections on the Origins and Growth of National Consciousness (London: Verso, 1983) page-7

[59] प्रेमचंद के विचार, प्रेमचंद (भाग-1) ; प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2008, पृ.91-92

[60] प्रेमचंद के विचार, भाग-1, प्रेमचंद, प्रकाशन संस्थान , नई दिल्ली, 2008, पृ. 114-15

[61] प्रेमचंद के विचार, भाग-1, प्रेमचंद, प्रकाशन संस्थान , नई दिल्ली, 2008, पृ. 190

[62] प्रेमचंद के विचार, भाग-1, प्रेमचंद, प्रकाशन संस्थान , नई दिल्ली, 2008, पृ. 323

[63] प्रेमचंद के विचार, भाग-1, प्रेमचंद, प्रकाशन संस्थान , नई दिल्ली, 2008, पृ. 323

[64] प्रेमचंद के विचार, भाग-1, प्रेमचंद, प्रकाशन संस्थान , नई दिल्ली, 2008, पृ. 324-25

[65] राष्ट्रवाद, रवीन्द्रनाथ टैगोर, अनुवादक- सौमित्र मोहन; नेशनल बुक ट्रस्ट, 2009 पृ. 55

पाँचवां अध्याय

फासीवाद की विचारधारा और हिन्दी का कथेतर गद्य

6.1 फासीवाद का अर्थ और इसकी पृष्ठभूमि

20वीं सदी का दूसरा दशक उन उम्मीदों के लिए एक बड़ा धक्का साबित होने जा रहा था जो निरंकुश सत्ता के ख़िलाफ़ नागरिक अधिकारों तथा उदार व लोकतांत्रिक संसदीय प्रणाली को इस सदी की सबसे बड़ी ऊपज मान रहा था। 1914 तक आते-आते यूरोप के अंतिम दो देशों- रूस और तुर्की ने भी अपने संविधान बना लिए थे। पुराने सामंती व धार्मिक पोंगापंथ अब भी इन मूल्यों के ख़िलाफ़ सक्रिय और शक्तिशाली थे, लेकिन लोगों की नज़र में बुर्जुआ समाज की आगामी किसी बड़ी सामाजिक क्रांतियों द्वारा इसे सुलझा लेना था। कुल मिलाकर बुर्जुआ राजनीति के उदार लोकतंत्र और उसकी संस्थाएं कई उथल-पुथल होने के बावजूद काफी आशान्वित थीं। 1914 के महायुद्ध ने इस उम्मीद को और भी बढ़ा दिया था। कि सहसा इस उम्मीद को एक झटका लगा- राजनैतिक उदारवाद और इससे उपजे मूल्य काफी तेज़ी के साथ ग़ायब होने लगे थे। इन मूल्यों और इनमें आई गिरावट प्रथम विश्वयुद्ध के खत्म होते-न-होते दिखाई पड़ने लगती है- ''1920 में पूरे विश्व को देखने पर हमें शायद पैंतीस के लगभग संवैधानिक और निर्वाचित सरकारें दृष्टिगत होती हैं। (यह इस बात पर निर्भर है कि हम लातीन अमरीका के गणतंत्र को कहाँ रखते हैं)। 1938 तक इन राज्यों की संख्या संभवत: सत्रह थी, और 1944 में दुनिया के कुल चौंसठ में से बारह देश ही इस सूची में आते थे। संसार का रूझान साफ़ दिखाई दे रहा था।''[1] एक राजनीतिक और सामाजिक आंदोलन के रूप में एक ऐसी विचारधारा का तीव्र उभार होने जा रहा था जो 'राष्ट्रवाद के प्रजातीय संस्करण, वर्ग-संघर्ष विरोधी समाजवाद और प्रभुवर्गीय सर्वसत्तावाद के गठजोड़ की पैरोकारी' करने वाली थी।[2] इस रूझान की विस्फोटक परिणति तब सामने आई जब 1933 में एडोल्फ हिटलर ने जर्मनी के चांसलर की गद्दी संभाली। इस राजनीतिक-सामाजिक परिघटना को फासीवाद कहा गया।

इस पूरी को सदी 'अतिरेकों का युग'[3] कहा जा सकता है- घटनाओं की नाटकीयता और उससे भी बढ़कर उनके प्रभावों के लिहाज़ से। इस सदी के प्रारंभिक दशकों की घटनायें इतनी

नाटकीय और प्रभावशाली थीं कि इससे वे देश भी अछूते नहीं रहे जिनकी भूमिका उन घटनाओं में कहीं नहीं थी। दरअसल यहां तक आते-आते पूंजीवाद की वैश्विक अर्थव्यवस्था ने पूरी दुनिया को अपनी पकड़ में ले लिया था। औद्योगिक क्रांति के बाद उभरी अर्थव्यवस्था ने इस सदी में आकर पर्याप्त उथल-पुथल मचाई। तीन दशकों के भीतर दो विश्वयुद्ध, पूंजीवादी अर्थव्यवस्था को चुनौती देकर खड़ी हुई रूस की बोल्शेविक क्रांति, वैश्विक अर्थव्यवस्था को धाराशायी करने वाली 1929-34 की 'महान मंदी', उदारतावदी लोकतंत्र को नकार कर तेज़ी से उभरा फ़ासीवाद आदि ने इस सदी के इतिहास में उन आयामों को जोड़ दिया जो अत्यंत नाटकीय थे तथा दूरगाामी और महत्वपूर्ण प्रभाव छोड़ने वाले साबित हुए- कम-से-कम इनका इतिहासबोध। यूरोपीय ज्ञानोदय और फ्रांसीसी क्रांति से उपजे राजनीतिक मूल्यों की तिलांजली भी एक वैश्विक परिघटना बन गई। फासीवाद के आगमन की पृष्ठभूमि के रूप में दोनों विश्वयुद्धों के बीच के दौर में दुनिया भर में कुछेक गिनती के देश बचे थे जहां की लोकतांत्रिक संस्थाएं अबाध रूप से काम कर रही थीं- ब्रिटेन, फिनलैंड, द आयरिश फ्री स्टेट, स्वीडन और स्विट्ज़रलैंड।[4] इस परिघटना की मुख्यत: दो राजनैतिक अभिव्यक्तियां हुई- इटली में मुसोलिनी और जर्मनी में हिटलर द्वारा सत्ता अपने हाथों में ले लेना।

महायुद्धों की विभीषिका और इसके उपरांत उभर रही मूल्यहीनता ने लोकतांत्रिक संस्थाओं पर से लोगों का विश्वास हटा दिया था। पूंजीवादी-साम्राज्यवादी व्यवस्था को और जिस उदार लोकतंत्र को इसने अपना आवरण बनाया था उसे रूस की वैकल्पिक साम्यवादी व्यवस्था ने बड़ी चुनौती दी थी। रूस के अलावा आने वाले कुछ दशकों तक इस राजनीतिक उदारतावाद पर हमले केवल धुर दक्षिणपंथी विचारधारा की ओर से ही हुए। इसे फ़ासीवाद या नाज़ीवाद कहा गया। युद्धोपरांत असंतुष्ट मध्यवर्ग तथा मज़दूर वर्ग के एक हिस्से को उग्र राष्ट्रवाद की घुट्टी पिलाकर, मंदी से आक्रांत पूंजीपति वर्ग को आशा की रोशनी दिखाकर तथा दुस्साहसवाद और घृणा को एक राजकीय मूल्य के रूप में स्थापित कर 1922 में इटली में असाधारण अधिकारों के साथ मुसोलिनी का दिव्य उदय हुआ। वह इटली का प्रधानमंत्री बना। उसकी पार्टी का नाम 'फ़ासिस्ट दल' था और उसकी राजनीति फ़ासीवाद कहलाई। जर्मनी में हिटलर का 'नाज़ीवाद फ़ासीवाद का अधिक नस्लवादी और अधिक गतिमान जर्मन संस्करण है'।[5] हिटलर ने इटली की अपेक्षा सोशल इंजीनियरिंग

के माध्यम से राजकीय ढांचों के अपेक्षाकृत निचले स्तर का फासीवादीकरण करने में अधिक सफ़लता हासिल की।

फासीवाद एक सामाजिक और राजनैतिक विचारधारा है। इसकी जड़े इतिहास में 19वीं सदी के अंत और 20वीं सदी के शुरूआत में उन सिद्धांतों से निकली थीं जो यूरोपीय ज्ञानोदय के दौरान व्यक्तिगत तार्किकता, मानव-अधिकार, राजनीतिक उदारतावाद के उसके बुनियादी मांगों पर सवाल उठाते हुए सामने आए थे। फासीवाद के सिद्धांतकारों ने इसे न्यायोचित ठहराने के लिए यूरोपीय ज्ञानोदय की आलोचनाओं को अत्यधिक सरलीकृत करके पेश किया। दरअसल जॉर्ज सोरेल जो हिंसा को त्याज्य नहीं मानते थे और 'नैतिक जागरण' के आग्रही थे।[6] उसने हिंसा, मिथक और सामान्य हड़ताल को सिद्धांत का जामा पहनाया। उनका मानना था कि जनता को सक्रिय और गोलबंद करने के लिए तर्क पर आधारित किसी कार्यक्रम की नहीं बल्कि मिथकों, छवियों और हिंसा के वातावरण की ज़रूरत पड़ती है। उन्होंने आम हड़ताल और क्रांतिकारी हिंसा द्वारा सर्वहारा की क्रांति की बात भी कही और इसके असफल होने की स्थिति में वर्ग-संघर्ष की भावना त्याग कर राष्ट्रवादी उन्माद, नैतिक और मनोवैज्ञानिक क्रांति अपनाने की। पहले विश्वयुद्ध के ख़त्म होते-होते तक सोरेल और उसके अनुयायियों का सिद्धांत राजनीतिक व सामाजिक फ़लक पर सामने आने लगी थी। फ़ासीवाद को एक राजनैतिक सिद्धांत के रूप में अमली जामा पहनाने की तैयारी शुरू हो चुकी थी। 1919 में मुसालिनी ने अपने क्लब का मक़सद घोषित किया- वर्ग-संघर्ष आधारित समाजवाद का विरोध और राष्ट्रीय समाजवाद के लिए काम करना। शीघ्र ही यह क्लब पार्टी बन गई- फ़ासिस्ट पार्टी। 1923 तक इसके सदस्यों की संख्या 23 लाख तक जा पहुंची थी। 20' और 30' के दशक में फ्रांस, स्पेन, बेल्जियम, हंगरी, क्रोशिया, रूमानिया आदि देशों में ऐसे आंदोलनों का दौर चल पड़ा; लेकिन सही मायनों में इसे सफ़लता मिली तो केवल इटली और जर्मनी में।

1924 में मुसालिनी को पूर्ण बहुमत मिला और शीघ्र ही असीम शक्ति के साथ सत्ता के शिखर पर जा बैठा। फिर ''सत्ता और समाज का अपेक्षाकृत निचली पायदानों का फ़ासिस्टीकरण करने के लिए मुसोलिनी ने अन्य सभी तरह की ट्रेड यूनियनों और हड़तालों पर प्रतिबंध लगाकर फ़ासिस्ट ट्रेड यूनियनों के तहत मज़दूर वर्ग को संगठित करने का अभियान चलाया। युवक संगठनों में गोलबंद करके नौजवानों का बड़े पैमाने पर फ़ासीवादीकरण किया गया। स्त्रियों को फ़ासीवादी राज्य

के लिए बलवान पुत्र सप्लाई करने वाली माँ की आदर्श भूमिका प्रदान की गई। 1932 में मुसोलिनी ने अपने एक भाषण में बीसवीं सदी को फ़ासीवाद की सदी बताया। उसने स्वतंत्रता को राज्य की स्वतंत्रता और उसके मातहत व्यक्ति की स्वतंत्रता का पर्याय क़रार दिया।''[17] इसके बावजूद जर्मनी इन कार्यों में अपेक्षाकृत अधिक सफल हुआ।

फ़ासीवाद एक ठोस वास्तविकता है। मार्क्सवादी चिंतक रजनी पाम दत्त के अनुसार यह ख़ास परिस्थितियों में आधुनिक पूंजीवादी नीतियों और प्रवृत्तियों में पतन की पराकाष्ठा आने से पैदा होने वाली चीज़ है और यह उसी पतन की संपूर्ण और सतत अभिव्यक्ति करता है। आधुनिक पूंजीवाद और फ़ासीवाद की कार्यनीतियों में समानता के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सभी आधुनिक पूंजीवादी देश फ़ासीवाद की तरफ़ बढ़ते जा रहे हैं; हालांकि यह ज़रूरी नहीं कि हर देश में फ़ासीवाद का विकास बिल्कुल एक ही तरह से हो।[8] उनके अनुसार जब तक समाज पर पूंजीवाद की गिरफ़्त बरकरार है, फ़ासीवाद का ख़तरा भी कायम है। यह वर्गशोषण पर आधारित समाजव्यवस्था की सबसे पूर्ण, घटिया और संगठित अभिव्यक्ति है। अपने उठान के दिनों में पूंजीवाद सारे विश्व में औपचारिक लोकतंत्र लेकर आया था, लेकिन यही पूंजीवाद जब ऐसे संकट में पड़ता है जहां उसकी साारी संभावनाएं समाप्त हो जाती हैं, यह स्वयं को बढ़ाने और विस्तृत करने में अक्षम हो जाता है; तब यह अपने औपचारिक लोकतंत्र का लबादा भी उतार फेंकता है। इसी औपचारिक लोकतंत्र ने अब तब वग-संघर्ष के 'ख़तरों' से उसे बचाया था। विश्वयुद्ध के बाद आर्थिक व राजनीतिक अस्थिरता में जब वर्गीय अंतर्विरोध और मुखर होकर सामने आने लगा। ऐसे में उस बुर्जआ लगादे को और ढोने का कोई मतलब नहीं रह गया था।

रजनी पाम दत्त ने फ़ासीवाद की कुछ ख़ास प्रवृत्तियों को सामने रखा है- ''... मोटे अर्थ में फ़ासीवाद कुछ ख़ास प्रवृत्तियों से जाहिर होता है: फ़ासीवादी आंदोलनों के मामले में आतंकवाद, कानून की परवाह न करके होने वाली गिरोहबंदियों, संसदीय परंपराओं की अनदेखी, राष्ट्रीय और सामाजिक रूप से भड़काऊ भाषणबाजी वगैरह से तथा पूर्ण फासीवादी तानाशाहियों के स्थापित हो जाने की स्थिति में अन्य पार्टियों और संगठनों के दमन और खास तौर पर मज़दूर वर्ग के सभी स्वतंत्र संगठनों का हिंसात्मक दमन, आतंक के राज, 'एकाधिकारी' शासन स्थापित होने इत्यादि

से।''[9] यहां आकर शासक वर्ग जनता के सारे लोकतांत्रिक अधिकारों का गला घोंट देता है। 1920 के आसपास विश्व पूंजीवाद के लिए ऐसा ही संकट गहराने लगा था।

आर्थिक विपन्नता से उभ्पजा भावनात्मक असंतोष और असुरक्षा में युद्ध के बाद की दुनिया में मुख्यत: एक वर्ग-विशेष की आवश्यकता ने फ़ासीवाद के उभार को गति दी- ''मंदी से बढ़ती कठिनाई ने उच्चवर्ग को बता दिया था कि वेरसाइय की संधि का अंत होना ही चाहिए। युद्ध का मुआवज़ा बंद किया जाना चाहिए और मज़दूरों की शक्ति को तोड़ना अनिवार्य है अगर मंदी से निपटना है...1931 की गर्मियों में बड़े व्यवसायियों के नेताओं ने वाइमार गणतंत्र को 'अपमान की व्यवस्था' करार दिया और एक 'राष्ट्रीय सर्वसत्तावाद' का आह्वान किया।''[10] 50 प्रतिशत बेरोज़गारी दर से जूझते जर्मनी में हिटलर की पार्टी का क़द अचानक से बढ़ गया। 1932 में उसे कुल मतों का 37.2 प्रतिशत हासिल हुआ। उसके पैरामिलिटरी दंगाईयों के कोर में सदस्यों की संख्या अब 1 लाख से बढकर 40 लाख हो गई।[11] चरवाहे से नाराज़ भेड़ों ने अपने क़िस्मत कसाई को सौंप दी।[12]

माइकल गात्र जैसे चिंतकों ने नाज़ियों को मिलने वाले समर्थन को वर्ग आधरित नहीं माना है। दूसरी ओर, क्रिस हरमन, हॉब्सबाम आदि ने इस उभार को एक वर्गीय दृष्टिकोण से देखने की कोशिश की है। दरअसल, इटली और जर्मनी- दोनों ही जगहों पर इस राष्ट्रीय सर्वसत्तावाद का अभ्युदय मध्य-वर्ग केंद्रीत था। नोक्स और प्रिडहैम के 'नाज़ीज़्म, भाग-1' (इक्ज़ीटर-1983) के हवाले से क्रिस हरमन ने नाज़ी पार्टी के वर्गीय आधार को समझने की कोशिश की है। हिटलर के सत्ता में आने के पूर्व उसके पार्टी सदस्यों में 17.3 प्रतिशत लोग कारोबारी थे, 20.6 प्रतिशत लोग सफ़ेद कॉलर वाले कामों में थे और 6.5 प्रतिशत लोग सिविल सर्वेंट थे। ये पार्टी की शक्तियां थीं और इनकी स्थिति अपेक्षाकृत बेहतर थी। हालांकि इस आधार-वर्ग में मज़दूर भी थे, लेकिन इनकी संख्या काफी कम थी और ये प्राय: प्रशा के खेत-मज़दूर थे जहाँ किसी भी तरह के मज़दूर संगठन बनने की संभावना को ख़तम कर दिया गया था।[13] फ़ासीवाद का वर्ग-विश्लेषण के दौरान दो परस्पर विपरित मान्यताएं साामने आती हैं। एक मान्यता यह कि फ़ासीवाद सर्वहारा और पूंजीपति, दोनों ही के ख़िलाफ़ मध्यवर्ग का आंदोलन है। जबकि दूसरी मान्यता के अनुसार यह वित्तीय पूंजीवाद द्वारा मज़दूर वर्ग के ख़िलाफ़ मध्यवर्ग, लंपट सर्वहारा और मनोबलहीन मज़दूर वर्ग के समर्थन से खड़ा किया गया हथियार है तथा यह वित्तीय पूंजी की रखवाली करता है। हिटलर को गद्दी सौंपने के

बाद भी जर्मनी के उद्योगपति उसे अपना हितैषी मानने के बावजूद भी संपूर्ण राजशक्ति उसे देने के पक्ष में नहीं थे। वे हिटलर को 'रक्षक कुत्ता' समझ रहे थे, जिसे जंजीर में बांध के रखा जाना चाहिए था। लेकिन परिस्थितियां उनकी हाथों से बाहर जा चुकी थी। हिटलर 'खुला साँढ़' बन चुका था जिसका नियंत्रक अब संभवत: कोई नहीं रह गया था।

यह ऐतिहासिक रूप से सही रहा है कि फ़ासीवाद का मुख्य आधार-वर्ग प्रारंभ में मध्य-वर्ग रहा है और यह प्राय: उसी को अपना आधार-शक्ति बनाता है। मध्य-वर्ग का यह उभार कहीं से भी बुर्जुआ तानाशाही के विरोध में नहीं होता; बल्कि इसे उभारने में और इसे मज़दूर वर्ग के आंदोलनों से बचाने तथा इसके द्वारा उन आंदोलनों का दमन करने में बुर्जुआ तानाशाही की प्रत्यक्ष व स्पष्ट भूमिका रही है। फ़ासीवाद का पूरा चरित्र उद्योगपतियों और बड़ी पूंजी के ख़िलाफ़ है यह कहना सही नहीं है। फ़ासीवाद शुरूआत में स्वयं को लोकप्रिय और जनता के दु:ख के साथ स्वयं को जोड़ने के लिए भले ही पूंजीवाद-विरोधी प्रचार और भाषणबाजी कर ले, लेकिन यह उनके लिए जुमला से अधिक और कुछ नहीं है। वह अपनी पूरी ताक़त के साथ मज़दूरों और उनकी मांगों को कुचल कर पूंजी को अधिक मुनाफ़ा पहुंचाने के रास्ते पर ही चलता है। यही कारण है कि 'हर देश में बुर्जुआ तानाशाही ने स्वयं फ़ासीवाद को सत्ता सौंपी'[14] और इस सत्ता-हस्तांतरण में मज़दूर-वर्ग का दमन तेज़ हुआ। दुनिया भर में मज़दूरों के उभार से आतंकित पूंजीपति वर्ग, अपने हितों को मज़दूर-हितों से पृथक समझने वाला मध्य-वर्ग और समाजवादी उभार की आशंका से सहमे राजनयिक आदि ने इटली और जर्मनी में क्रमश: मुसोलिनी और हिटलर तथा उनके सामाजिक-राजनीतिक विचारधारा को राजशक्ति का आशय बना दिया।

प्रारंभ में इटली की फ़ासीवादी पार्टी और जर्मनी की राष्ट्रवादी समाजवादी पार्टी ने क्रमश: 1922 और 1933 में मिलीजुली सरकार बनाई थी। पूरे यूरोप में दक्षिणपंथियों की ओर से इस तरह की पार्टियों को 'सहानुभूति' मिल रही थी। 1920 और 30' के दशक में फ़ासीवाद के ख़िलाफ़ केवल कम्युनिस्ट पार्टियां और वामपंथी सोशल डेमोक्रेट्स थे। यहां तक कि मध्यमार्गी, सोशल डेमोक्रेट्स और कंज़र्वेटिव पार्टियों ने शुरूआत में फ़ासीवादी आंदोलनों और शासन का समर्थन किया था। वे इटली के उदाहरण से कुछ भी सीखने को तैयार न थे। कारण कि इन सबको लगता था कि उनके पास मंदी से निपटने के लिए प्रभावी आर्थिक रणनीतियां हैं साथ ही फ़ासीवादी पार्टियां उन्हें

क्रांतिकारी कम्युनिस्ट पार्टियों का एक बेहतर विकल्प लगा। यहां तक कि ब्रिटिश और फ्रांस की सरकारों ने यूरोप में जर्मनी की विध्वंसक विस्तार-नीति के प्रति 'तुष्टिकरण' की नीति अपनाई।

क्रिस हरमन ने इस संदर्भ में लिखा है कि ''नाज़ियों को सत्ता इसलिए मिली, क्योंकि शासक-वर्गों के मुख्य प्रतिनिधियों ने उन्हें सत्ता सौंपने का निर्णय ले लिया था। पहले से ही बहुत से पूंजीपति उन्हें वामपंथी यूनियनों के विरूद्ध काम करने के लिए धन देते रहे थे। अख़बार के मालिक ह्यूगनबर्ग ने हिटलर को आर्थिक संकट के समय शुरू में सहायता दी थी। 1933 तक रूर क्षेत्र का एक प्रमुख उद्योगपति थाइसन तत्पर नाज़ी समर्थक बन चुका था। राष्ट्रीय बैंक का पूर्व अध्यक्ष शाख्ट अधिकाधिक सहानुभूति रखता था।''[15] जर्मनी के सोशल डेमोक्रेट्स[16] नेताओं ने जैसे हिटलर के ख़तरों के प्रति अपनी आंखें बंद कर ली थी। इस दौर में उन्होंने अपने संगठन 'राइख्सबैनर'[17] का कोई भी उपयोग फ़ासीवादियों को रोकने के लिए नहीं किया। ये संवैधानिकता का राग अलापते रहे और दूसरी ओर संविधान के आड़ में ही फ़ासीवादियों का तांडव जारी रहा। सामाजिक लोकतंत्रवादियों के पास एक मजबूत और सशस्त्र सेना वाली प्रशा की सरकार भी थी। उन्होंने हिटलर के साथ सांठगांठ रखने वाले पापेन के कहने से अपनी उस सरकार को भी बर्ख़ास्त कर दिया तथा 1932 के चुनाव में अपने उम्मीदवार तक नहीं खड़े किए। जब सोशल डेमोक्रेट नेताओं को होश आया कि उन्होंने फ़ासीवादियों के लिए अपनी सबसे मजबूत दीवार छोड़ दी है तब काफी देर हो चुकी थी। सामाजिक लोकतंत्रवादियों के इस राजनीतिक चरित्र को समझते हुए स्टालिन ने 1924 में ही कहा था कि ''अपने वस्तुगत रूप में सामाजिक लोकतंत्र फ़ासीवाद की उदारवादी शाखा है।''[18] 1932 के अंत तक उद्योगपतियों, भूस्वामियों और अधिकांश सेना के अधिकारियों को यह लगने लगा था कि नाज़ी ही कम्युनिज़्म के विरूद्ध अंतिम प्रतिरोध बचे हैं। 31 जनवरी 1933 को जब हिटलर ने गद्दी संभाली तो लाखों की तादात में सोशल डेमोक्रेट समर्थक और कारखानों के मज़दूर विरोध करने जर्मनी आ पंहुचे। लेकिन तब भी उनके नेताओं ने कहा कि हिटलर संवैधानिक रूप से सत्ता में आया है और उन्हें ऐसा कुछ नहीं करना चाहिए। सड़कों पर केवल कम्युनिस्ट बचे रह गए। विरोध के स्वर अब भी बिखराव में थे।

27 फ़रवरी 1933 को जर्मनी की संसद 'राइख़रास्ट' में आग लगा दी गई और इसका इल्जाम मढ़ा गया साम्यवादियों पर। उनकी धड़-पकड़ शुरू हुई। उन्माद की स्थिति पैदा की गई,

जिसमें साम्यवादियों के साथ-साथ हिटलर के सभी विरोधी दलों और गुटों पर कहर बरपाया गया। दूसरी सभी राजनीतिक पार्टियां भंग कर दी गईं। सबसे पहले कम्युनिस्ट गिरफ़्तार किए गए। उनके प्रकाशनों और संगठनों पर प्रतिबंध लगा दिए गए। तक़रीबन 10 हज़ार कार्यकर्त्ताओं को जेल भेजा गया। 1933 से लेकर 1939 अर्थात् दूसरे विश्वयुद्ध के बीच 2.25 लाख को राजनैतिक गतिविधियों के लिए जेल में डाला गया। अनुमानत: 10 लाख से अधिक लोगों को फ़ासीवादी सरकार के द्वारा कमोबेश अपमान झेलना पड़ा।[19] मैक्समूलर भवन (नई दिल्ली), गांधी फिल्म फाउंडेशन (मुंबई) और आनंद पटवर्धन द्वारा निर्मित लघु फ़िल्म 'ज़ुल्मतों के दौर में' ने उस दौर को रेखांकित किया है-

''यह सबकुछ महज़ साज़िशों के बल पर नहीं, जनवाद के कंधों पर सवार होकर आया था। इतिहास में एक चक्र ऐसा आया जब हिटलर का दल अचानक सबसे बड़ा दल हो गया। इस नये तरह के 'जनवाद' को यह कहकर बल दिया गया कि - 'सब चोर हैं, बस इन्हें मौक़ा नहीं मिला; मौक़ा दो! परख तो लो! और चरवाहे से नाराज़ भेड़ों ने कसाई को मौक़ा दे दिया।'[20] जर्मनी के मध्यवर्ग को एक स्थिर सरकार चाहिए थी, जो काम करती हो, जो देशप्रेमी हो। और यह देश अल्पसंख्यक यहूदियों का नहीं क्योंकि वे मलेच्छ थे, किसानों और मज़दूरों का नहीं क्योंकि इनका खून गंदा था; एक साफ़ ख़ून वाला देश, आर्य नस्ल का देश हो! हिटलर अल्पमत में था, उसे 33% वोट मिले थे। दूसरे दलों को कहीं अधिक मत मिले थे। हिटलर के चुनाव-प्रचार के लिए 1933 में एक मिटींग हुई। देश के बड़े पूंजीपतियों ने 30 लाख मार्क जमा किए, इनमें 'फक्लेयर' और 'पॉश' कंपनियां शामिल थीं। होना तो यह चाहिए था कि इस सरकार को अपने अंतर्विरोधों से टूटकर स्वयं गिर जानी थी। लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ। 'संविधान और जनवाद की कसमें खाकर सत्ता में आई इस मिलीजुली सरकार ने जर्मनी को जनवाद और संविधान दोनों से पाक़ कर दिया।'[21] कई छोटे-छोटे दलों ने हिटलर के साथ मिलकर सरकार बनाई थी। लेकिन कोई बचा नहीं, एक-एक कर उनका नामों-निशान तक मिटा दिया गया। जनवरी 1933 में हिटलर को सत्ता मिल गई, 27 फ़रवरी को राइख़रास्ट में आग लगा दी गई, कम्युनिस्टों और वामपंथियों पर झूठे इलजाम लगाए गए; दोनों पर हमले हुए। फिर कलाकारों, वैज्ञानिकों, यहूदियों पर हमले बढ़े। भूखमरी, बेरोज़गारी और बेईमानी ख़त्म करने के वायदे से बनी इस सरकार ने आते ही सबसे पहले आर्य ख़ून की दुहाई दी- '' भविष्य में कोई भी जर्मन इंसान महज़ सीखता हुआ एक इंसान नहीं

बल्कि वह स्वयं में एक 'चरित्र' होगा। यहूदी विद्वता का दौर अब समाप्त होगा।'' धर्म और नस्ल से लोगों को बांट दिया गया। फासीवाद ने सत्ता के राजकीय चरित्र का क्रूरतम रूप में सामने ला दिया।

डिमिट्रॉफ़ ने फ़ासीवाद को परिभाषित करते हुए कहा है कि यह पूंजीवादी समाज-व्यवस्था के सबसे प्रतिक्रियावादी हिस्से द्वारा निर्मित खुला आतंक है।[22] लियॉन ट्रॉट्स्की ने लिखा है- ''मानवीय सभ्यता के इतिहास को राष्ट्र के इतिहास तक सीमित कर देने के बाद जर्मनी में फ़ासीवाद ने इसे और संकुचित कर राष्ट्र को नस्ल और फिर रक्त तक सीमित किया।''[23] एक विचारधारा के रूप में फ़ासीवाद जानबूझ कर साज़िशाने ढंग से जनता की कुंठा और हताशा को उसके वास्तविक भौतिक आधारों से काटता है। यह अनिवार्य रूप से एक अतार्किक, गैरभौतिक मतों और आग्रहों जैसे, ज़िम्मेदारी, आज्ञापालन, सम्मान, कर्त्तव्य, पूर्वजों की विरासत, नस्ल आदि पर बल देता है तथा एक समुदाय-विशेष को इनकी क्षति के लिए ज़िम्मेदार और जनता का सबसे बड़ा शत्रु घोषित करता है। यह समुदाय-विशेष यहूदी हो सकता है, काले भी, या फिर जिप्सी या विदेशी। इसी दौर में अमरीका के भीतर 50 लाख से अधिक काले नागरिकों को जानवर से भी बदतर ज़िंदगी गुजारनी पड़ रही थी। उन पर दमन ढाहने और उनके ख़िलाफ़ घृणा का प्रचार करने के लिए श्वेत कट्टरपंथियों का एक समूह 'कू क्लक्स क्लान' (Ku Klux Klan) इसी प्रकार सक्रिय था।

फ़ासीवाद को लेकर रजनी पाम दत्त ने भी विचार किया है। उन्होंने फ़ासीवाद को स्वयं में एक 'सिद्धांत' मानने से इनकार किया है। इस क्रम में फ़ासीवाद को परिभाषित करने के प्रयास के दौरान उसकी जिन विशेषताओं की तरफ़ आमतौर पर ध्यान आकर्षित करवाया जाता है, उनमें से अधिकांश को उन्होंने फ़ासीवाद का नहीं बल्कि प्रतिक्रियावादी तानाशाही का उदाहरण बताया है, और ''फ़ासीवाद प्रतिक्रियावादी तानाशाही हो सकता है। लेकिन हर प्रतिक्रियावादी तानाशाही फ़ासीवादी नहीं होती।''[24] फ़ासीवाद पर चर्चा को वे अनिवार्य रूप से उसकी उत्पत्ति और पैदा होने वाले कारणों की पड़ताल से जोड़ने की सिफ़ारिश करते हैं। उनके अनुसार, ''वास्तव में फ़ासीवाद सर्वहारा क्रांति को पराजित करने और अपने विकास में निहित अंतर्विरोध को बढ़ने से रोकने का पतनशील पूंजीवाद का हिंसक प्रयास है। ... फ़ासीवाद वित्तीय पूंजीवाद का ही एक कार्यनीतिक जरिया है- ठीक उसी तरह, जैसे पहले-पहले लोकतंत्रात्मक रूपों और सोशल डेमोक्रेटिक सरकारों को समर्थन देना उसका कार्यनीतिक तरीका रहा है। और इस सबका उद्देश्य कभी शोषित सर्वहारा

वर्ग में फूट डालकर, तो कभी हिंसा और गुंडागर्दी से सर्वहारा क्रांति को रोकना और पूंजीवादी शासन को बचाए रखना रहा है। प्रचार करने वाले 'सिद्धांत' , उनसे जुड़े मिथकीय किस्से-कहानियां, 'राजनीतिक दर्शन' में कथित 'नई विचारधारा' वगैरह इसी बुनियादी उद्देश्य को ढकने के पर्दे मात्र हैं।''[25] फ़ासीवाद स्वयं को परिभाषित करने में जिन 'आडंबरयुक्त' शब्दावलियों की अस्पष्ट और ग़ैरभौतिक अभिव्यक्ति करता है उसके बजाय हमें उसके उदय के वर्गीय आधार को अपना प्रस्थान-बिंदु बनाना चाहिए। उसके द्वारा प्रयुक्त उग्र राष्ट्रवादी एकाधिकारी और छद्म क्रांतिकारी नारों के बजाय हमें उसके पीछे के उद्देश्य और 'सिद्धांत' गढ़ने की उनकी मजबूरी को समझना चाहिए। यह बेशक, पूंजीवादी अर्थव्यवस्था को उसके तत्कालीन संकटों से उबारने के उद्देश्य से आया और लाया गया; लेकिन इसी अर्थव्यवस्था ने समय-समय पर स्वयं को टिकाने और मजबूत करने के लिए जिन परिघटनाओं के लिए परिस्थितियों को निर्मित किया फ़ासीवाद उनकी अपेक्षा काफ़ी 'सतही सिद्धांतों' और परिणामों वाला है-

''...इसका उद्देश्य संकट में पड़े आधुनिक एकाधिकारी पूंजीवाद की वास्तविकताओं और कार्यशैली के ऊपर परदा डालना और वर्ग संघर्ष की चरम स्थिति को टालना है। इसमें कोई एक भी रचनात्मक विचार नहीं है। अपने शुरूआती दिनों में पूंजीवाद ने एक महान रचनात्मक काम किया था और मानव सभ्यता को हर क्षेत्र में काफी आगे ले आया था। फ्रांसीसी क्रांति ने एक नए जीवन का प्रसार किया था और दुनिया भर में नई समझ पैदा की थी। आज भी हम उसके नतीजों पर गर्व कर सकते हैं भले ही आज हमें इस बुर्जुआ आधार की सीमाएं भी समझ में आने लगी हैं। रूसी क्रांति ने मानव इतिहास के इससे पहले के किसी भी बड़े बदलाव से ज़्यादा परिवर्तन के नए युग की शुरूआत की है। इसकी पूरी उपलब्धियां कहां तक जाएंगी, इसका अभी सिर्फ मोटा अनुमान भर लगाया जाना शुरू हुआ है। लेकिन फ़ासीवाद ने न तो कुछ दिया है, न दे सकता है। फ़ासीवाद सिर्फ़ इस व्यवस्था के रोग और मौत की अभिव्यक्ति है।''[26]

फ़ासीवाद स्थितियों और वायदों के बीच अस्पष्टता पर टिकी होती है। वह कहने के लिए स्वयं को पूंजीवाद और समाजवाद का एक तीसरा विकल्प के रूप में परोसता है। मज़दूरों के पास उसकी आवाज़ यह होती है कि वह पूंजीवाद के साथ नहीं है; जबकि उद्योगपतियों को यह मालूम होता है कि वे मज़दूरों, उनके संगठनों और उनकी मांगों को क्रूरता से दबाने वाला है। फ़ासीवाद

अपने उद्देश्यों को आवरण देने के लिए जुमलों का इस्तेमाल करता है- इटली में अपनी राज्य संरचना को इसने 'कारपोरेट स्टेट' का नाम दिया और जर्मनी में 'नेशनल सोशलिज़्म' का।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद उत्पन्न स्थितियों में पूंजीवाद के अंतर्विरोध, उसके साम्राज्यवादी उन्माद की रणनीति या ज़रूरत और दुनिया भर में उदारवादी लोकतंत्र को जनता के बीच कठघरे में खड़ा किया गया। लोगों का इस पूरी व्यवस्था से मोहभंग उभर कर सामने आ रहा था। दूसरी ओर नई परिस्थितियों में शासक वर्ग और जनता के बीच का राजनीतिक शक्ति संतुलन पहले की तरह नहीं रह गया था। मज़दूर आंदोलनों और साम्यवादी नेतृत्त्व का ज़ोर कमोबेश पूरी दुनिया में बढ़ रहा था। लेनिन ने स्वयं कहा था कि रूस की क्रांति का तभी कोई मतलब है जब सर्वहारा क्रांति अन्य देशों में भी जीते। इस रिक्त स्थान की भरपाई मज़दूरों की क्रांति को करनी थी; लेकिन ऐसा न होने की स्थिति में उस जगह को फ़ासीवाद ने भरा। पश्चिमी और मध्य यूरोप के देशों में जिस प्रकार की स्थितियां पैदा हो रही थीं, वहां अंतिम समाधान के रूप में सर्वहारा क्रांति के मुद्दे उठाए जा रहे थे। परंतु मज़दूर आंदोलनों को अभी और मजबूत तथा एकजूट होना बाकी था। समय उनके हाथों से निकल कर फ़ासीवाद की स्थितियों को मजबूत करने के लिए आगे बढ़ चुका था। 1923 में क्लारा जेटकिन ने कहा कि 'रूस में शुरू हुई क्रांति को आगे आगे बढ़ाने में असफल होने की सज़ा सर्वहारा वर्ग को फासीवाद के रूप में मिल रही है।''[27] इस बीच सोशल डेमोक्रेट्स नेताओं का इस्तेमाल कर शासन-व्यवस्था को टिकाये रखने का प्रयास चलता रहा। लेकिन, यह पुरानी ढर्रा थी जो नए स्थितियों को संभाल पाने में उतनी समर्थ न थी। वर्ग-संघर्ष की स्थितियां इसके बावजूद बनी रहीं। इसी संभावना को कुचलने के लिए फ़ासीवाद को आगे बढ़ाया गया।

यह फ़ासीवाद जहां-जहां उभरा वहां उसने कम्युनिस्टों, साम्यवादियों, विरोधियों, 'अन्य' समुदायों, मज़दूर आंदोलनों आदि को कुचलने की नीति अपनाई- यही उनका 'समाजवाद' था। इनका 'राष्ट्रवाद' का पैमाना और आगे बढ़कर साम्राज्यवाद का सिंहनाद करता है। जर्मनी का सर्वेसर्वा बनने के तुरंत बाद हिटलर ने अपनी पूरी सेना और ताक़त के साथ अन्य देशों पर हमला करना शुरू कर दिया। चूंकि उभरते साम्यवादी आंदोलन की संभावना को यही ख़तम कर सकते थे, अत: शक्तिशाली देशों ने उसके प्रति 'तुष्टिकरण कर नीति' अपना ली थी। अब इन्हें रोक सकने की इच्छाशक्ति और ताक़त किस विचारधारा, किस रणनीति और किस देश के पास थी, यह महत्त्वपूर्ण है।

हिटलर के नेतृत्त्व में जब जर्मनी का फ़ासीवाद अपने साम्राज्यवादी मंसूबे लिए दुस्साहसपूर्ण विभिन्न देशों के ख़िलाफ़ युद्ध को ललकार रहा था तो दरअसल इसने दूसरे विश्वयुद्ध की भूमिका सामने रख दी थी। फ़ासीवाद और साम्यवाद- सोवियत संघ और जर्मनी को आमने-सामने आना ही था। दोनों की अपनी सेनाएं उनके साथ थी, लेकिन दुनिया भर में इसे लेकर ख़ास तरह की चाहत उत्पन्न हो रही थी। इस बीच यह स्वाभाविक था ही कि सोवियत संघ यूरोप के विभिन्न देशों की सरकारों का पहला शत्रु था; लेकिन उन देशों की जनता का शायद यह मिज़ाज नहीं था। ''जनवरी, 1939 में अमेरिकावासियों से पूछा गया था कि यदि जर्मनी और सोवियत संघ के बीच युद्ध छिड़ जाए तो किसे जीतता हुआ देखना चाहेंगे, जर्मनी की जीत की कामना करने वाले सत्रह प्रतिशत के विरुद्ध तिरासी प्रतिशत लोग सोवियत संघ की जीत चाहते थे।''[28] अप्रैल में ब्रिटेन में हुए एक जनमत-संग्रह से पता चला कि 92% अंग्रेज़ नागरिक सोवियत संघ के साथ गठबंधन करने के पक्ष में थे।[29] यह स्थिति तब थी जब 1933 में रूलवेल्ट के शासनकाल आने तक अमरीका ने रूस की बोल्शेविक सरकार को मान्यता तक न दी थी। एक धूर पूंजीवाद-विरोधी देश जिसका प्रतिनिधित्त्व रूस करता था के प्रति साम्यवाद-विरोधी अमेरिका के भीतर यह तथ्य चौंकाने वाला ज़रूर है लेकिन यह उस दौर की 'विसंगति' थी। दूसरी ओर इस दौर में कम-से-कम 1933-1941 के बीच यूरोप की महाशक्तियों ने आवश्यकता के अनुसार जर्मनी को 'तुष्ट' भी किया। रूस ने इन देशों से फासीवाद के ख़िलाफ़ मिलकर एक समझौते की पहल की थी लेकिन तब उनके लिए संभवत: समाजवाद ही उससे बड़ा ख़तरा लगा। 1933 से 1939 के बीच सोवियत संघ ने 'फासीवाद-विरोधी शिविर' निर्माण की कोशिश की, लेकिन अन्य शक्तियां तब जर्मनी के फासीवादी साम्राज्यवाद के लिए 'तुष्टीकरण' में मशगूल थे। सोवियतों ने जर्मनी से कुछ समझौते और छोटे-मोटे युद्धों समेत अनेक पहलकदमियों के आधार पर पहले स्वयं को सुरक्षित किया। हिटलर को भ्रम था कि एक 'तटस्थ राष्ट्र' के रूप में सोवियत संघ महज़ एक मामूली अड़चन बनेगा। लेकिन 1940 के ख़तम होने न होने तक '' हिटलर ने देखा कि सोवियतों की अकेली तटस्थ शक्ति ने उसे सारे यूरोप की संयुक्त सैनिक शक्ति से अधिक धक्का पहुंचाया था। पोलैंड, नार्वे, डेनमार्क, हॉलैंड, बेल्जियम, फ्रांस, यूनान, युगोस्लाविया और ब्रिटिश की मिली-जुली शक्ति से भी ज़्याादा। इसलिए वह मुड़ा और उसने मानव इतिहास के सबसे शक्तिशाली आक्रमण के साथ सोवियत संघ पर वार किया।''[30] और स्वयं हिटलर के अनुसार 'विश्व-इतिहास का सबसे बड़ा सैन्य अभियान' था।

फासीवादी साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ सोवियत संघ का यह युद्ध इतिहास के लिए बेहद निर्णायक होने जा रही थी। सोवियत ने अपनी कूटनीतिक सफलताओं के साथ अब तक दुनिया की अन्य शक्तियों से 'हिटलर के ख़िलाफ़ समर्थन' हासिल कर लिया था। 1939 तक अधिकांश शक्तियों के लिए बाहर-भीतर के लिए साम्यवाद सबसे बड़ा शत्रु था, लेकिन इन बाइस महिनों में हिटलर के ख़तरनाक इरादे सबके सामने खुल चुके थे। जिस मक़सद से शुरूआत में उसके उभार को हवा दी गई थी, शीघ्र ही शासक-वर्गों को भी यह अहसास हो गया कि फ़ासीवाद उनके नियंत्रण के भी बाहर की चीज़ हो गई है। मज़दूर आंदोलनों और सर्वहारा क्रांति की संभावनाओं को कुचलने के लिए तैयार किया गया उनका 'शस्त्र' उनकी पहुंच के बाहर हो चुका था। यद्यपि फ़ासीवादी बर्बरता से उद्योगपतियों और उनके वर्गों के लोगों को हिटलर ने काफी हद तक बचा के रखा था। लेकिन, उसका भी एक हद था। वह केवल पूंजीपतियों के ईशारे और समर्थन से सत्ता तक नहीं आया था; उसने मध्यवर्ग की 'दुखती रग' पर हाथ रखे थे। एक ठीक-ठाक जनसमर्थन उसके साथ था जो भूलवश ही सही लेकिन इस नए तरह के शासन-तंत्र को आजमाना चाहता था। जैसाकि पहले ही कहा जा चुका है कि हिटलर पूंजीपतियों का 'रखवाला कुत्ता' नहीं था, बल्कि एक समय के बाद वह अपने 'मालिक' को भी काट-खा सकने की संभावना लिए हुए था।

सोवियत रूस की पहलक़दमी से जर्मन फ़ासीवाद के ख़िलाफ़ एक 'विश्व-मोर्चा' निर्मित हो चुका था। दुनिया भर में मज़दूरों, साम्यवादियों और राजनीतिक उदारवादी समुदायों ने और यहां तक कि उद्योगपतियों ने अपनी सरकारों पर दबाव बनाया इस मोर्चे में शामिल होने के लिए। साम्यवाद-विरोधी चर्चिल को ज़ोरदार शब्दों में रूस के समर्थन की घोषणा करनी पड़ी- ''नाजीवाद के ख़िलाफ़ लड़ने वाले हर आदमी को हमारी मदद मिलेगी। रूस पर ख़तरा हम पर ख़तरा है।''[31] यह फ़ासीवाद के ख़िलाफ़ मानवता की पहली बड़ी जीत थी, जहां उसे विश्व राजनीति में अलग-थलग किया गया।

वही जर्मनी जिसके शुरूआती साम्राज्यवादी अभियानों को अलग-अलग तरीके से समर्थन (अथवा मौन समर्थन) मिला था, 1940 के आते-आते अपने 'फ़ासीवादी' आग्रहों से सोवियत संघ और यूरोप की अन्य शक्तिशाली देशों के लिए स्वयं को एक 'साझा शत्रु'[32] बना डाला। अंततः सावियत सेना ने जर्मनी को रौंदते हुए बर्लिन जा पहुंची। साम्राज्यवादियों के ख़िलाफ़ सोवियत संघ

को यह सफलता उस दौर में मिली थी जब 24 जून, 1941 को न्यूयार्क टाइम्स में सेनेटर हैरी ट्रूमैन ने यह वक्तव्य दिया कि 'अगर जर्मन जीत रहे हों तो हमें रूसियों की मदद करनी चाहिए और अगर रूसी जीत रहे हों तो हमें जर्मनों की मदद करनी चाहिए और इस तरह उन्हें आपस में ज्यादा से ज्यादा मर-कट जाने देना चाहिए।'[33] साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ सोवियत संघ का यह युद्ध अब पूरी जनता का युद्ध बन चुका था। उन्होंने घोषणा कि- 'मोर्चा सिर्फ वही नहीं है जहां तोपे गरजती हैं। यह हर कारखाने में है। हर खेत में है।'[34] उस पूरे दौर को एक पत्रकार की हैसियत से देखने वाली अमेरिकी पत्रकार अन्ना लुई स्ट्रांग के लिए सोवियत सेनाओं का कौशल, जज़्बा और इच्छाओं की महानता ने मिलकर जो लड़ाई लड़ी वह 'किसी महान संगीत रचना के समकक्ष थी।'[35] युद्ध में जर्मन पीछे धकेल दिए गए। 1943 में वे यूक्रेन से बाहर थे। 1944 की गर्मियां आते-आते किसी भी सोवियत सरहद के भीतर नहीं बचे। अप्रैल 1945 तक लाल सेना बर्लिन पहुंच चुकी थी। सोवियत रूस ने साम्राज्यवाद का अभिप्राय बन चुके जर्मनी की गति को 'नथ' दिया।

6.2 फासीवाद और हिन्दी लेखन

फ़ासीवाद जिन स्थितियों में ऊपजा, उसकी जो कार्यप्रणाली थी और साथ ही दुनिया भर में उसे लेकर जो निर्णायक होने की हद तक प्रतिक्रियांए आई; वे सब अंतर्राष्ट्रीय प्रभाव की थीं। फ़ासीवाद की धमक से उस समय तक़रीबन पूरा विश्व हिल उठा था। उस दौर के अलग-अलग अंतरालों में विभिन्न देशों, वर्गों और समुदायों की अलग-अलग प्रतिक्रियाएं थीं। एक औपनिवेशिक संरचना में अपनी स्वाधीनता के लिए तमाम अंतर्विरोधों व विसंगतियों के बावजूद संघर्ष कर रहे भारत में इसकी प्रतिक्रया क्या थी, यह महत्त्वपूर्ण है; स्वयं भारत के लिए भी। अपनी तमाम राजनीतिक और सामाजिक अंतर्विरोधों से लड़ते हुए, समझौते करते हुए एक बड़ी और महत्त्वपूर्ण लड़ाई से गुज़रते देश को स्वयं अपने 'देश' की तलाश थी। समुदायों, वर्गों, जातियों और जनजातियों का देश। समाज के पहियों को आगे बढ़ाने और पीछे धकेलने वाले विचारधाराओं, राजनीतिक पार्टियों को अपने-अपने हिसाब से अपना देश चाहिए था। उस दौर की परिस्थितियों ने सामने दो विकल्प छोड़े थे- बोल्शविज़्म और फ़ासीवाद। फ़ासीवाद पर इनकी प्रतिक्रियाएं उनके अपने 'देश' के सपनों

और उसके लिए संघर्षों से जुड़ी थीं। हिन्दी के साहित्यकारों, विचारकों ने भी फ़ासीवाद के संदर्भ में अपने दृष्टिकोण और प्रतिक्रियाओं को सामने रखा है।

फ़ासीवाद का उद्‌भव अपने समय के परिस्थितिजन्य ख़तरों की प्रतिक्रिया में हुआ था और ये ख़तरे वास्तविक थे। यद्यपि इन अति दक्षिणपंथियों के चरमवादी आंदोलनों का अस्तित्व 1914 के पूर्व भी था 'जो दीवानगी की हद तक राष्ट्रवादी और विदेशियों के प्रति जुगुप्सात्मक थे, युद्ध और हिंसा जिनके आदर्श थे, वह असहिष्णु थे और बाहुबल से दमन में विश्वास रखते थे, वह उदारवाद के शत्रु थे, लोकतंत्र-विरोधी, सर्वहारा-विरोधी, समाजवाद-विरोधी और बुद्धिवाद के विरोधी थे, वह रक्त और ज़मीन में एक स्वप्निल-लोक में जीते थे और ऐसे मूल्यों में लौटना चाहते थे जिन्हें आधुनिकता विचलित कर रही थी।'[36] लेकिन यह कभी भी उस गति से उभर नहीं पाया जैसे कि 1922 के बाद इटली में और 1932 के बाद जर्मनी में उभरा था। इस नए उभार में युद्धोपरांत संकट के अलावा जो सबसे बड़ा कारण था वह था- 'सामाजिक क्रांति और श्रमिक-वर्गों के हाथ में सत्ता आने के ख़तरे, विशेष रूप से अक्टूबर-क्रांति और लेनिनवाद से उत्पन्न होने वाले ख़तरे'।[37] अत: सत्ता में आते ही इस वैचारिकता ने सबसे पहले और वीभत्स ढंग से इस ताक़त और इनके आंदोलनों का दमन किया।

प्रेमचंद ने हिटलर द्वारा कम्युनिस्टों के दमन का उल्लेख किया है- ''जब हिटलर का निर्वाचन हुआ तो जर्मनी में पचास लाख कम्युनिस्ट थे। हिटलर ने उनके पत्र बंद कर दिए, उनके प्रतिनिधियों को जेल में डाल दिया और उस दल को मिटा देने में कोई बात उठा न रखी।''[38] जर्मनी में और साथ ही दुनिया भर के पूंजी घरानों में जिन लोगों ने खूब सोचसमझ कर (भले ही एक समय तक) फ़ासीवाद को उभरने, बढ़ने में उनकी मदद की थी उसमें उनकी एक सोच यह भी थी कि यह सत्ता स्वयं को स्थापित करते ही मज़दूर आंदोलनों और उसके नेतृत्त्व कर रहे कम्युनिस्ट कार्यकर्त्ताओं पर हमला करेगी। प्रेमचंद उस राजनैतिक दमन को अपने पाठकों के बीच रखते हैं।

फ़ासीवादी तांडव सिर्फ़ राजनीतिक नहीं था या कहें कि उसके राजनीतिक आयम महज़ दलों या संगठनों तक सीमित नहीं था। यह मध्यवर्ग में एक आंदोलन की हद तक घुसकर सामने खड़ा हुआ था। सामाजिक संरचनाओं, नस्लों, धर्मों- सभी संरचनाओं को झकझोरते हुए। 'अन्य' नस्ल को राष्ट्र के लिए 'ख़तरा' घोषित करते हुए राजकीय संरचना ने ही जैसे युद्ध छेड़ दिया उन 'अन्य'

के ख़िलाफ़। आर्य नस्ल और शुद्ध जर्मन ख़ून की दुहाईयां देकर यहूदियों को कुचल दिया गया। नाज़ी पार्टी ने जर्मनी में अपना दूसरा सबसे बड़ा शत्रु यहूदियों को चिह्नित किया और उनका दमन करना शुरू किया। अप्रैल 1933 में प्रेमचंद ने 'जर्मनी में यहूदियों पर अत्याचार' में लिखा है- ''जर्मनी में नाज़ी दल ने आते ही यहूदियों पर धावा बोल दिया है। यहूदियों की दूकानें लूटी जा रही हैं, यहूदियों की जायदादें ज़ब्त की जा रही हैं, यहूदी विद्वानों और पदाधिकारियों का अपमान किया जा रहा है। मारपीट, खून खच्चर भी होना शुरू हो गया है, और यहूदियों को जर्मनी से भागने भी नहीं दिया जाता। चारों ओर नाकाबंदी हो गई है।... प्रोफ़ेसर आईस्टाइन जैसे विद्वानों को केवल यहूदी होने के कारण देश से बहिष्कृत कर दिया गया और उनकी संपति छीन ली गई।''[39] यहां फ़ासीवाद प्रतिक्रियावादी तानाशाही से अलग है। एक समुदाय-विशेष के प्रति सामूहिक घृणा को राज्य स्वयं एक अभियान की तरह ले ले, यह फ़ासीवादी सत्ता का मुख्य लक्षण बन जाता है। इस क्रम में वह लोकतंत्र, तरक्क़ी, तर्क और विरोध- सभी को 'राष्ट्रहित' में कुचलना चाहा। वैज्ञानिकों, लेखकों, कलाकारों- इन पर भी फ़ासीवाद हमला करता रहा।

इस सन्दर्भ में महत्वपूर्ण है कि प्रेमचंद हिटलर द्वारा कम्युनिस्टों और यहूदियों पर किए जा रहे अत्याचार तथा उसके अन्य बर्बर नीतियों को किसी 'आइसोलेशन' में नहीं देख रहे थे। वे साफ़-साफ़ देख रहे थे और अपने पाठकों को इससे अवगत करा रहे थे कि हिटलर और उसकी नाज़ी पार्टी तत्कालीन विश्व-कम्युनिज़्म की प्रतिक्रिया में वहाँ के कम्युनिस्ट आंदोलनों का सफाया करने पर उतारू थे, यहूदियों के ख़िलाफ़ उन्माद खड़ा किया जा था, हर तरह के विरोध के स्वर को निर्ममतापूर्वक कुचला जा रहा था। और इन सबके पूँजीवाद का अपना विकृत चेहरा था। यह प्रेमचंद की सजगता और तीक्ष्ण वर्गीय दृष्टिकोण ही है कि वे समझ पायें कि ये फ़ासिस्ट ताकतें असल में पूँजीपतियों के हाथों को कठपुतली हैं- ''हिटलर ने जर्मनी के पूंजीपतियों के हाथ की कठपुतली बनकर कुछ समय पूर्व यहूदियों पर जो अत्याचार किया था, उसी से उसकी ख्याति संसार में हो गई।''[40] उन्नत पूंजीवाद अपनी विकृति में राजनीति में फ़ासीवादी प्रवृत्ति को बढ़ावा देता है। मार्टिन किचेन (Martin Kitchen) ने फ़ासीवाद संबंधी अपने चिंतन में मार्क्सवादी दृष्टि से फ़ासीवाद और पूंजीवादी व्यवस्था के अंत: संबंधों पर विचार किया है। उनके अनुसार, फ़ासीवाद पूंजीवादी समाज का उत्पादन है और अपने तमाम पूंजीवाद-विरोधी भाषणबाजी, विशेषकर अपनी प्रारंभिक अवस्था में करने के बावजूद यह उससे उबरने या लांघ पाने में न तो इच्छुक होता है और

न ही इस योग्य।'[41] यह वित्तीय पूंजी के गहन संकट के दौर का सबसे विकृत और प्रतिक्रियावादी हथियार था। सिर्फ़ जर्मनी के ही नहीं बल्कि दुनिया के कई देशों के उद्योगपतियों और सरकारों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से हिटलर का समर्थन किया था।

मार्च 1933 को प्रेमचंद का एक लेख छपा- 'यह डिक्टेटरों का युग है'[42]। इस लेख में उदारवादी लोकतंत्र की असफ़लता और बेचारगी की क़ीमत पर दुनिया में इस नई शासन-पद्धति की दमदार शुरूआत की बात कही गई है। प्रेमचंद फ़ासीवाद के उभार को उस दौर की पूंजीवादी आवश्यकता से जोड़कर देखते हैं। इस क्रम में वे उन बिंदुओं को भी चिह्नित करते हैं जिसके चलते उदारवादी लोकतंत्र, जो कि उस दौर में भी प्रत्यक्षत: पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का पोषक था, को इसने अभूतपूर्व तरीके से चुनौती दी। इसके केंद्र में प्रेमचंद ने लोकतंत्र की भयानक असफलता देखी। फ़ासीवाद संबंधी प्रेमचंद का चिंतन दरअसल उस दौर में वैश्विक स्तर पर आडंबरों में घिरे उदारतावादी-लोकतांत्रिक मूल्यों से संदर्भित हैं। हिटलर का उदय, उसकी चुनावी जीत, नाज़ियों द्वारा घृणा का प्रचार, यहूदियों और साम्यवादियों का क्रूर दमन आदि को वे पूंजीवादी अर्थतंत्र के हित में देखते हैं। लेकिन अपने इस मत को वे प्राय: कथित लोकतंत्र के जनविरोधी चरित्र तथा जनता का इससे उठ रहे विश्वास से जोड़कर देखते हैं। 'यह डिक्टेटरों का युग है' लेख की आरंभिक पंक्तियां हैं- ''प्रजातंत्र वाद असफल हो गया। एक सौ पचास वर्ष बाद अब मालूम हुआ कि यह चलने वाली चीज़ नहीं। रूस ने इसे धता बतलाया, इटली ने धता बताया, अब जर्मनी ने भी धता बता दिया।''[43] प्रेमचंद का रचनात्मक-व्यक्तित्व इस बात का प्रबल समर्थक रहा है कि लोकतंत्र अथवा जनतंत्र की हर परिभाषा उन लोगों को केंद्र में रखकर ही गढ़ी जा सकती है जिन्हें इस सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में एक साज़िश के तहत हाशिये पर धकेल दिया गया है। किसान, मज़दूर, दलित, स्त्री आदि की आर्थिक-सामाजिक मुक्ति से ही एक बेहतर समाज और व्यवस्था की कल्पना की जा सकती है, प्रेमचंद का लेखन इस बात को ज़ोर देकर स्थापित करने का प्रयास है।

20वीं सदी के दूसरे दशक ने एक साथ मेहनतकश आवाम के पक्ष में मानवीय मूल्यों की गरीमा और इसकी क्षुद्रता तथा पतन देखा था। रूस में मज़दूरों और किसानों के नेतृत्व में एक नई और वैकल्पिक व्यवस्था का सपना साकार हो रहा था तो दूसरी ओर दुनिया भर में भय, घृणा, दमन, बेकारी अनियंत्रित ढंग-से विश्वव्यापी होती जा रही थी, इटली और जर्मनी में यह राजसत्ता का पर्याय

हो गया था। इस क्रम में जिस लोकतंत्र पर गर्व किया जा रहा था उसने भी जनता की कोई मदद नहीं की, बल्कि पूंजी का, शोषण का, लूट और दमन का खेल लोकतंत्र के बैनर तले ही होता रहा। ऐसे में उत्पन्न राजनीतिक दरिद्रता को फ़ासीवाद से भरने का प्रयास किया गया। जर्मनी में हिटलर, इटली में मुसोलिनी आदि का अभ्युदय के अनेक कारणों में से सबसे बड़ा कारण था, उन राष्ट्रों में उदारवादी लोकतंत्र के प्रति लगातार बढ़ रहा अविश्वास। यह उस समय की क्रूर सच्चाई थी कि डिक्टेटरशिप को कई देशों ने लोकतंत्र से बेहतर माना। इस सम्बन्ध में स्वयं प्रेमचंद का सोचना था- ''हमारा विचार है कि यह डिक्टेटरशिप उस जनसत्ता से कहीं बढ़कर जनसत्तात्मक है। उस जनसत्ता में धनसत्ता का मेल हो गया था। मेल ही क्यों वह यथार्थ में धनसत्ता ही हो गई थी। जिसके पास काफी दौलत हो, वह जनता के वोटरों पर किसी-न-किसी तरह का दबाव डाल कर घुस जाता था। धीरे-धीरे पूँजीपतियों ने उस पर प्रभुत्व जमा लिया।''[44] इस 'डेमोक्रेसी' की सच्चाई को वे जानते हैं-''डिमोक्रेसी केवल एक दलबंदी होकर रह गई, जिसके पास धन था, जिनकी ज़बान में जादू था, जो जनता को सब्ज़बाग दिखा सकते थे, उन्होंने डेमोक्रेसी की आड़ में सारी शक्ति अपनी हाथ में कर ली।''[45] इसलिए ''अब संसार उससे तंग आ गया है और उसका अंत करके ऐसी व्यवस्था का आश्रय लेना चाहता है जिसमें एकात्मक राज्य और डेमोक्रेसी दोनों गुण तो हो, पर अवगुण न हों।''[46] 'एकात्मक राज्य' और 'डेमोक्रेसी' से प्रेमचंद का क्या तात्पर्य है? दरअसल, यहाँ ये दोनों ही शासन-व्यवस्थाएं आम जन के सरोकारों से सकारात्मक रूप से जुड़े अर्थों में प्रयोग किए गए हैं। इन शासन-पद्धतियों का प्रयोग प्रेमचंद निश्चित रूप से तत्कालीन आडंबरयुक्त लोकतंत्र तथा जनहितों से विमुख एक गुणात्मक रूप से भिन्न व्यवस्था के रूप में कर रहे हैं। इसे किसी उदारवादी लोकतंत्र का आदर्श रूप भी कहा जा सकता है।

डिक्टेटरशिप के आधार पर स्थापित फ़ासिस्ट सत्ता और इसकी वीभत्स दमन-नीतियों का प्रेमचंद ने खुलकर विरोध किया। विश्व के मानचित्र पर मुसोलिनी तथा हिटलर और उसके फ़ासीस्ट व नाज़ी दल के काले कारनामों की दस्तख़तें दिखने लगी थीं। ऐसे में प्रेमचंद हिटलर की तानाशाही और उसके दमनकारी नीतिओं के खिलाफ़ अपने पत्रों में बराबर लिखते रहें। नाज़ियों की जीत में जर्मनी में उसकी लोकप्रियता के अलावा नाज़ी पार्टी के राजनीतिक षड्यंत्र और विरोधियों का वीभत्स दमन भी सक्रिय था। वे इसे बख़ूबी पहचान पाते हैं- ''जर्मनी में नाज़ी दल की नाजायाज़ सेना का तीव्र दमन और सभी विरोधी शक्तियों का चुनाव के पूर्व कुचल डालना ही नाज़ी विजय

का कारण है। यह कहाँ का न्याय था कि वर्गवादियों को जेल भेजकर, विरोधियों को पिटवाकर, मुसोलिनी की तरह पत्रों तक को बंद कराकर चुनाव कराया जावे और उसकी विजय को राष्ट्र मत की विजय कहा जावे।''[47] फ़ासीवाद न सिर्फ़ अपने राजनीतिक चरित्र में फ़ासिस्ट होता है बल्कि वह समाज के अन्य सारे आयामों और संस्थाओं को अपनी इन्हीं विचारधाराओं और घृणा व उन्माद की राजनीति से अपने प्रभाव में लेता है अथवा लेने की कोशिश करता है। हिटलर तथा उसकी नाज़ी पार्टी ने देश की तमाम समस्याओं का जड़ साम्यवादियों और यहूदियों को बताया और उनपर हर तरह के अत्याचार किए।

एक राजनैतिक आंदोलन के रूप में बोल्शेविज़्म और फ़ासीवाद के पीछे तत्कालीन व्यवस्थाओं की कमज़ोरियों के प्रति जनता की तीव्र नाराज़गी और एक वर्ग-विशेष के हित थे। लेकिन, इस बिन्दू की समानता के अलावा इनका उदय दो उद्देश्यों, दो वर्गीय हितों और दो विचारधाराओं के साथ हुआ है। प्रेमचंद इन दोनों राजनैतिक आंदोलनों को तत्कालीन लोकतांत्रिक ढकोसलों पर आधारित तो मानते हैं, लेकिन समस्या तब सामने आती है जब वे दोनों को ही उसका विकल्प मानने लगते हैं। यूरोप के संदर्भ में वे लिखते हैं- ''... वहां जनतंत्र अनेक आर्थिक और सामाजिक कारणों से जनतंत्र न रहकर पूंजीतंत्र हो गया है। कम्युनिज़्म और फ़ासिज़्म उसके विद्रोह मात्र हैं। वह जनतंत्र को वास्तविक रूप से जनतंत्र बनाये रखने के लिए आयोजन हैं।... कम्युनिज़्म और फ़ासिज़्म का आधिपत्य इसलिए नहीं है कि उनके पीछे सैनिक शक्ति है, बल्कि इसलिए कि वे प्रजाहित को ही अपना आधार बनाए हुए हैं।''[48] इन दोनों राजनैतिक उभारों का आधार प्रजाहित किस तरह है जबकि प्रेमचंद अपने अनेक लेखों व टिप्पणियों में इस बात को कह चुके हैं कि एक ओर रूस में कम्युनिज़्म का उभार वहां की आम जनता के हितों, अधिकारों व सम्मान की रक्षा को केन्द्र में रखकर हुआ है; वहीं दूसरी ओर, फ़ासीज़्म का बुनियाद ही लोक-अधिकारों का हनन व वर्ग-विशेष, नस्ल-विशेष और आंदोलनों के दमन पर रखा गया है! इसके बाद इन दोनों को 'प्रजाहित' से जोड़कर देखना प्रेमचंद की सीमा और अंतर्विरोध है। उनकी यह सीमा और अंतर्विरोध उन्हें दोनों व्यवस्थाओं या आंदोलनों के नेतृत्व के प्रति दृष्टिकोण में भी दिखता है। एक जगह वे लिखते हैं- ''... अब जनतंत्र को मानता ही कौन है? यह तो स्टालिन, मुसोलिनी और हिटलर का युग है। अब जनतंत्रवादियों को कौन पूछता है।''[49] 'डिक्टेटरशिप या डिमाक्रेसी' नाम से सितंबर 1933 की अपनी एक टिप्पणी में वे लिखते हैं- ''अपने राष्ट्र के लिए डिमाक्रेसी चाहे जितनी

मंगलमय सिद्ध हुई हो, पर संसार की दृष्टि से तो उसने ऐसा कोई कार्य नहीं किया है जिसपर वह गर्व कर सके। अब संसार उससे तंग आ गया है और उसका अंत करके ऐसी व्यवस्था का आश्रय लेना चाहता है, जिसमें एकसत्तात्मक राज्य और डिमाक्रेसी दोनों गुण तो हों, पर अवगुण न हों। मुसोलिनी या हिटलर या स्टालिन आज ईश्वर के प्रतिनिधि राजाओं की भांति पशु-बल से राज्य का संचालन नहीं कर रहे हैं। राष्ट्र उनकी संपत्ति नहीं है और न राष्ट्र का धन उनके भोग-विलास के लिए है। वे जनमत की उपेक्षा नहीं कर सकते और न उनकी अधिकार लालसा स्वार्थ के लिए है। वे राष्ट्र के सच्चे सेवक हैं और यही उनकी सबसे बड़ी शक्ति है।''[50] यहां प्रेमचंद अंतर्विरोधों की हद तक अस्पष्ट हैं। अगर ये दोनों व्यवस्थाएं और इनका नेतृत्व 'राष्ट्र के सच्चे सेवक' हैं तो सवाल यह उठता है कि फिर यह राष्ट्र क्या है और उसकी सच्ची सेवा से उनका क्या तात्पर्य है! जबकि स्वयं प्रेमचंद इसके बड़े पक्षकार रहे हैं कि 'राष्ट्र' की प्रत्येक परिभाषा के केन्द्र में मेहनतकश जनता ही होगी तो फिर इस आवाम के पक्ष में उन्हें फ़ासीवाद कहां खड़ा नज़र आता है?

प्रेमचंद ने अनेक जगहों पर फ़ासीवाद को असफल लोकतंत्र का परिणाम माना है। अनेक स्थानों पर ऐसा लगता है जैसे वे कथित लोकतंत्र के जनविरोधी चरित्र के विकल्प में उदित हो रहे अधिनायकवाद का समर्थन कर रहे हैं। विरोधी वर्गीय उद्देश्यों के बावजूद एक राजनैतिक आंदोलन के रूप में कम्युनिज़्म और फ़ासीवाद के बीच आधार-रूप में कुछ समानताएं हैं। ज़ीव स्टर्नहेल ने फ़ासीवादी विचारधारा और मार्क्सवाद के संबंधों को स्पष्ट करते हुए कहा है कि विचारधारा के रूप में यह मार्क्सवाद की असहमतिपूर्ण अलग दृष्टिकोण है जिसका आधार भौतिकतावाद के विरोध में था। यह मार्क्सवाद की असहमतिपूर्ण पुनर्व्याख्या है न कि उसका कोई अलग किस्म या कोई चरण। नस्लवाद या यहूदी-विरोध इसकी अनिवार्य विशेषता नहीं है। इटली के फ़ासीस्ट आंदोलन में यहूदियों की बड़ी भागीदारी थी। उनकी उपस्थिति की प्रतिशतता अन्य लोगों की प्रतिशतता से भी अधिक थी। अपने सामयिक व्यवस्था जैसे कि, उदारतावाद, मार्क्सवाद, सकारात्मकतावाद, लोकतंत्र को ख़ारिज कर इस नई विचारधारा और राजनीतिक आंदोलन के उभार की शुरूआत हुई। अपनी विश्व-दृष्टि को स्पष्ट करने से पूर्व मार्क्सवाद की शुरूआत भी उदारतावाद के विरोध के साथ शुरू हुई जो एक सदी पूर्व ही संकीर्णतावाद के विरोध में उभरा था। इस प्रकार, मार्क्सवाद जहां अपने समय के उदारतावादी व्यवस्थाओं के विरोध के साथ आया, फ़ासीवाद भी अपने युगीन उदारतावाद और मार्क्सवाद के विरोध में उभरा।[51] प्रेमचंद फ़ासीवादी विचारधारा के विरोधी हैं। लेकिन वह लोकतंत्र

के प्रति श्रद्धावादी नज़रिया नहीं रखते, बल्कि उसके प्रति उनका दृष्टिकोण आलोचनात्मक रहा। इस क्रम में वे उसके थोथेपन और पाखंड का पर्दाफ़ाश भी करते हैं। जब लोकतंत्र महज़ पूँजीपतियों और बाहुबलियों के हाथों का खिलौना बन जाए तो उन्हें स्वभावत: यह ख्याल आता है कि तब फिर ढोंग से क्या फ़ायदा! अनेक बार जब प्रेमचंद 'डिक्टेटरशिप' या फ़ासीवाद के प्रति आकर्षित दिखते हैं तो वहां दरअसल उनका उद्देश्य उदारवादी लोकतंत्र के संस्थानों के जन-विरोधी चरित्र को ख़ारिज करना होता है।

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति और घटनाक्रमों को लेकर प्रेमचंद की अपनी सीमाएं और अंतर्विरोध हैं। इसके कारणों पर निश्चित तौर पर विचार होने चाहिए। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलनों के दौरान दुनिया भर में हो रहे महत्वपूर्ण परिवर्तनों पर यहां का नेतृत्वकारी वर्ग प्राय: अस्पष्ट ही था; चाहे वह सोवियत शासन की स्थापना हो या फ़ासीवाद का उदय। इसकी एक बड़ी वजह यह है कि ये दोनों ही उभार प्रत्यक्ष रूप से विचारधारात्मक उभार था जो एक वर्गीय आधार की सहायता से राजनीतिक शक्ति के रूप में कायम हुआ अथवा होने की कोशिश की। लेकिन, भारत का राष्ट्रवादी नेतृत्व शुरू से आख़िर तक वर्गीय सवालों को दबाता रहा। प्रेमचंद अपने लेखन और विचार-यात्रा में इस नेतृत्व पर सवाल खड़ा करते हैं, इनकी असंगतियों को दिखाते है; लेकिन अंतत: उसका कोई विकल्प नहीं तलाशते। वे बार-बार उसी नेतृत्व के पास आते हैं।

पहले विश्वयुद्ध में हुए जान और माल की हानि से अभी देश उबर ही रहे थे कि इटली की परिस्थितियों में वहां स्थापित एक फ़ासिस्ट दल उभरने लगा। यहाँ युद्धोत्तर परिस्थितियों में आम जनजीवन हकलान था। मुसोलिनी ने वहाँ की प्रजातांत्रिक सरकार को लगगभग अपदस्थ कर शासन की बागडार को अपने हाथों में ले लिया। इस संदर्भ में सितंबर 1034 में 'चांद' में प्रकाशित अपने एक लेख में राधामोहन गोकुल लिखते हैं-

'' 'वीना' की तरह यहां के लोग भी महासमर के बाद पेट की ज्वाला से सीमातीत पीड़ित थे। उपयोगी वस्तुओं के दाम बहुत बढ़ गए थे और बढ़ते ही जा रहे थे। हड़तालों का प्रबंध होने लगा, जनता संगठित होने लगी। श्रमजीवियों ने कारखाने, मिल आदि, छीन कर अपने हस्तगत कर लिए, किसानों ने अपने ज़मींदारों के साथ विद्रोह मचा दिया। इसी समय मुसोलिनी ने एक नई सैन्य 'फ़ैसिस्ट' के नाम से तैयार की। इसका अभिष्ट था, कम्युनिस्टों के उद्देश्य को विफ़ल करना। इस

सेना से कम्युनिस्टों की कई बार मुठभेड़ भी हुई। अंत में फ़ैसिस्ट रोम पर चढ़ गए, वहां राजा ने मुसोलिनी को अपना प्रधानामात्य स्वीकार कर लिया। तभी से फ़ैसिस्ट रोम पर राज्य करते हैं। नेपाल की तरह इटली में भी राजा पुतली की तरह घर में सजा बैठा रहता है। प्रधानामात्य वास्तविक शासक होता है।''[52]

यहां राधामोहन गोकुल उस दौर में फ़ासीवाद के उभार की तीन विशेषताओं की ओर अपने पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हैं। पहला तो यह कि युद्ध के उपरांत जनता में बेतरतीब बढ़ती गरीबी, भूखमरी और महंगाई से पूरा इटली त्रस्त था और लोगों ने इसके विरोध में आंदोलनों की कतार खड़ी कर दी। दूसरी कि इस बात की पूरी गुंजाईश थी कि ये आंदोलन रूसी क्रांति की तरह सर्वहारा क्रांति में परिवर्तित हो जाए। तीसरी बात, जिसकी तरफ़ लेखक अपने पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं वह ये कि क्योंकि फ़ासीवादी पार्टी ने घोषणा कर रखी थी कि वह कम्युनिस्टों का सफ़ाया करेंगे, उन्हें वहाँ के लोकतंत्रवादियों ने सत्ता तक पहुंचाया।

फ़ासीवाद अपने उभार में ही तत्कालीन राजनीतिक उदारतावादी नीतियों का विरोधी था। रूस में हुई बोल्शेविक क्रांति भी उस दौर के उदारतावादी आडंबरों के ख़िलाफ़ मुखर था। इस आधार की समानता का इस्तेमाल कर कई लोग दोनों को ही समान मानने की 'भूल' कर बैठते हैं। राधामोहन गोकुल इस संदर्भ में लिखते हैं-

''अपनी कालिमा छिपाने के लिए कई गोरे लेखक कहते हैं कि फ़ैसिस्ट बोल्शेविकों की तरह अत्यंत हृदयहीन दमन से शासन करते हैं और अपने से भिन्न मत का प्रचार नहीं होने देते। लेकिन यह असत्य है, इटली और रूस देखकर आए हुए अनेक भारतीय और योरोपीय सज्जनों से ज्ञात हुआ है कि रूस और इटली की जनता भारतवासियों से हज़ार गुना सुखी, विद्वान और स्वतंत्र है। हाँ, रूस को छोड़कर जर्मनी और इटली में कुछ ऐसी बातें ज़रूर हैं, जिनसे जनता में असंतोष की मात्रा अद्यावधि में यथेष्ट मात्रा में विद्यमान है।''[53]

1920 तक आत-आते विभिन्न देशों की जनता के सामने तत्कालीन लोकतंत्र और राजनीति के उदारतावादी मूल्यों की सीमाएं दिखने लगी थी, जिसकी एक बड़ी और महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति रूस के मज़दूरों, सैनिकों और किसानों ने 1917 में की थी- बोल्शेविक क्रांति के रूप

में। फ़ासीवाद भी इन मूल्यों को नकारता है लेकिन उसकी जगह एक ऐसी व्यवस्था की स्थापना करता है जो मज़दूरों और साम्यवादियों के दमन पर टिका हो, एक ऐसी व्यवस्था जिसमें विरोध के सभी स्वरों को जबरन दबा दिया जाता है। यह बड़ा फ़र्क है फ़ासीवाद और मज़दूर क्रांति में। दोनों राजनैतिक विचारधारा और शासन पद्धति दो धूर-विरोधी मान्यताओं और वर्गीय आधारों पर टिका है- इसे लेकर प्राय: अस्पष्टता की स्थिति उस दौर के हिन्दी लेखन में प्राय: दिख जाता है। कई बार यह प्रतीत होता है कि वह भी फ़ासीवाद के उन दावों को ही सही मान लेता है जो 'जुमले' के रूप में उछाले गए थे, जो गैर-वर्गीय आधार पर टिके थे और वे महज़ उनके 'हथियार' थे। राधामोहन गोकुल यह कहकर कि 'रूस को छोड़कर जर्मनी और इटली में' जनता के बीच असंतोष है, दोनों के बीच विभेद कर पाते हैं।

प्रेमचंदोत्तर हिन्दी कथा साहित्य के प्रमुख हस्ताक्षर यशपाल ने अपने वैचारिक लेखन में फ़ासीवाद को एक राजनैतिक वाद के रूप में देखा है। वे दमन और आतंक को इसका मूल आधार मानते हैं- ''यह दमन कभी राष्ट्रीयता का नाम दे, कभी धर्म और संस्कृति की आवरण की रक्षा का आवरण चढ़ा कर जारी किया जाता है ताकि जनता उसमें अपना कल्याण भी समझती रहे।''[54] यशपाल फ़ासीवाद के उन सिद्धांतों को सामने रखते हैं जहां वह युद्ध को मानव जाति के उच्चतर आदर्श और विकास के लिए अपरिहार्य मानता है और लोकतंत्र को महज़ धोखा। इस पूरी परिघटना को वे मार्क्सवाद के नज़रिये से देखते हैं-

''संसार पर जर्मन साम्राज्य के विस्तार का स्वप्न पूरा करने के लिए नाज़ियों ने छोटे-छोटे राष्ट्रों को हड़पना आरंभ किया और जर्मन प्रजा को जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति का विश्वास दिलाने के लिए, मित्र राष्ट्रों द्वारा महायुद्ध में पराजय के स्वरूप संधि की शर्तों के रूप में लगाई गई पाबंदियों को तोड़ना शुरू किया। फ्रांस और इंग्लैण्ड चाहते तो जर्मनी को उसी समय कुचल दे सकते थे परन्तु इन साम्राज्यवादी शक्तियों को आशा थी कि जर्मनी की बढ़ी हुई शक्ति संसार से कम्युनिज़्म का नाश कर देगी। इसलिए जर्मनी की अन्तर्राष्ट्रीय डकैतियों को न केवल चुपचाप सहन कर लिया बल्कि वहां के पूंजीपति शासन को कर्जे के रूप में करोड़ों की सहायता दी गई ताकि जर्मनी में कम्यूनिस्ट आंदोलन न पनप सके। जर्मनी में नाज़ीवाद के रूप में पूंजीवाद को फिर से स्थापित करने में जो कामयाबी हुई, उसमें इंग्लैण्ड, फ्रांस, अमेरिका की पूंजीपति सरकारों की

सहायता का विशेष स्थान था। जर्मन पूंजीवाद इन राष्ट्रों के पूंजीवाद से सहायता पाकर भी अपने स्वार्थ को प्रधानता देने के कारण उनसे लड़े बिना न रह सका।''[55]

इटली और जर्मनी की विशेष परिस्थितियों में भी फ़ासीवाद को पूंजीपतियों की गोद का सहारा लेना था। पहले महायुद्ध की समाप्ति ने जर्मनी की जनता के सामने वहां की तत्कालीन व्यवस्था के ख़िलाफ़ आंदोलनरत हो जाने के अलावा कोई विकल्प नहीं रख छोड़ा था। इसके केन्द्र में वहां के मज़दूर और किसान थे और उनके भीतर रूसी क्रांति को दोहरा देने का एक मौका था। पूंजीवाद तब अपने ही अंतर्विरोधों में उलझा था। उसके सामने जर्मनी जैसे एक देश में साम्यवादी आंदोलन की रूपरेखा जैसे तैयार हो रही थी। इसी बीच उसे उभरते हुए हिटलर के रूप में उसे अपना एक 'सहारा' दिख गया। मज़दूर आंदोलनों और साम्यवादी क्रांति के ख़िलाफ़ भड़काऊ भाषण देने वाले हिटलर का ज़ोर जर्मनी की खोया हुआ 'राष्ट्रीय आत्मगौरव' को दुबारा हासिल करने की ललकार पर आधारित थी। राष्ट्रवाद के इस उन्माद में आम जनता के सवाल ढक सकते हैं और दूसरी ओर मज़दूर आंदोलनों की भी ख़ैर नहीं- उस दौर में पूंजीवाद के लिए यह एक मौका था खुद को संभाल लेने का। हिटलर को जर्मनी समेत दुनिया के कई पूंजीपतियों ने हाथों-हाथ लिया। यशपाल फ़ासीवाद के जड़ में जाकर उसके वर्गीय उद्देश्यों को सामने रखते हैं।

जब हिटलर की अगुवाई में दूसरे विश्वयुद्ध की आधारभूमि तैयार की जा रही थी, उस समय महात्मा गाँधी ने भी हिटलर को पत्र लिखकर व अख़बारों में बयान देकर रोकने की अपील कर रहे थे। 5 सितंबर 1939 को उन्होंने समाचारपत्रों को दिए अपने वक्तव्य में कहा- ''...इस समय मैं भारत की मुक्ति की बात नहीं सोच रहा हूँ। भारत को अवश्य मुक्ति मिलेगी। लेकिन इंग्लैण्ड और फ्रांस का पतन हो जाता है, अथवा यदि उन्हें विध्वस्त जर्मनी के ऊपर फतह मिल जाती है तो उसका क्या मूल्य रह जाएगा? तथापि ऐसा लगता है कि हर हिटलर किसी परमात्मा के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते और केवल पशुबल को ही मानते हैं और जैसाकि श्री चेम्बरलेन ने कहा है, बल-प्रयोग के सिवा वे (हिटलर) किसी युक्ति की परवाह नहीं करेंगे। ऐसी बेमिसाल आफत के समय कांग्रेसियों तथा भारत के अन्य समस्त नेताओं को व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से निर्णय करना होगा कि इस विनाश-लीला में भारत की क्या भूमिका होगी?''[56] हिटलर को लिखे एक पत्र में गाँधी ने उनसे अपील भी की थी कि वह इस विश्वयुद्ध को हवा न दें- ''...आज संसार में आप

ही एक ऐसे व्यक्ति हैं जो उस युद्ध को रोक सकते हैं, जो मानव-जाति को बर्बर अवस्था में पहुँचा सकता है''[57] इसी प्रकार 24 दिसम्बर 1940 को गाँधी ने हिटलर को एक पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने उसके कार्यों की निंदा की-'' आपके अपने और आपके मित्रों, और प्रशंसकों के लेखों और वक्तव्यों से इस बात में कतई सन्देह नहीं रहता कि आपके बहुत-से कार्य राक्षसी हैं और मनुष्य की गरिमा के योग्य नहीं हैं- ख़ासकर मुझ जैसे विश्व-मैत्री में विश्वास करने वाले लोगों की निगाह में तो वे ऐसे ही हैं। चकोस्लोवाकिया का पद -दलन, पोलैण्ड पर बलात्कार, और डेनमार्क को हड़पना- ये आपके कुछ ऐसे ही कार्य हैं। मैं जानता हूं कि आपके जीवन-दर्शन के अनुसार लूट-मार के ये काम सत्कार्य हैं।''[58]

हिन्दी में उस दौर के कुछ लेखकों के लिए जर्मनी में हिटलर का उदय वहां की 'ख़ासियत' थी। वे उसके 'राष्ट्रीय वायदों' को भारत के लिए प्रेरणास्रोत मानते थे। 15 सितम्बर 1932 को 'भारत' पत्रिका में एक लेख छपा। शीर्षक था- 'जर्मनी का राष्ट्रीय जागरण'। उसमें जर्मनी के 'जागरण' को यों देखा जा रहा है-

''हिटलर और वान पेपेन के नायकत्त्व में जो दो प्रमुख दल जर्मनी में संघटित हो गए हैं वे हिन्दू और मुसलमानों की तरह मस्जिद के सामने बाजा बजाने के सवाल पर जूझ मरने वाले मूर्ख नहीं हैं, क्योंकि उनके अंतर में देशानुराग तरंगित हो रहा है। प्रत्येक दल यह चाहता है कि राष्ट्र का कल्याण वह सबसे अधिक करे। इसी प्रतियोगिता के कारण दलबंदी हो गई है।... सारांश यह कि जर्मनी महायुद्ध के पूर्व की अपनी प्रतिष्ठा, अपना प्रभाव और अपनी प्रगति प्राप्त करने का इरादा कर चुका है। बस इसी इरादे को पूरा करने के लिए हिटलर और पेपेन के नाजी और राष्ट्रीय दलों की स्पर्धा है। क्या हिंदू-मुस्लिम दलबंदी के मूल में भी ऐसा ही पवित्र भाव है? वह दिन सोने का होगा जिस दिन देशहित की समस्या पर भारत में इस प्रकार की दलबंदी खड़ी होगी।''[59]

फ़ासीवाद के मुहावरों, नारों और उसकी वास्तविक मंशा को लेकर यह बड़ी अस्पष्टता वाली स्थिति है। लेखक हिटलर के खड़ा होने के पीछे सक्रिय ताक़तों और उसके 20वीं सदी का सबसे क्रूरतम तंत्र बनते जाने की प्रक्रिया से भी जैसे अनभिज्ञ है। कई बार हालांकि यह संभव है कि हिटलर द्वारा ब्रिटेन तक को चुनौती देने के बाद भारतीय राष्ट्रवादियों का एक हिस्सा जो फ़ासीवाद को बहुत 'दूर' से समझ रहा था तथा उसके क्रूरतम पक्ष से अनभिज्ञ था, उसके प्रेरित भी

रहा हो। उन्हें अभी शायद यह समझना बाकी था कि हिटलर की पूरी कार्यपद्धति ही अपने भीतर मानवता पर कहर बरपाने की आशंका लिए आगे बढ़ रही थी; लेकिन यहां लेखक को लगता है कि 'यह जर्मनी के राष्ट्रीय जागरण के भिन्न स्वरूप मात्र हैं।' और इन सभी स्वरूपों में देशभक्ति का अजस्र श्रोत है-

''जर्मनी का सौभाग्य है कि इस बाह्य विभेद होते हुए भी उसके प्रत्येक दल नहीं, प्रत्येक नागरिक के हृदय में देशभक्ति का अजस्र श्रोत प्रवाहित हो रहा है। जर्मनों का यह राष्ट्रीय जागरण उनके पितृ देश को सब प्रकार की प्रतिष्ठा और गौरव ही प्रदान करेगा। यही तो स्वतंत्र देश का उत्कर्ष है। जर्मन राजनीति का यही वह पाठ है जिसका क, ख, ग, भी भारत अब तक नहीं पढ़ पाया।''[60]

निश्चित रूप से यहाँ 'राष्ट्रीय गौरव' और 'प्रतिष्ठा' के अमूर्त स्वरूप को जस-का-तस ले लिया गया है। संकट यह कि यह लेख सितंबर, 1932 का है जबकि विश्व-फ़लक पर हिटलर के आर्विभाव की स्थितियाँ बन चुकी थी। जर्मनी के भीतर मज़दूर आंदोलनों, सर्वहारा क्रांति की संभावनाओं और विरोधियों के स्वरों को कुचल देने का हिटलर का उद्देश्य अपना राजनीतिक रंग लेना शुरू कर चुका था। अपने प्रोपेगेण्डा में वह जर्मनी को दुनिया में वह स्थान दिलाने की बात कर रहा था जिसका असली हक़दार जर्मनी है! अपने वर्गीय उद्देश्यों के चलते वह 1939 तक दुनिया के कई औद्योगिक घरानों व लोकतांत्रिक सरकारों का चहेता बना रहा। पूंजीवाद उसे बोल्शेविज़्म से रक्षा करने के लिए एक अपना एक 'शक्तिशाली लठैत' मानता रहा। हिटलर के नेतृत्व में नाज़ियों का जर्मनी में 'राष्ट्रीय जागरण' की यही आधारशिला है।

फ़ासीवाद की एक विशेषता 'संगठित राज्यवाद' को स्पष्ट करते हुए एरिक हॉब्सबाम लिखते हैं- ''यह कट्टर शासन-तंत्र थे, पारंपरिक व्यवस्था की रक्षा इनकी उतनी चिंता नहीं थी, इनका मुख्य काम था उदार व्यक्तिवाद और श्रमशक्ति तथा समाजवाद द्वारा उत्पन्न चुनौतियों के सामने प्रतिरोध के अपने ही सिद्धांतों को निर्धारित करना। इसके पीछे था एक काल्पनिक मध्ययुग अथवा सामंती समाज के प्रति वैचारिक अतीत-मोह, जहां वर्ग या आर्थिक समूहों को मान्यता दी जाती थी, लेकिन दुखद वर्ग-संघर्ष इस कारण से नहीं हो पाते थे, क्योंकि इस सामाजिक संरचना को स्वेच्छा से स्वीकार किया जाता था, और यह माना जाता था कि प्रत्येक सामाजिक समूह की अपनी-अपनी

भूमिका उस संगठित समाज में है जो सबसे मिल कर बना है और एक सामूहिक इकाई है।''[61] 1932 में 'भारत' पत्रिका में प्रकाशित लेख 'जर्मनी का राष्ट्रीय जागरण' में यह भी कहा गया है कि ''प्रसन्नता की बात है कि भारत के प्रायः सभी पत्रों ने जर्मनी के इस दावे का समर्थन किया है। इनमें वे पत्र भी शामिल हैं जो भारत के स्वराज के विरोधी हैं।''[62] जर्मनी के 'दावे' और उसकी 'सच्चाई' से हिन्दी के कई आलोचक व लेखक परिचित हैं। प्रेमचंद, राधामोहन गोकुल आदि के यहां हमने देखा कि वे कैसे फ़ासीवाद की राजनीति को समझते हैं, उसका विरोध करते हैं और अपने पाठकों को इससे अवगत भी कराते हैं। लेकिन वास्तव में इस बात की पर्याप्त गुंजाइश है कि हिन्दी के अनेक विचारकों व लेखकों और कुछ हद तक यहां के संभ्रांत शिक्षित परिवारों में फ़ासीवाद के प्रति एक मोह हो।

यह दो फ़लक पर हो सकता है। एक तो तत्कालीन उदारवादी लोकतंत्र के आडंबरों के प्रति एक प्रतिक्रियात्मक आंदोलन के रूप में इसकी स्वीकार्यता (जैसाकि कई स्थानों पर प्रेमचंद के अंदर यह दिखाई पड़ता है) और दूसरा स्तर है जहां इसके उग्र राष्ट्रवाद, अनुशासन, देशसेवा, पवित्र नस्ल आदि के आधार पर हिंसा, आतंक और घृणा को राजनैतिक व वैचारिक रूप से अपनाने की बात करने वाली विचारधारा। भारत में इस संदर्भ में 1925 में स्थापित राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आरएसएस) की भूमिका और वैचारिकी को देखा जाना चाहिए।

भारत जब अपनी स्वाधीनता के लिए संघर्ष कर रहा था तो स्वाभाविक तौर पर उसे अपने अतीत को गौरवान्वित करने की ज़रूरत पड़ी और कल्पना के आधार पर एक 'शुद्ध', 'पवित्र' और 'गौरवमयी' अतीत की रचना की गई। इस क्रम में एक राजीनीतिक और सामाजिक शक्ति के रूप में उभर रहे आरएसएस ने 'विदेशी' और 'आततायी' के रूप में मुसलमानों को 'अन्य' बना कर पेश किया। वे मुसलमानों को इस देश की संस्कृति पर हमलावर के रूप में प्रचारित कर रहे थे और शुद्ध और पवित्र 'हिन्दुत्व' को अपनी राजनीति का आधार बनाया। संघ परिवार ने खुलेआम हिटलर के जर्मनी मे फासीवादी विचारधाराओं की तरफदारी और वकालत की हैं- ''जर्मन नस्ल की श्रेष्ठता आज चर्चा का विषय बना हुआ है। अपने नस्ल और संस्कृति की पवित्रता को बनाये रखने के लिए इसने यहूदियों (सेमेटिक नस्ल) से अपने देश को शुद्ध कर पूरी दुनिया को चौंका दिया है। जर्मनी को देख कर यह साफ हो गया है कि मूलभूत रूप से भिन्न नस्लों और संस्कृतियों को एकीकृत

करने जैसा काम लगभग असंभव है। भारत को भी इससे सबक लेना चाहिए।''[63] यह महज़ फ़ासीवाद के उग्र राष्ट्रवाद को स्वीकार करने अथवा न करने भर का मामला नहीं है। फ़ासीवाद जिस प्रकार पूंजीवाद अंतर्विरोधों को ढंकने के लिए जर्मनी के बीच से एक 'दूसरा' समुदाय को 'चिह्नित' कर उसके ख़िलाफ़ घृणा का प्रचार कर रहा था, ठीक वैसे ही भारत में आरएसएस जैसे संगठन औपनिवेशिक व्यवस्था से भारतीय जनता के संघर्षों को भटकाने के लिए मुसलमानों, इसाईयों आदि को देश का 'असली शत्रु' बता रहे थे। ग़ैरतलब है कि इस विचारधारा को भी उदारवादी मूल्यों पर ठीक वैसे ही यकीन नहीं रहता जैसे कि जर्मनी में फ़ासीवाद उदारतावाद का कट्टर विरोधी था। गांधी की हत्या दरअसल आरएसएस का उदारतावाद के प्रति तीव्र विक्षोभ और अवमानना ही था।

जब हिटलर की अगुवाई में दूसरे विश्वयुद्ध की आधारभूमि तैयार की जा रही थी, उस समय महात्मा गाँधी ने भी हिटलर को पत्र लिखकर व अख़बारों में बयान देकर रोकने की अपील कर रहे थे। 5 सितंबर 1939 को उन्होंने समाचारपत्रों को दिए अपने वक्तव्य में कहा- ''...इस समय मैं भारत की मुक्ति की बात नहीं सोच रहा हूँ। भारत को अवश्य मुक्ति मिलेगी। लेकिन इंग्लैण्ड और फ्रांस का पतन हो जाता है, अथवा यदि उन्हें विध्वस्त जर्मनी के ऊपर फतह मिल जाती है तो उसका क्या मूल्य रह जाएगा? तथापि ऐसा लगता है कि हर हिटलर किसी परमात्मा के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते और केवल पशुबल को ही मानते हैं और जैसाकि श्री चेम्बरलेन ने कहा है, बल-प्रयोग के सिवा वे (हिटलर) किसी युक्ति की परवाह नहीं करेंगे। ऐसी बेमिसाल आफत के समय कांग्रेसियों तथा भारत के अन्य समस्त नेताओं को व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से निर्णय करना होगा कि इस विनाश-लीला में भारत की क्या भूमिका होगी?''[64] हिटलर को लिखे एक पत्र में गाँधी ने उनसे अपील भी की थी कि वह इस विश्वयुद्ध को हवा न दें- ''...आज संसार में आप ही एक ऐसे व्यक्ति हैं जो उस युद्ध को रोक सकते हैं, जो मानव-जाति को बर्बर अवस्था में पहुँचा सकता है''[65] इसी प्रकार 24 दिसम्बर 1940 को गाँधी ने हिटलर को एक पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने उसके कार्यों की निंदा की-'' आपके अपने और आपके मित्रों, और प्रशंसकों के लेखों और वक्तव्यों से इस बात में कतई सन्देह नहीं रहता कि आपके बहुत-से कार्य राक्षसी हैं और मनुष्य की गरिमा के योग्य नहीं हैं- ख़ासकर मुझ जैसे विश्व-मैत्री में विश्वास करने वाले लोगों की निगाह में तो वे ऐसे ही हैं। चकोस्लोवाकिया का पद -दलन, पोलैण्ड पर बलात्कार, और डेनमार्क को हड़पना- ये

आपके कुछ ऐसे ही कार्य हैं। मैं जानता हूं कि आपके जीवन-दर्शन के अनुसार लूट-मार के ये काम सत्कार्य हैं।''[66] यहां तक आते-आते फ़ासीवाद ने दुनिया भर के राजनीतिक उदारतावादियों को भी अपने ख़िलाफ़ कर लिया था। उसे जिस पूंजीतंत्र ने सहारा देकर खड़ा किया था, वह अब उसके हित में भी नहीं रह गया था। उसकी अनियंत्रित गति को सोवियत रूस ने 'नथ' दिया था।

संदर्भ सूची

[1] एरिक हॉब्सबाम, अतिरेकों का युग; अनुवाद-प्रकाश दीक्षित, भाग-1, संवाद प्रकाशन, 2009, पृ. 135

[2] अभय कुमार दुबे (सं.), समाज-विज्ञान विश्वकोष, खण्ड-3, राजकमल प्रकाशन, 2013, पृ. 958

[3] एरिक हॉब्सबाम ने अपने इतिहास-लेखन श्रृंखला में 1914-1991 के तक के इतिहास को 'द एज ऑफ एक्सट्रीम्स' अर्थात 'अतिरेकों का युग' कहा है।

[4] एरिक हॉब्सबाम, अतिरेकों का युग; अनुवाद-प्रकाश दीक्षित, भाग-1, संवाद प्रकाशन, 2009, पृ. 134

[5] लाल बहादुर वर्मा, आधुनिक विश्व इतिहास की झलक (1789-1945); अभिव्यक्ति प्रकाशन, 2010, पृ. 222

[6] Georges Sorel- Reflections on Violence, edited by- Jeremy Jennings, Cambridge University Press, 1999

[7] अभय कुमार दुबे (सं.), समाज-विज्ञान विश्वकोष, खण्ड-3, राजकमल प्रकाशन, 2013, पृ. 959

[8] रजनी पाम दत्त, फ़ासीवाद और सामाजिक क्रांति; अनुवादक अरविंद मोहन, ग्रंथ शिल्पी, 2002, पृ 93-94

[9] रजनी पाम दत्त, फ़ासीवाद और सामाजिक क्रांति; अनुवादक अरविंद मोहन, ग्रंथ शिल्पी, 2002, पृ 94

[10] क्रिस हरमन, विश्व का जन इतिहास; अनुवाद: लाल बहादुर वर्मा, संवाद प्रकाशन, 2009, पृ. 412

[11] क्रिस हरमन, विश्व का जन इतिहास; अनुवाद: लाल बहादुर वर्मा, संवाद प्रकाशन, 2009, पृ. 410

[12] ज़ुल्मतों के दौर में, लघु फिल्म, मैक्समूलर भवन, नई दिल्ली, गांधी फिल्म फाउंडेशन, मुंबई और आनंद पटवर्धन द्वारा निर्मित, से

[13] क्रिस हरमन, विश्व का जन इतिहास; अनुवाद: लाल बहादुर वर्मा, संवाद प्रकाशन, 2009, पृ. 410

[14] इटली में वहां के महाराजा ने फासीवादियों को सत्ता सौंपी। उसने देश में सैनिक शासन लगाने के आदेश पर दस्तख़त करने से इनकार कर मुसोलिनी को बुलाकर सत्ता उसे दे दी। जर्मनी में वहां के राष्ट्रपति ने फासीवादियों को सत्ता तब सौंपी जब उसका अपना आधार समाप्त होने लगा था। उस समय हुए चुनावों से भी यह बात ज़ाहिर हुई।

[15] क्रिस हरमन, विश्व का जन इतिहास; अनुवाद: लाल बहादुर वर्मा, संवाद प्रकाशन, 2009, पृ. 412

[16] सोशल डेमोक्रेसी एक राजनीतिक विचारधारा है जो पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के मातहत ही सामाजिक न्याय के लिए आर्थिक और सामाजिक हस्तक्षेपों का समर्थन करती है, सामूहिकता के बल पर शासक-वर्ग के साथ मोल-मोलई करता है, प्रातिनिधिक लोकतंत्र का समर्थन और मांग करती है तथा कल्याणकारी राज्य और आम हित में अर्थव्यवस्था की निरंतरता को जारी रखती है। इस प्रकार वह पूंजीवाद को अधिक लोकतांत्रिक और भाईचारे पर आधारित बनाने के लिए प्रयासरत रहती है। विश्वयुद्ध के बाद उपजी परिस्थितियों में तथा विश्व आर्थिक संकट के दौर में यूरोप में इस विचारधारा की पार्टियों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से फ़ासीवाद के उभार में उसकी मदद ही की।

[17] यह जर्मनी के सोशल डेमोक्रेट्स का एक संगठन था जिसमें समाजवादी खेल संगठनों के सदस्यों व अन्य जुझारू सदस्यों की भर्ती की गई थी। इसे उन्होंने 'आत्मरक्षा' के उद्देश्य से बनाया था।

[18] स्टालिन, वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के प्रमुख कारक, कम्युनिस्ट अंतर्राष्ट्रीय, 1924, अंक-6

[19] क्रिस हरमन, विश्व का जन इतिहास; अनुवाद: लाल बहादुर वर्मा, संवाद प्रकाशन, 2009, पृ. 415 में उद्धरित

[20] जुल्मतों के दौर में, लघु फिल्म, मैक्समूलर भवन, नई दिल्ली, गांधी फिल्म फाउंडेशन, मुंबई और आनंद पटवर्धन द्वारा निर्मित, से

[21] जुल्मतों के दौर में, लघु फिल्म, मैक्समूलर भवन, नई दिल्ली, गांधी फिल्म फाउंडेशन, मुंबई और आनंद पटवर्धन द्वारा निर्मित, से

[22] एरिस्टोटल ए. कालिस (Aristotle A. Kallis) द्वारा संपादित 'द फ़ासिज़्म रीडर' में उद्धृत, Routledge, London And New York, 2003, पृ. 59

[23] लियॉन ट्राट्स्की द्वारा 1934 में लिखा गया लेख 'राष्ट्रवाद और आर्थिक जीवन' से। अप्रैल, 1934 में विदेश मंत्रालय द्वारा प्रकाशित, पुन:प्रकाशन चौथे इंटरनेशनल में।

Online Version: *Vera Buch & Albert Weisbord Internet Archive*.
Transcribed/HTML Markup: Albert Weisbord Internet Archive/David Walters.

[24] रजनी पाम दत्त, फ़ासीवाद और सामाजिक क्रांति; अनुवादक अरविंद मोहन, ग्रंथ शिल्पी, 2002, पृ 97

[25] रजनी पाम दत्त, फ़ासीवाद और सामाजिक क्रांति; अनुवादक अरविंद मोहन, ग्रंथ शिल्पी, 2002, पृ 196

[26] रजनी पाम दत्त, फ़ासीवाद और सामाजिक क्रांति; अनुवादक अरविंद मोहन, ग्रंथ शिल्पी, 2002, पृ 201

[27] रजनी पाम दत्त, फ़ासीवाद और सामाजिक क्रांति; अनुवादक अरविंद मोहन, ग्रंथ शिल्पी, 2002, पृ 289 में उद्धृत

[28] एरिक हॉब्सबाम, अतिरेकों का युग; अनु. प्रकाश दीक्षित, संवादद प्रकाशन, 2009, पृ. 171

[29] न्यूयार्क हेरल्ड ट्रिब्यून, 4 मई 1939

[30] अन्ना लुई स्ट्रांग, स्तालीन युग; अनु. राजेश उपाध्याय, आरोही बुक ट्रस्ट, 2004, पृ. 109

[31] अन्ना लुई स्ट्रांग, स्तालीन युग; अनु. राजेश उपाध्याय, आरोही बुक ट्रस्ट, 2004, पृ. 112 में उद्धरित

[32] एरिक हॉब्सबाम, अतिरेकों का युग; अनु. प्रकाश दीक्षित, संवादद प्रकाशन, 2009 में इतिहासकार ने इस विषय पर विचार करते हुए इसका शीर्षक दिया है- 'साझा शत्रु के विरूद्ध'।

[33] http://izquotes.com/quote/274047 ; हैरी ट्रूमैन के मशहूर वक्तव्य, जो 24 जून, 1941 में न्यूयार्क टाइम्स में छपा और 2 जुलाई 1951 को *टाइम* पत्रिका में।

[34] अन्ना लुई स्ट्रांग, स्तालीन युग; अनु. राजेश उपाध्याय, आरोही बुक ट्रस्ट, 2004, पृ. 114 में उद्धरित

[35] अन्ना लुई स्ट्रांग, स्तालीन युग; अनु. राजेश उपाध्याय, आरोही बुक ट्रस्ट, 2004, पृ. 121

[36] एरिक हॉब्सबाम, अतिरेकों का युग; अनुवाद-प्रकाश दीक्षित, भाग-1, संवाद प्रकाशन,

2009, पृ. 150

[37] एरिक हॉब्सबाम, अतिरेकों का युग; अनुवाद-प्रकाश दीक्षित, भाग-1, संवाद प्रकाशन, 2009, पृ. 149

[38] प्रेमचंद के विचार, प्रेमचंद (भाग-1); प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2008, पृ 320

[39] प्रेमचंद के विचार, प्रेमचंद (भाग-1); प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2008, पृ 295-96

[40] प्रेमचंद के विचार, प्रेमचंद (भाग-1); प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2008, पृ 334

[41] लेख 'फ़ासिज़्म एंड द केपिटलिस्ट सिस्टम: ए मार्क्सिस्ट वीउ', एरिस्टोटल ए. कालिस (Aristotle Kallis) द्वारा संपादित 'द फ़ासिज़्म रीडर' में संकलित, Routledge, London And New York, 2003, पृ. 58

[42] प्रेमचंद के विचार, प्रेमचंद (भाग-1); प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2008, पृ 291

[43] प्रेमचंद के विचार, प्रेमचंद (भाग-1); प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2008, पृ 291

[44] प्रेमचंद के विचार, प्रेमचंद (भाग-1); प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2008, पृ 299

[45] प्रेमचंद के विचार, प्रेमचंद (भाग-1); प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2008, पृ 315

[46] प्रेमचंद के विचार, प्रेमचंद (भाग-1); प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2008, पृ 315

[47] प्रेमचंद के विचार, प्रेमचंद (भाग-1); प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2008, पृ 290

[48] प्रेमचंद के विचार, प्रेमचंद (भाग-1); प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2008, पृ 189-90

[49] प्रेमचंद के विचार, प्रेमचंद (भाग-1) ; प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2008, पृ 144

[50] प्रेमचंद के विचार, प्रेमचंद (भाग-1) ; प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2008, पृ 315-16

[51] Zeev Sternhell, 'FASCIST IDEOLOGY: A DISSIDENT REVISION OF MARXISM?' Aristotle A. Kallis (ed.) 'The Fascism Reader', Routledge, London And New York, 2003 पृ., 166-67

[52] राधामोहन गोकुल समग्र (भाग-2), सं. कर्मेन्दु शिशिर, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., 2009, पृ. 267

[53] राधामोहन गोकुल समग्र (भाग-2), सं. कर्मेन्दु शिशिर, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., 2009, पृ. 267

[54] यशपाल रचनावली, खण्ड-11, संपादन-आनन्द, प्रस्तावना- मैनेजर पाण्डेय, लोकभारती प्रकाशन, 2007, पृ. 76

[55] यशपाल रचनावली, खण्ड-11, संपादन-आनन्द, प्रस्तावना- मैनेजर पाण्डेय, लोकभारती प्रकाशन, 2007, पृ. 75

[56] सम्पूर्ण गांधी वाड्.मय, खण्ड-70, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1978, पृ. 180

[57] सम्पूर्ण गांधी वाड्.मय, खण्ड-70, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1978, पृ. 23

[58] सम्पूर्ण गांधी वाड्.मय, खण्ड-73, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1978, पृ. 275

[59] नंददुलारे वाजपेयी, नवजागरण कालीन पत्रकारिता और *भारत*, भाग 2, संकलन-संपादन कृष्णदत्त शर्मा, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., पृ. 856

[60] नंददुलारे वाजपेयी, नवजागरण कालीन पत्रकारिता और *भारत*, भाग 2, संकलन-संपादन कृष्णदत्त शर्मा, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., पृ. 857

[61] एरिक हॉब्सबाम, अतिरेकों का युग; अनुवाद-प्रकाश दीक्षित, भाग-1, संवाद प्रकाशन, 2009, पृ. 137

[62] नंददुलारे वाजपेयी, नवजागरण कालीन पत्रकारिता और *भारत*, भाग 2, संकलन-संपादन कृष्णदत्त शर्मा, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., पृ. 857

[63] एम. एस. गोलवलकर, वी, आवर नेशनहुड डिफाइन्ड, 1939, पृ 35

[64] सम्पूर्ण गांधी वाड्.मय, खण्ड-70, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1978, पृ. 180

[65] सम्पूर्ण गांधी वाड्.मय, खण्ड-70, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1978, पृ. 23

[66] सम्पूर्ण गांधी वाड्.मय, खण्ड-73, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1978, पृ. 275

उपसंहार

1

औद्योगिक क्रांति के आगमन ने उत्पादन की रफ़्तार और गुणात्मकता को बढ़ाकर मानव-सभ्यता के सामने विकास और बेहतरी की असीम संभावनाओं को उजागर कर दिया था। लेकिन, उसका आर्विभाव उस अर्थव्यवस्था की गोद में हुआ जिसकी बुनियाद ग़ैरबराबरी और शोषण की थी। इसने मानव जाति के सबसे बड़े समुदाय को उसके आधारों से काटकर, उत्पादन के पारंपरिक व स्वायत्त साधनों और इससे निर्मित इलाकायी अर्थव्यवस्था से 'मुक्त' कर एक नये तरह की गुलामी में ढकेल दिया। इतिहास के 20वीं सदी में प्रवेश करते-करते मुनाफ़े की उठी होड़ ने यूरोप को युद्धोन्माद की ओर ढ़केला। इसकी आक्रामकता ने पहले विश्वयुद्ध को जन्म दिया। परिस्थितियां इस तरह की हो चुकी थी कि यह कहना मुश्किल है कि ऑस्ट्रीया के राजकुमार की हत्या अगर सर्बिया में न हुई होती तो विश्वयुद्ध टाला जा सकता था। इस पूरी स्थिति के संचालन का केन्द्र यूरोप था।

अपने पूर्व के दशकों की राजनीतिक अर्थव्यवस्था पर खड़े होकर 1914 ने दुनिया को सहसा नाटकीय रूप से गतिशील बना दिया। राजनीतिक मानचित्र पर विजेता और विजित- दो तरह के खाने बन गए, जिनके बीच अविश्वास पहले के किसी भी दौर से अधिक थे। यह अविश्वास महज़ देशों के स्तर पर ही नहीं था, बल्कि यह उतना ही वर्गों के स्तर पर भी सक्रिय हो उठा था। कामगारों और कारख़ानेदारों- उपनिवेशों व साम्राज्यवादियों- ग़रीबों व अमीरों- कुल मिलाकर शोषितों और शोषकों के बीच वर्गीय हितों की टकराहट की संभावना पहले के किसी भी दौर से अधिक हो गई थी। राजसत्ता और संसद पूंजी के जमाख़ोरों और कारख़ानेदारों के हितों को साधने के माध्यम थे। पूंजीपतियों के मुनाफ़े को निर्विरोध रूप से आगे बढ़ाने के लिए तथा इसे लोगों के बीच न्यायसंगत ठहराने के लिए बुर्जुआ पार्टियां थीं। दूसरी ओर मज़दूरों और शोषितों की आवाज़ और अधिकारों की मांग को मुखर करने के लिए समाजवादी व साम्यवादी पार्टियां थीं। विश्वयुद्ध से उत्पन्न परिस्थितियों में सत्ता-शक्ति का वर्गीय समीकरण वही नहीं रह गया जो पिछली कई सदियों से चला आ रहा था।

इस धारणा ने अपने पीछे लोगों को गोलबंद कर लिया कि 'जो हाथ कल-कारख़ाने चलाते हैं वे उसके मालिक भी हो सकते हैं' या यह कि 'पानी जोकों के बिना भी बहता रह सकता है'।

विश्वयुद्ध के भीतर भीषण तबाही के साथ-साथ ऐतिहासिक राजनीतिक-सामाजिक परिवर्तन की अथाह संभावनायें थी।

2

इतिहास के कालखंड में 1914 महज़ वह साल नहीं था जब पहला विश्वयुद्ध हुआ, बल्कि यह अपने से पहले और बाद की परिस्थितियों के बीच एक विभाजन-रेखा भी है। इस विश्वयुद्ध के कुछ तात्कालिक कारण भी थे जो अधिकांशतः उतने महत्त्वपूर्ण नहीं थे जितने कि पिछले कुछ सालों या दशकों से विश्व-अर्थव्यवस्था और उसके समानांतर बदलते विश्व की राजनीति। विश्व-राजनीति और अर्थव्यवस्था यहां तक आकर बदले हुए संदर्भों से संचालित हो रही थी। साम्राज्यवाद और राष्ट्रवाद हालांकि पूर्व की शताब्दी में उभरी वैचारिकी थी, लेकिन विश्वयुद्ध ने इसमें नए सिरे से विमर्शों को समाहित किया। साम्राज्यवादी परिघटनाओं के अपने तर्क चले आ रहे थे, लेकिन अब संचित पूंजी का आधिक्य, उत्पादन व्यवस्था में एकाधिकारवाद और साथ ही उसमें बैंकों की भूमिका ने उसमें अपनी छलाँग लगा दी थी। हर बड़ी मछली अपने से छोटी मछलियों को खाकर जीवित रह सकती है- यह वैश्विक अर्थव्यवस्था की मूल सोच और ऐतिहासिक हक़ीकत बन गई थी।

उपनिवेशों की ललक और प्रतिस्पर्धा तथा कारखानों (ख़ासकर हथियार-उत्पादन के) के मुनाफ़ाख़ोर उन्माद ने भले ही शक्तिशाली देशों को युद्ध के लिए आमंत्रित किया लेकिन हार-जीत से आगे बढ़कर इसकी क़ीमत सभी को चुकानी पड़ी थी। जान-माल की असीमित नुकसान सभी देशों को हुआ। यूरोप की राजनीति में इसे निर्धारित करने में अब तक राज्य की भूमिका उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं थी, जितना कि संसद के भीतर प्रभावशाली संख्या में मौजूद कारखानेदारों व नई भूमिका में आए पुराने सामंतों की। मुनाफ़े के लिए लपलपाती जीभ ने सैन्य खर्च को क्रमशः बढ़ा

दिया था, हथियार उद्योग अधिकतम मुनाफ़ा देने वाला उद्यम हो चुका था। इस सारे संदर्भों ने मिलकर पूरे यूरोप के स्तर पर वैसी शासन-व्यवस्था को जन्म दिया जिसके पास जनता को देने के लिए बहुत कुछ था, साम्राज्यवादी नीतियों को न्यायसंगत दिखाने के लिए 'असभ्य', 'बर्बर', 'पिछड़ा' और 'कुव्यवस्था' के शिकार देशों को 'सभ्य' बनाने का तर्क, दूसरे देशों पर जीत दर्ज करके अपने 'राष्ट्रीय गौरव' बढ़ाने का अवसर, श्रेष्ठताबोध से संचालित 'राष्ट्रवाद' की घुट्टी, अपनी अस्मिता और दैनंदिनी जीवन से कई गुणा महान 'राष्ट्र' के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर कर देने की भावना, यहां तक कि अपनी जान भी! यह सब नये दौर में धनकुबेरों के मुनाफ़े को बढ़ाने के लिए किया जा रहा था। संपूर्ण मानव-सभ्यता को दाँव पर लगाकर!

विश्वयुद्ध के दौरान ही बड़े स्तर पर जनमानस के बीच युद्ध-विरोधी मानसिकता तैयार होने लगी। जिस बुर्जुआ उदारतावादी मूल्यों का सहारा लेकर मुनाफ़े के उन्माद को भड़काया गया था और उसे अंततः महायुद्ध में तब्दील कर दिया गया, उस उदारतावाद को लेकर भी एक नैराश्य भाव तेजी से बढ़ा। इसे दो स्तरों पर ज़बरदस्त चुनौती मिली- पहला, रूस में इसकी तिलांजलि देकर बोल्शेविकों के नेतृत्व में समाजवादी क्रांति का सूत्रपात हुआ और दूसरा, इटली, जर्मनी जैसे देशों में फ़ासीवाद के आगमन ने इसे लंबे समय तक स्थगित कर दिया। ये दोनों शासनपद्धतियां इस बिंदु पर समान थे, लेकिन वर्गीय हितों की दिशा और दशा के मामले में धुर विरोधी! बोल्शेविक क्रांति ने जहां मज़दूरों, किसानों और सैनिकों के सोवियतों के मार्फ़त उनके अधिकार, सम्मान और विकास को सत्ता का अभिप्राय बना दिया वही दूसरी ओर फ़ासीवाद में जनता के अधिकार का स्थगन हो गया तथा एक क्रूर, दमनात्मक और घृणा-भाव पर आधारित मूल्य, राजकीय मूल्य घोषित कर दिए गए।

इस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर विश्वयुद्धों के बीच के कालखंड में वैचारिकी के स्तर पर कुछ महत्त्वपूर्ण परिघटनाएं हमारे सामने मौजूद हैं- साम्राज्यवाद, राष्ट्रवाद, बोल्शेविक क्रांति, फ़ासीवाद इत्यादि।

3

साम्राज्यवाद को लेनिन ने पूंजीवाद की उच्चतम अवस्था कहा है। 20वीं शताब्दी में आकर इसका स्वरूप बदल चुका था। यह एक शासक अथवा राज्य द्वारा दूसरे पर आधिपत्य कर लेना भर नहीं था; बल्कि, बाज़ार और पूंजी निवेश के लिए वृहत् पैमाने पर उपजी प्रतिस्पर्धा में संचित पूंजी, एकाधिकारवाद तथा बैंकों की बढ़ी हुई भूमिका के साथ इसका आर्विभाव हुआ था। लेनिन ने उस दौर के पूंजीवाद की विशेषताओं को स्पष्ट करने के क्रम में इन तथ्यों को सामने लाया कि 1907 के आसपास जर्मनी में कुल उपक्रमों का 0.9 प्रतिशत बड़े उपक्रम थे, जिसमें कुल मज़दूरों का 39. 4 प्रतिशत मज़दूर काम करते थे। इन उपक्रमों में कुल उर्जा से 75.3 प्रतिशत भाप और 77.2 प्रतिशत बिजली का इस्तेमाल होता था। साथ ही, जर्मनी में 10 लाख मार्क से अधिक की पूंजी वाले बैंकों का कुल जमा रकम 1907 में 7 अरब मार्क से बढ़कर 1912 में 9 अरब 80 करोड़ मार्क हो गई। यह 5 सालों में 40 प्रतिशत की बढ़ोतरी थी और बड़े उपक्रमों में इनका प्रत्यक्ष निवेश था। कहने का मतलब यह कि 1914 तक आते-आते पुरानी पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में इन स्थितियों के योग ने सहसा इसे उन्मादी साम्राज्यवाद की स्थिति में ला खड़ा कर दिया। ब्रिटेन जिसकी अपनी आबादी 3 लाख वर्ग किमी की थी, 335 लाख वर्ग किमी तब विस्तृत हो चुकी थी। यह अबाध गति सहसा पहले महायुद्ध में प्रवेश कर गई।

साम्राज्यवादी उन्माद ने पहले विश्वयुद्ध को जन्म दिया। इसने मज़दूर आंदोलनों के सामने व्यवहार का एक गहरा संकट उत्पन्न कर दिया क्योंकि यह युद्ध राष्ट्रों के बीच था और पूंजी और बाज़ार की कोशिशों ने राष्ट्रवादी उन्माद में मज़दूरों को भी विभाजित करने की पुरज़ोर कोशिश की थी। अगस्त, 1915 में लेनिन ने मज़दूरों को संबोधित करते हुए लिखा कि -''यह युद्ध किस चीज़ के लिए लड़ा जा रहा है, जो मानवजाति को अभूतपूर्व विपत्ति और दु:ख ला रहा है? प्रत्येक युद्धरत देश की सरकार तथा बुर्जुआ वर्ग पुस्तकों और अखबारों पर करोड़ रूबल बर्बाद कर रहे हैं, ताकि दोष शत्रु के मत्थे मढ़ा जाए, शत्रु के प्रति जनता की प्रचंड घृणा भड़कायी जाए और अपने को ऐसे 'प्रतिरक्षक' पक्ष के रूप में पेश करने के लिए किसी भी झूठ से बाज न आया जाए, जिसपर अन्यायपूर्ण ढंग से आक्रमण किया गया हो। वास्तव में यह लूटेरी महान शक्तियों के दो गुटों के बीच युद्ध है जो उपनिवेशों के बंटवारे के लिए, अन्य राष्ट्रों को अपने अधीन बनाने के लिए तथा

विश्व मंडी के लाभों और विशेषाधिकारों के लिए लड़ा जा रहा है। यह सबसे प्रतिक्रियावादी युद्ध है, पूंजीवादी दासता को बनाए रखने और मजबूत बनाए रखने के लिए आधुनिक दास-स्वामियों का युद्ध है।''(लेनिन, अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर और कम्युनिस्ट आंदोलन, प्रगति प्रकाशन, मास्को (अनुवादन व संपादन- ददन उपाध्याय), 1984, पृ. 217)

साम्राज्यवाद के समानांतर इसके मुखर विरोध में मज़दूर-वर्ग के समाजवादी आंदोलनों का उभार काफी पहले से चला आ रहा था। प्रथम विश्वयुद्ध के आते-आते तक प्रतिरोध की यह ताक़त इतनी मज़बूत थी कि 1914 के पहले तक समाजवादी जनवादी पार्टियों की सिर्फ जर्मनी में 86 दैनिक अख़बार निकलते थे। लेकिन युद्ध के दौर में सामाजिक अंधराष्ट्रवाद की चुनौती में यह जनवादी क़िला जैसे भहराकर गिर पड़ा।

साम्राज्यवादी देशों ने अपनी जनता के बीच उग्र राष्ट्रवाद और श्रेष्ठतावाद का जमकर प्रचार किया। उन देशों की आम जनता के बीच इस तर्क को ले जाया गया कि यदि वे 'कमज़ोर' देशों को अपने अधीन नहीं करते हैं तो दुनिया में उसकी श्रेष्ठता स्थापित नहीं हो पाएगी, तथा कोई अन्य 'तुच्छ' देश को यह मौका मिल जाएगा। साथ ही यह भी उस 'गौरवशाली राष्ट्र' को 'अयोग्य', 'असभ्य' और 'बर्बर' राष्ट्रों का उद्धार करने की 'ऐतिहासिक ज़िम्मेदारी' निभाना है। इस प्रकार जनता को उग्र राष्ट्रवाद की घुट्टी पिलाकर उन्हें पूंजीपतियों के हितों के साथ खड़ा होने को तैयार किया जाता रहा। दूसरी ओर इसी राष्ट्रवाद ने औपनिवेशिक जनता को एकजुट करने का काम भी किया। राष्ट्रवाद की साम्राज्यवाद-विरोधी संभावनाओं और व्याख्याओं ने औपनिवेशिक देशों की 'गौरवशाली' इतिहास और परंपराओं को 'जीवंत' करने की कोशिश की तथा वर्तमान दुर्दशा का कारण उपनिवेशवाद को ठहराया। इस प्रकार प्रथम विश्वयुद्ध के तुरंत बाद से ही दुनिया भर में साम्राज्यवादी देशों के ख़िलाफ़ औपनिवेशिक जनता का लोकप्रिय प्रतिरोध भी शुरू हो गया।

साम्राज्यवाद, जिसे लेनिन ने पूंजीवाद की उच्चतम अवस्था कहा है; की परिघटना ने दुनिया के स्तर पर मज़दूरों के संकेंद्रण को ऐतिहासिक रूप से बढ़ा दिया। नई परिस्थितियों और इस बढ़ी हुई भूमिका के साथ विश्वयुद्ध के दौरान ही रूस में सर्वहारा क्रांति सफल हो गयी। समाजवादी स्वर लगातार साम्राज्यवाद का विरोध कर रहे थे, लेकिन इस क्रांति का घटित होना ही अपने दौर के साम्राज्यवाद-विरोध का सबसे मजबूत स्वर था। बोल्शेविक क्रांति के तुरंत बाद रूस ने स्वयं को

साम्राज्यवादियों की बर्बर प्रतिस्पर्धा से उपजे युद्ध से बाहर कर लिया। बाद में जब हिटलर के रूप में नाज़ीवाद का आगमन हुआ और जर्मनी की विशेष परिस्थितियों में पूंजीपतियों के समर्थन से हिटलर ने दुस्साहसपूर्ण पूरी दुनिया को एक और महायुद्ध में ढकेल देने की नीति अपनाई तब भी उसे 'नाथने' का काम सोवियत रूस ने ही किया।

भारत में साम्राज्यवाद के मुखर विरोध की पहली बड़ी धमक 1857 में हुआ। यह एक महान जनांदोलन था जो हालांकि विफल हो गया, पर साम्राज्यवाद-विरोधी चेतना को इसने देश के भीतर तक जीवंत कर दिया। यहां के राष्ट्रीय आंदोलनों का नेतृत्त्व जिस वर्ग ने किया औपनिवेशिक सरकार के प्रति उनका रूख़ प्रारंभ से ही 'सहयोग' और 'समन्वय' का रहा। ये प्रायः सुधारवाद तक सीमित थे और क्रमशः औपनिवेशिक आर्थिक नीतियों की आलोचना तक पहुंचे। लेकिन भारतीय जनता का औपनिवेशिक शासन-व्यवस्था के साथ अंतर्विरोध इतना मुखर होता गया कि कोई भी वर्ग उन्हें प्रकट किए बिना जनता का प्रतिनिधि नहीं हो सकता था। 1920 के आसपास महात्मा गांधी ने इसे प्रकट किया और वे राष्ट्रीय आंदोलन और भारतीय जनता के स्वाभाविक स्वर बन गए। लेकिन, इस नेतृत्त्व की सीमाएं थीं। ये राष्ट्रीय आंदोलनों को किसी भी हालत में वर्गीय-संघर्ष में बदल देने को तैयार नहीं थे। दरअसल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अपने तमाम दावों के बावजूद भी उन वर्गों का नेतृत्त्व करती थी जो स्थानीय स्तर पर भारत के मेहनतकशों का शोषक था; जैसे, ज़मींदार, महाजन, देशी पूंजीपति, वर्णाश्रम-धर्म के समर्थक वर्ग आदि। दूसरी ओर राष्ट्रीय आंदोलनों के समर्थकों का एक बड़ा तबका रूसी क्रांति का तीव्र समर्थक भी था इस प्रकार साम्यवाद, गांधीवाद, राष्ट्रवाद, सांप्रदायिक हिन्दूवाद- सारी विचारधारा प्रमुखता से अपने पूरे प्रभाव के साथ यहां मौजूद थे। आंदोलन और उसके नेतृत्त्व की दिशाबोध की अस्पष्टता, गड्डमड्ड विचारधारा और दिशाहीन रणनीति ने पूरे राष्ट्रीय आंदोलन को वर्गीय आधार पर कमज़ोर किया। हिन्दी के कई लेखक एक साथ गांधीवाद से भी प्रभावित थे और दूसरी ओर साम्यवाद से भी। प्रेमचंद, गणेशशंकर विद्यार्थी आदि इसके बड़े उदाहरण थे।

अपने ऐतिहासिक संदर्भों के चलते औपनिवेशिक भारत में साम्राज्यवाद-विरोधी संकल्पना अपनी व्यापकता में उसके 'टूल्स' के भी ख़िलाफ़ था। देशी रजवाड़े, ज़मींदार, नवाब, देशी पूंजीपति- ये वह वर्ग था जिसके 'सहयोग' और 'समन्वय' की आधारभूमि पर भारत की

औपनिवेशिक शासन-व्यवस्था टिकी हुई थी। अपनी वर्गीय स्थितियों के कारण स्वाधीनता आंदोलन के नेतृत्त्वकारी वर्ग ने देश की जनता की 'स्वाधीनता की आकांक्षाओं' को इसके विरोध में नहीं खड़ा होने देना चाहा। हालांकि कांग्रेस की आलोचना करते हुए उसके सदस्यों और समर्थकों की एक कतार इन सीमाओं को लांघती रही। हिन्दी के वैचारिक लेखन में भी यह साफ़-साफ़ दिखता है।

साम्राज्यवाद एक वैश्विक परिघटना थी, इसके ख़िलाफ़ कोई भी संघर्ष वैश्विक संदर्भों को देखते हुए होगा। महायुद्ध से हर तरफ़ बर्बादी का मंज़र विस्तृत हो जाने के बावजूद भी शक्तिशाली देश बाज नहीं आए। सैन्य-विस्तार और हथियारबंदी - इसका चलन प्रथम विश्वयुद्ध के बाद और भी बढ़ गया; जबकि सभी देश 'शांति-स्थापना' और नि:शस्त्रीकरण की बात कर रहे थे। इस दोहरेपन पर हिन्दी में प्रेमचंद ने मुखर होकर लिखा। दुनिया भर के साम्राज्यवादी देश जब एक तरफ़ दूसरे देशों के ख़िलाफ़ युद्ध छेड़ रखा था, जबकि दूसरी ओर उसकी अपनी जनता की हालत दयनीय थी। प्रेमचंद ने अपने लेखन में इस आडंबर पर प्रहार किया और इस बात को सामने लाया कि दरअसल साम्राज्यवाद अपने उपनिवेशों का ही शोषण नहीं करता है, बल्कि अपने देश की जनता के हितों की भी उपेक्षा करता है। प्रथम विश्वयुद्ध में ब्रिटेन ने युद्ध पर जो असंख्य जन और धन की बर्बादी की। मार्च, 1915 में 'सरस्वती' में प्रकाशित अपने एक लेख 'लड़ने वाली फ़ौज का खर्च' में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने युद्ध में हथियारों व अन्य खर्चों को छोड़कर सिर्फ सैनिकों के रहने, ईलाज करवाने, वर्दी, भोजन व यातायात के खर्च का एक मोटा-मोटी आकलन किया। उन्होंने 'संपत्तिशास्त्र' लिखा और औपनिवेशिक भारत में आर्थिक अराजकता तथा लूट का विस्तृत वर्णन किया। 1879 में 'सारसुधानिधि' में मदनमोहन भट्ट, सदानंद मिश्र और सरयूप्रसाद मिश्र ने क्रमश: 'अर्थशास्त्र', 'वाणिज्य' और 'धन' शीर्षक से धारावाहिक लेख लिखा। 1904 में बांग्ला में सखाराम गणेश देउस्कर ने 'देशेर कथा' लिखी। 1910 में बाबूराव विष्णु पराड़कर द्वारा अनुवाद होने के बाद इस पुस्तक ने धूम मचा दी। राधामोहन गोकुल का संपूर्ण लेखन वैचारिक स्तर पर सशक्त रूप से साम्राज्यवाद का विरोध करता है। इन्होंने मुखरता के साथ भारत में ब्रिटिश राज के समर्थक वर्गों की भी तीखी आलोचना की और रूस के तर्ज पर भारत में भी ग़रीबों-मज़दूरों की सरकार हो जाने को ही उसका विकल्प कहा।

हिन्दी में साम्राज्यवाद पर हुआ तत्कालीन विमर्श एक औपनिवेशिक शासन-व्यवस्था के भीतर हो रहा था। यह अपने समय के राष्ट्रीय आंदोलनों के साथ संवाद करता आगे बढ़ रहा था। राष्ट्रीय आंदोलन की तरह इसके भीतर भी एक साथ कई वैचारिक आग्रह सक्रिय थे। लेकिन इसकी विशेषता यह ज़रूर रही कि इसने अपने दौर के राजनीतिक गतिविधियों को रास्ता दिखाने का काम किया। अगर इसने साम्राज्यवाद संबंधी गांधी की विचारधारा और नीतियों का समर्थन किया तो भगत सिंह, अंबेडकर, मार्क्स और लेनिन का भी उनपर बड़ा असर रहा।

4

पहले विश्वयुद्ध ने लोगों के सामने इस बात को स्पष्ट कर दिया कि जिस उदारतावादी राजनीतिक मूल्यों पर अबतक गर्व किया जा रहा था, वह दुनिया के अधिसंख्यक आबादी के लिए एक साज़िश से बढ़कर कुछ नहीं था। इन्हीं मूल्यों पर सवार होकर साम्राज्यवाद ने दुनिया में तबाही मचा दी थी। जनता के बीच पुरानी व्यवस्था ने अपनी 'सहमति' खो दी थी और एक नई वैकल्पिक व्यवस्था की पूर्वपीठिका जैसे इतिहास ने स्वयं ही तैयार कर दी थी। 1905 में रूस में एक बुर्जुआ क्रांति ने ज़ारशाही को तात्कालिक चुनौती दी थी। 1915 के आते-आते रूस में सामान्य जन-जीवन तक पसर चुकी समस्याओं का कोई भी निदान वहां के तत्कालीन ज़ार के पास नहीं बच पाया था। दरअसल, 1870 से लेकर 1917 तक के रूस की स्थिति को अगर देखा जाए तो मार्च, 1917 के आते-आते तक रूस के लिए क्रांति से कम आश्चर्यजनक और अनापेक्षित कुछ और नहीं बचा था। आने वाला प्रत्येक दिन रूसी इतिहास के लिए महत्त्वपूर्ण होने जा रहा था जिसके प्रभाव में पूरे विश्व को आ जाना था।

ज़ारशाही के तख़्तापलट और क्रांति की प्रक्रियाओं के दौरान बोल्शेविक पार्टी ने अपना एक सुनिश्चित कार्यक्रम घोषित किया जिनके मुख्य आधार थे-

- युद्ध का तत्काल अंत और जर्मनी से संधि।

– सामंतों की भूमि पर बिना मुआवज़ा दिए और बिना कानून की बारीकियों पर ध्यान दिए तुरंत अधिकार।

– कारखानों पर मज़दूरों का अधिकार तथा प्रबन्ध।

– सम्पूर्ण उत्पादन और वितरण पर राष्ट्र का नियंत्रण।

– हर स्तर पर मज़दूरों, किसानों और सैनिकों की सोवियत के हाथों में शासन और वर्तमान सरकारी तंत्र का अंत।

– संपतिधारी वर्ग के राजनीतिक अधिकारों का अंत।

यह घोषणा युद्धकाल में मेहनतकश जनता के पक्ष में बदलते राजनीतिक शक्ति–समीकरण का महानतम उदाहरण पेश करने जा रही थी। इसने रूस की जनता में 'सेना में शांति', 'किसानों को ज़मीन' और 'मज़दूरों को कारखाने' की उद्घोषणा की। यह घोषणा ही अपने आप में उस दौर के वैश्विक राजनीतिक अर्थव्यवस्था के मूल चरित्र के लिए चुनौती थी। यह बोल्शेविक पार्टी की युद्ध–विरोधी, साम्राज्यवाद–विरोधी, सामंत–विरोधी और समग्रता में पूंजीवाद–विरोधी एजेंडे की क्रांतिकारी प्रतिबद्धता थी। किसानों को भूमि चाहिए थी, मज़दूरों को रोज़गार और कारखाने पर मालिकाना हक़।

क्रांति के बाद सोवियत रूस ने नीतियों के स्तर पर पूंजीवाद को खुली चुनौती दे दी। सोवियत शासन के विरोध में दुनिया भर के शक्तिशाली देशों का 'महागठबंधन' बन गया। क्रांति को विफ़ल करने और सोवियत सरकार को घेर लेने, अलग–थलग कर देने की व्यापक कोशिशों का दौर शुरू हुआ। लेकिन इस बीच सोवियत रूस ने औद्योगिकी, तक़्नीक, कृषि व अन्य क्षेत्रों में बेतहाशा उन्नति की। रूस जैसा एक खेतिहर देश जल्दी से दुनिया का दूसरा सबसे बड़ा औद्योगिक देश बन गया। अन्य यूरोपिय देशों की तरह कारखानें और उत्पादन–प्रक्रिया यहां शोषण के औजार नहीं थे। सोवियत रूस के कारखानें सामूहिक संपदा के रूप में रूसी इन्सानों की मुक्ति के लिए पुरानी जंजीरों को तोड़ देने का हथियार बन चुके थे। एक नए विकल्प ने 'नए इंसानों' को ढालना शुरू किया।

बोल्शेविक क्रांति के बाद रूस को उस दौर के सबसे बड़े संकट फ़ासीवाद से भी भिड़ना पड़ा। जर्मनी में हिटलर के रूप में जब उग्र राष्ट्रवाद, साम्यवाद-विरोधी, यहूदी-विरोधी और मिथकों के सहारे घृणा पर सवार फ़ासीवाद ने साम्राज्यवाद के रथ से पूरी दुनिया को रौंद देना चाहा, तब भी सोवियत शासन ने ही उसे रोका। जबकि हिटलर के ख़िलाफ़ 'साझा मोर्चा' बनाने की सोवियत शासन की कोशिशों और आह्वान को पूंजीवादी देशों द्वारा यह सोचकर 'नज़रअंदाज़' किया जाता रहा कि हिटलर भले ही तबाही का सूचक है लेकिन वह कट्टर साम्यवाद-विरोधी भी है। अतः दूसरे विश्वयुद्ध के शुरू हो जाने तक इंग्लैण्ड, फ्रांस आदि की सरकारों ने हिटलर को सोवियत रूस का दुश्मन माना, और 'दुश्मन का दुश्मन' उनके लिए दोस्त था।

जब रूस में एक बड़ी क्रांति करवट ले रही थी, भारत में राजनीति के केन्द्र में औपनिवेशिक दासता के विरूद्ध अस्पष्ट विचारधारा और ढुलमुल कार्यनीतियों के साथ स्वर मज़बूत हो रहे थे। 1857 से पूर्व और इसके बाद भी अनेक स्तर पर यहां साम्राज्यवाद-विरोधी स्वर उठते रहे थे। 20वीं सदी के दूसरे दशक में ऐसे संघर्ष और भी हुए विशेषकर मज़दूरों और किसानों ने बड़े पैमाने पर आंदोलन चलाये। सोवियत क्रांति ने एक बड़े मध्यवर्गीय बौद्धिक तबके को आकर्षित किया। हालांकि यहां के स्वाधीनता आंदोलन की 'मुख्यधारा' का स्वर अपनी वर्गीय सीमाओं के कारण अब भी अंग्रेजों के ख़िलाफ़ 'सहयोगपूर्ण संघर्ष' का ही था। हिन्दी के पत्र-पत्रिकाओं में तब इसे लेकर उत्साहपूर्वक अनकों लेख लिखे गए, स्वतंत्र पुस्तकें लिखी गई। दरअसल, दूसरे विश्वयुद्ध के ख़त्म होने न होने तक दुनिया भर में वर्गीय स्तर पर शक्ति-समीकरण बदला। उपनिवेशों औरं साम्राज्यवादी देशों के बीच का संतुलन भी उतना एकतरफ़ा नहीं रह गया था। भारत में बोल्शेविक क्रांति के समर्थन में उत्साहजनक लेखन व टिप्पणियों का चलन बढ़ने लगा। हालांकि सोवियत प्रभाव से भारत को मुक्त रखने के लिए ब्रिटिश सरकार भी जी-तोड़ कोशिश में लगी थी। सोवियत रूस से जुड़ी घटनाओं को 'सेंसरशिप' लगाकर रोका जाने लगा तथा घटनाओं को तोड़-मरोड़ कर लोगों के सामने रखा जा रहा था। भारतीय जनता पर इस क्रांति के प्रभावों का आकलन लेने और उसके कार्यक्रमों और 'षड्यंत्रों' को रोकने के उपाय सुझाने के लिए 'शैलेट कमीशन' का गठन करना पड़ा। समाचार पत्रों पर नियंत्रण लगाने के लिए कई कानून बनाये गए। अफ़सरों की उच्चस्तरीय कमिटियां बनाकर भारत में बोल्शेविज्म के प्रचार-प्रसार में रूस की कोई भी सहायता रोकने का कार्यक्रम लिया गया। सोवियत रूस को 'धर्म-विरोधी', 'नैतिकता-विरोधी', 'महिला-विरोधी',

'सभ्यता और संस्कृति विरोधी' साबित करने का बक़ायदा अभियान लिया था औपनिवेशिक सरकार ने। इन सबके बावजूद भी 'अमृत बाज़र', 'न्यू इंडिया', 'बॉम्बे क्रानिकल' जैसे समाचारपत्रों और 'मर्यादा', 'अभ्युदय', 'प्रताप', 'प्रभा' जैसी अनेक हिन्दी पत्रिकाओं ने बोल्शेविक क्रांति से संबंधित ख़बरों और उसके सिद्धांतों का खूब प्रचार-प्रसार किया। भारतीय स्वाधीनता आंदोलन को वर्ग-संघर्ष से युक्त कर भारत में भी उसी 'पैटर्न' का विकल्प चाहने वाले बुद्धिजीवियों में हिन्दी के कई रचनाकारों को देखा जा सकता है। प्रेमचंद, गणेशशंकर विद्यार्थी, राधामोहन गोकुल, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि इसके उदाहरण है।

रमाशंकर अवस्थी बोल्शेविज़्म के कट्टर समर्थक थे। उन्होंने हिन्दी पाठकों के सामने रूस में बोल्शेविक क्रांति के इतिहास को सामने रखा। वे स्वयं कानपुर में समाजवादी दल के सक्रिय सदस्य भी थे। अपने लेखों में रूस के किसानों, मज़दूरों, स्त्रियों की लगातार सुधरती स्थितियों को सामने रखकर भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के सामने लक्ष्य के रूप में समाजवाद को सामने रखते हैं। पूंजीवाद-समर्थक देशों द्वारा सोवियत शासन पर योजनाबद्ध 'हमलों के पीछे की मंशा' का पर्दाफ़ाश उस दौर के अनेक हिन्दी लेखकों ने किया।

हिन्दी में सोवियत क्रांति के समर्थन में हुए लेखन को भारत के स्वाधीनता आंदोलन की आलोचना से भी जोड़कर देखा जाना चाहिए। यह लेखन इस बात के पक्ष में खड़ा है कि साम्राज्यवाद का विरोध कर एक 'राष्ट्र' के रूप में भारतीय जनमानस तभी सुखी और सम्पन्न रह पाएंगे जब स्वाधीनता आंदोलन का लक्ष्य समाजवाद तक का होगा। अपने लेखन में वे राष्ट्रवादी नेताओं की उन वर्गीय सीमाओं की भी आलोचना करते रहे जो भारत को अंग्रेजों से मुक्त करने की बात तो करते थे, लेकिन ग़रीबों-वंचितों, मज़दूरों, किसानों की मुक्ति के सवाल पर चुप्पी साध रखे थे।

5

राष्ट्रवाद एक आधुनिक और राजनीतिक निर्मिति है। औद्योगिक क्रांति के उपरांत बाज़ार, उत्पादन और मुनाफ़े की मांग ने उन आधारों को तैयार किया जिसपर आगे चलकर राष्ट्रवाद की

परिकल्पना को मूर्त होना था। यह 19 वीं सदी के अंत में इटली और फ्रांस के उन अतिवादियों की वैचारिकी थी जिन्होंने विदेशियों के विरोध में झण्डा बुलंद कर रखा था। ये समाजवादियों के विरोधी थे तथा उग्रता से अपने राज्य के विस्तार के पक्षधर। बाज़ार और उत्पादन की ज़रूरतों ने नगरीकरण की प्रक्रिया को ऐतिहासिक रूप से बढ़ा दिया और फिर साझी भाषा, साझे अतीत और साझी संस्कृति की खोज शुरू हुई। इस तरह राष्ट्रवाद के भीतर राष्ट्रभक्ति अथवा देशभक्तिपूर्ण राष्ट्रवाद का उदय होने लगा जो एक मज़दूर को सिर्फ़ अपने लिए नहीं बल्कि 'अपने से बहुत ऊँचे राष्ट्र की उन्नति के लिए' ज़्यादा श्रम करने को तैयार करता है। बेनेडिक्ट एण्डरसन ने राष्ट्र को 'एक कल्पित राजनीतिक समुदाय' के रूप में देखा है। 'राष्ट्र' के सदस्य एक-दूसरे को जाने बग़ैर एक काल्पनिक एकसूत्रता से बंध जाते हैं तथा उस समुदाय में प्रबल वास्तविक असमानता और शोषण के बावजूद भी राष्ट्र हमेशा एक गहरे और व्यापक भाईचारे के रूप में देखा जाता है। लाखों लोग इस 'काल्पनिक एकसूत्रता' के लिए न सिर्फ़ लोगों की हत्या कर देते हैं, बल्कि स्वयं भी खुशी-खुशी जान गंवा देते हैं।

इस 'इस कल्पित समुदाय' को मज़दूरों के शोषण का एक हथियार समझकर ही 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र' में कहा गया है कि 'श्रमिक जनता का कोई राष्ट्र नहीं होता'। स्टालिन ने एक महत्वपूर्ण लेख लिखा-'मार्क्सवाद और राष्ट्रीयताओं का सवाल'। इसमें उन्होंने राष्ट्र को किसी नस्लीय अथवा आदिम जातीय परिघटना न मानकर एक ऐतिहासिक प्रक्रिया की निर्मिति कहा, जिसमें निश्चित और गतिशील सामुदायिकता, सम्मिलित भाषा, निश्चित क्षेत्र, आर्थिक संबद्धता और एक सम्मिलित चरित्र- पांच प्रमुख कारक होते हैं।

राष्ट्र को एक अविछिन्न ऐतिहासिक परंपरा और शाश्वत सांस्कृतिक इकाई के रूप में देखने के कारण 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' अतीत और उत्पत्ति के सवाल को प्रमुखता देता है। इतिहास और मिथकों में घालमेल तथा अस्मिता के प्रति पुनरुत्थानवादी संकल्पना से यह एक उग्र 'घटाटोप' का निर्माण करता है। एक समुदाय-विशेष को 'अन्य' बनाया-बनाया जाता है। शुद्ध जर्मन नस्ल की दुहाई देकर इतिहास में राष्ट्रवाद की इस व्याख्या ने घृणा और वीभत्सता का कुत्सित तांडव रचा है। राष्ट्रवाद के भीतर एक उन्मादी 'देशभक्तिपूर्ण', युद्धोन्मादी हिंसा के माहौल की सामूहिक निर्मिति की संभावना होती है। वह विशेष परिस्थितियों से मिलकर जर्मनी और हिटलर में फ़ासीवाद का रूप ले

सकती है, अमेरिका व अन्य कई देशों में अश्वेतों के ख़िलाफ़ 'कू-क्लक्स-क्लान' हो सकता है, भारत जैसे देश में 'बहुसंख्यकवाद' भी हो सकता है।

भारत में राष्ट्रवाद संबधी अपने विचार को रखते हुए शेखर बंदोपाध्याय ने कहा है कि '19वीं सदी में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का सामना जिस भारतीय राष्ट्रवाद ने किया और जिसने 1947 में भारतीय राष्ट्र-राज्य के जन्म के रूप में अपनी जीत का जश्न मनाया, वह औपनिवेशिक आधुनिकता की उपज थी।' (पलासी से विभाजन तक: आधुनिक भारत का इतिहास, ओरिएंट ब्लैकस्वॉन, 2011, पृ. 201) दरअसल भारत में राष्ट्रवाद का उदय एक औपनिवेशिक व्यवस्था में और उसी से जुझते हुए हुआ। सामान्यतया आधुनिक अर्थों में जिसे हम भारत-एक राष्ट्र कहते हैं उसका अस्तित्त्व ब्रिटिश राज से पहले नहीं था। औपनिवेशिक शासन-व्यवस्था ने यहां शिक्षित उच्च-मध्य वर्ग की एक जमात तैयार की जो शुरूआत में तो उनकी नीतियों का समर्थक था लेकिन धीरे-धीरे यह आलोचनात्मक भी हुआ। यह वर्ग सहज ही भारतीय जनता का प्रतिनिधि बना दिया गया। सुधारवाद के 'टोटल एप्रोच' लिए औपनिवेशिक सरकार के साथ सहयोग, समन्वय और संघर्ष की द्वंद्वात्मकता में विकसित होता यही वर्ग भारत में राष्ट्रवाद का अलंबरदार बना। इसी ने भारत के राष्ट्रीय आंदोलनों का नेतृत्त्व किया।

इस प्रकार विभिन्न देशों में राष्ट्रवाद की संकल्पना अलग-अलग तरीकों से उपजी। फ्रांस में इसकी अभिव्यक्ति हिंसक जन-भागीदारी से हुई तो इंग्लैण्ड में अपेक्षाकृत शांतिपूर्वक और संसदीय ढंग से। सोवियत रूस में यह समावेशी अवधारणा थी तो हिटलर ने जर्मनी में इसे नस्लवाद का अभिप्राय बना दिया। भारत में राष्ट्रवाद एक तरफ साम्राज्यवाद विरोधी स्वरों को एकजुट करने वाला था तो दूसरी ओर इसकी आड़ में अन्य सामाजिक व राजनीतिक सवालों को दबाया भी जा रहा था। इस राष्ट्रवाद ने एक तरफ देश में हिन्दू-मुसलमानों की एकता को सुदृढ़ किया तो दूसरी ओर इसे 'सनातन धर्म' और 'हिन्दू संस्कृति' से जोड़कर सांप्रदायिक उन्माद भी खड़ा कि गया।

गणेशशंकर विद्यार्थी ने राष्ट्रवाद को धार्मिक व सामाजिक सिद्धांतों के बंधन से मुक्त कहा तथा इस बात पर बल दिया कि भारत को एक राष्ट्र के रूप में खड़ा करने के लिए उसे औपनिवेशिक पराधीनता से मुक्त होना अनिवार्य है। उस दौर के अधिकांश लेखकों ने राष्ट्रवाद को इसी संदर्भ में देखा है। वे इसे एक ओर उपनिवेशवाद के ख़िलाफ़ भारतीय जनमानस की व्यापक

एकता स्थापित करने वाला उच्चतर भावबोध मानते हैं, दूसरी ओर वे इसके केन्द्र में भारत की अधिसंख्यक जनता को रखते हैं। यह दृष्टि व्यापक सामूहिक हितों के लिए, भारत की स्वाधीनता के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर कर देने को प्रेरित करने वाली है।

राधामोहन गोकुल, जैनेन्द्र, प्रेमचंद आदि ने राष्ट्रवाद उस दौर की संपूर्णता में देखने की कोशिश की और 'दावों' से आगे बढ़कर उसके भौतिक परिणामों को अपना आधार बनाया। राधामोहन गोकुल अंतर्राष्ट्रीय स्तर की अनेक घटनाओं के उदाहरण से सवाल उठाते हैं कि एक ही राष्ट्र के भीतर दो जातीय समूहों के अलग-अलग अधिकार क्यों हैं! अगर राष्ट्र सबका है तो उन्हें बराबरी का अधिकार क्यों नहीं दिया जाता! शासन-व्यवस्था उनके बीच कभी एकता क्यों नहीं होने देती। यही नहीं दूसरे राष्ट्र में भी कमज़ोर वर्ग का ही शोषण क्यों होता है? राष्ट्रवाद पर विचार करने के दौरान ये बेहद ज़रूरी और बुनियादी सवाल हैं। वे लिखते हैं- ''क्या भारतवासी, सत्ताधारी भारतवासी को इसलिए प्यार करेगा कि वह उसे हिन्दुस्तानी में गाली देता है और हिन्दुस्तानी जूते से मारता है और अंग्रेजों से इसलिए घृणा करेगा कि वह अंग्रेजी में डेमफूल, सन ऑफ विच कहता है और डासन के बूटों की ठोकर लगाता है?... जातीयता और राष्ट्रीयता का भ्रममूलक अभिमान और मूर्खता छोड़कर संपन्नों के अनुचित आचरणों के साथ संसार के श्रमजीवी मिलकर झगड़े के लिए तैयार हो जाएं।'' (राधामोहन गोकुल समग्र (भाग-2), सं. कर्मेन्दु शिशिर, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., 2009, पृ 413-14) इसी प्रकार राष्ट्रवाद को अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के संदर्भ में देखते हुए प्रेमचंद ने उसे 'वर्तमान युग का कोढ़' कहा है, जो लोगों के अधिकार का स्थगन कर पूंजीपतियों के हितों को साधने के लिए साम्राज्यवाद को बढ़ावा देता है। उनके अनुसार ''वर्तमान राष्ट्र योरोप की ईजाद है और राष्ट्रवाद वर्तमान युग का शाप। पृथ्वी को भिन्न-भिन्न राष्ट्रों में विभक्त करके उनमें कुछ ऐसी प्रतियोगिता, ऐसी प्रतिस्पर्धा भर दी गई है, कि आज प्रत्येक राष्ट्र की यही कामना है कि संसार की सारी विभूतियों पर उसी का अधिकार रहे, वही संसार में फलने-फूलने के योग्य है और किसी राष्ट्र को जीवित रहने का अधिकार नहीं है।''(प्रेमचंद के विचार, प्रेमचंद (भाग-1) ; प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2008, पृ.91-92) दरअसल, व्यापक व सामूहिक एकता, न्याय और प्रगति पर आधारित और घृणा व उन्माद से मुक्त राष्ट्रवाद ही

मुकम्मल तौर पर साम्राज्यवाद से संघर्ष कर किसी देश को सामाजिक और राजनीतिक आज़ादी के रास्ते पर ला सकती है। और यही आकर वह अन्तर्राष्ट्रीयतावाद को प्राप्त कर लेती है।

हिन्दी में कुछेक साहित्यकारों को यदि छोड़ दिया जाए तो शेष ने राष्ट्र को एक राजनीतिक नहीं बल्कि सांस्कृतिक संकल्पना के रूप में देखा है, एक भावुकतापूर्ण अभिलाषा के रूप में देखा है; जिसके उदय के साथ लोगों में उच्च मानवीय गुणों का आगमन हो जाएगा और लोगों व पूरे देश का कष्ट इससे दूर हो जाएगा। लेकिन वस्तुस्थिति इससे इतर थी। दुनिया भर में राष्ट्रवाद के उदय ने एक ऐसे उन्माद को बढ़ाया जहां देश-हित का अभिप्राय वहां के कारखानेदारों का बढ़ता मुनाफ़ा था और जिसकी किसी भी रूपरेखा में वहां की आबादी के बहुसंख्यकों को अनदेखा किया जा रहा था।

6

पहले विश्वयुद्ध के बाद इटली और जर्मनी में स्थितियां इस तरह से तैयार हुईं कि निरंकुश शासन-व्यवस्था के ख़िलाफ़ नागरिक अधिकारों तथा उदार व लोकतांत्रिक संसदीय प्रणाली, जिसे पिछले कई दशकों से लोकप्रियता हासिल हो गई थी; अचानक से भहराकर गिरने लगी। राष्ट्रवाद के प्रजातीय संस्करण, वर्ग-संघर्ष विरोधी समाजवाद और प्रभुवर्गीय सर्वसत्तावाद के गठजोड़ की पैरोकारी करने वाली विचारधारा ने एक सामाजिक और राजनीतिक आंदोलन का शक्ल ले लिया। 1933 में एडोल्फ हिटलर ने जर्मनी के चांसलर की गद्दी संभाली। इस प्रकार दुनिया के राजनीतिक-सामाजिक स्थितियों में फासीवाद एक विकराल चुनौती बन कर उभरी।

फ़ासीवाद एक ठोस वास्तविकता है। यह वर्गशोषण पर आधारित समाजव्यवस्था की सबसे पूर्ण, घटिया और संगठित अभिव्यक्ति है। अपने उठान के दिनों में जिस पूंजीवाद की ज़रूरतों ने दुनिया के कई देशों में औपचारिक और वर्गभेद पर ही सही लेकिन लोकतंत्र को स्थापित किया था; लेकिन जब वही पूंजीवाद ऐसे संकट में पड़ता है जहां उसकी सारी संभावनाएं समाप्त हो जाती हैं, उससे उत्पन्न सामाजिक और राजनीतिक मूल्यों का जब व्यापक अवमूल्यन होने लगता है और यह स्वयं को बढ़ाने और विस्तृत करने में यहां तक टिकाए रखने में भी अक्षम हो जाता है; तब यह

अपने औपचारिक लोकतंत्र का लबादा भी उतार फेंकता है। इसी औपचारिक लोकतंत्र ने अब तब वर्ग-संघर्ष के 'ख़तरों' से उसे बचाया था और ज़रूरत पड़ने पर राज्य इसी का स्थगन कर उन 'ख़तरों' से बचना चाहता है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद इन 'ख़तरों' की संभावनाएं बढ़ चली थी, विशेषकर बोल्शेविक क्रांति के हो जाने पर इसने विकराल रूप धारण कर लिया था। पूंजीघरानों को मिल रहे अथाह मुनाफ़े के रहस्य में मज़दूरों की एकजुटता और उनके दलों का सेंध लग चुका था।

फ़ासीवाद शुरूआत में स्वयं को लोकप्रिय और जनता के दु:ख के साथ स्वयं को जोड़ने के लिए भले ही पूंजीवाद-विरोधी प्रचार और भाषणबाजी कर ले, लेकिन यह उनके लिए 'जुमला' से अधिक और कुछ नहीं है। वह अपनी पूरी ताक़त के साथ मज़दूरों और उनकी मांगों को कुचल कर पूंजी को अधिक मुनाफ़ा पहुंचाने के रास्ते पर ही चलता है। यही कारण है कि हर देश में बुर्जुआ तानाशाही ने स्वयं फ़ासीवाद को सत्ता सौंपी। उदाहरण के लिए इटली में वहां के महाराजा ने फासीवादियों को सत्ता सौंपी। उसने देश में सैनिक शासन लगाने के आदेश पर दस्तख़त करने से इनकार कर मुसोलिनी को बुलाकर सत्ता उसे दे दी। जर्मनी में वहां के राष्ट्रपति ने फासीवादियों को सत्ता तब सौंपी जब उसका अपना आधार समाप्त होने लगा था। उस समय हुए चुनावों से भी यह बात ज़ाहिर हुई। हिटलर अल्पमत में था, उसे 33% वोट मिले थे। दूसरे दलों को कहीं अधिक मत मिले थे। हिटलर के चुनाव-प्रचार के लिए 1933 में एक मीटिंग हुई। देश के बड़े पूंजीपतियों ने 30 लाख मार्क जमा किए, इनमें 'फक्लेयर' और 'पॉश' कंपनियां शामिल थीं। होना तो यह चाहिए था कि इस सरकार को अपने अंतर्विरोधों से टूटकर स्वयं गिर जाना था। लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ। 'संविधान और जनवाद की कसमें खाकर सत्ता में आई इस मिलीजुली सरकार ने जर्मनी को जनवाद और संविधान दोनों से पाक़ कर दिया।' कई छोटे-छोटे दलों ने हिटलर के साथ मिलकर सरकार बनाई थी। लेकिन कोई बचा नहीं, एक-एक कर उनका नामों-निशान तक मिटा दिया गया। जनवरी 1933 में हिटलर को सत्ता मिल गई, 27 फ़रवरी को राइख़रास्ट में आग लगा दी गई, कम्युनिस्टों और वामपंथियों पर झूठे इलजाम लगाए गए; दोनों पर हमले हुए। फिर कलाकारों, वैज्ञानिकों, यहूदियों पर हमले बढ़े। भूखमरी, बेरोज़गारी और बेईमानी ख़त्म करने के वायदे से बनी यह सरकार ने आते ही सबसे पहले आर्य ख़ून की दुहाई दी।

हिटलर का उग्र 'राष्ट्रवाद' आगे बढ़कर साम्राज्यवाद का सिंहनाद करता है। जर्मनी का सर्वेसर्वा बनने के तुरंत बाद हिटलर ने अपनी पूरी सेना और ताक़त के साथ अन्य देशों पर हमला करना शुरू कर दिया। इस युद्धोन्माद ने शीघ्र ही दूसरे विश्वयुद्ध की भूमिका ले ली। चूंकि उभरते साम्यवादी आंदोलन की संभावना को फ़ासीवाद ही ख़तम कर सकता था, अत: शक्तिशाली देशों ने उसके प्रति 'तुष्टिकरण की नीति' अपना ली थी। फ़ासीवादी जर्मनी के विरोध में रूस को व्यापक 'संयुक्त मोर्चा' के निर्माण में सफलता दूसरे विश्वयुद्ध के शुरू होने से पहले नहीं मिल सकी। दूसरे महायुद्ध में महज़ ख़ेमे के आधार पर नहीं, बल्कि वैचारिक और गहरे वर्ग-पक्षधरता के लिहाज़ से भी 'सोवियत शासन' और 'हिटलर की जर्मनी' को आमने-सामने आना ही था। सोवियतों की कूटनीतिक सफलता ने साम्राज्यवाद के नशे में धुत जर्मनी के विजय रथ को जैसे रोक दिया। हिटलर ने पलट कर (स्वयं हिटलर के अनुसार भी) इतिहास का सबसे बड़ा हमला रूस पर कर दिया। लेकिन तबतक सोवियत रूस की पहलक़दमी से जर्मन फ़ासीवाद के ख़िलाफ़ एक 'विश्व-मोर्चा' निर्मित हो चुका था। दुनिया भर में मज़दूरों, साम्यवादियों और राजनीतिक उदारवादी समुदायों ने और यहां तक कि उद्योगपतियों ने अपनी सरकारों पर दबाव बनाया इस मोर्चे में शामिल होने के लिए। साम्यवाद-विरोधी चर्चिल को ज़ोरदार शब्दों में रूस के समर्थन की घोषणा करनी पड़ी- ''नाजीवाद के ख़िलाफ़ लड़ने वाले हर आदमी को हमारी मदद मिलेगी। रूस पर ख़तरा हम पर ख़तरा है।'' (अन्ना लुई स्ट्रांग, स्तालीन युग; अनु. राजेश उपाध्याय, आरोही बुक ट्रस्ट, 2004, पृ. 112 में उद्धरित) यह फ़ासीवाद के ख़िलाफ़ मानवता की पहली बड़ी जीत थी, जहां उसे विश्व राजनीति में अलग-थलग किया गया।

दरअसल, पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की बुनियाद जिन सिद्धांतों पर आधारित है,उसके भीतर ही फ़ासीवाद के उभार की संभावनाएं भी हैं। बाज़ार और मुनाफ़े अपनी सहूलियत या 'विवशतावश' एक ऐसे सामाजिक और राजनीतिक आंदोलन को जन्म देता है जो मुहावरों या जुमलों में जनपक्षधर भी लग सकता है, लेकिन किसी के चाह लेने से भी ऐसा होने की उसकी 'फ़ितरत' नहीं हो सकती। फ़ासीवाद अपने विभिन्न स्वरूपों के साथ पूंजीवादी अर्थव्यवस्था वाले देशों में, समाजों में मौजूद रहता है, उसे आंदोलन की शक्ल बस ले लेनी होती है। इसलिए फ़ासीवाद के ख़िलाफ़ मुकम्मल लड़ाईयों को पूंजीवाद के ख़िलाफ़ व्यापक एकजुटता के रास्तों से ही गुज़रना होगा।

आधार-ग्रंथ

प्रेमचंद के विचार, प्रेमचंद (भाग-1, 2 और 3) ; प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2008,

गणेशशंकर विद्यार्थी रचनावली, सं. सुरेश सलिल, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि.

महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली; संकलन-संपादन: भारत यायावर, किताबघर नई दिल्ली,

राधामोहन गोकुल समग्र, संकलन-संपादन- कर्मेन्दु शिशिर, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीव्यूटर्श (प्रा.)लि., 2009

'नवीन' गद्य रचनावली, सम्पादक डॉ. लक्ष्मी नारायण दुबे; साहित्यवाणी इलाहाबाद,

संदर्भ सूची

अन्ना लुई स्ट्रांग, स्तालिन युग; अनु. राजेश उपाध्याय, आरोही बुक ट्रस्ट, 2004

अमृत राय, मदन गोपाल (संकलन व संपादन), चिट्ठी-पत्री, भाग-1, - हंस प्रकाशन

अयोध्या सिंह, साम्राज्यवाद का उदय और अस्त, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली; 2010

डॉ. अजब सिंह, यथार्थवाद: पुनर्मूल्यांकन, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1998

अमृतराय, प्रेमचंद: क़लम का सिपाही; हंस प्रकाशन, इलाहाबाद; 2005

अवधेश प्रधान (संपादक), स्वामी सहजानंद सरस्वती, किसान और संयुक्त मोर्चा; ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, 2002

अयोध्या सिंह, फ़ासीवाद; ग्रंथशिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड

अर्जुन देव, इंदिरा अर्जुन देव; समकालीन विश्व का इतिहास (1890-2008), ओरियंट ब्लैकस्वॉन,

अभय कुमार दुबे (सं), समाज-विज्ञान विश्वकोष; राजकमल प्रकाशन,2013, पृ. 1050

आनन्द (सं.), मैनेजर पाण्डेय (प्रस्तावना), यशपाल रचनावली खण्ड-11

Ashis Nandy (1994), The illegitimacy of Nationalism: Rabindranath Tagore and the Politics of Self; Delhi: Oxford University Press

Anderson, B. (1991) Imagined Communities: Reflections on the origin and spread of Nationalism, Revised Edition, London and New York: Verso

ए. अरविंदाक्षन (सं.), प्रेमचंद के विविध आयाम; राधाकृष्ण प्रकाशन, 2006

एरिक हॉब्सबाम, पूंजी का युग; अनुवाद: वंदना राग, संवाद प्रकाशन, पहला संस्करण 2009

एरिक हॉब्सबाम, साम्राज्य का युग, अनु. प्रकाश दीक्षित, संवाद प्रकाशन 2009

एरिक हॉब्सबाम, अतिरेकों का युग; अनुवाद-प्रकाश दीक्षित, भाग-1, 2 , संवाद प्रकाशन, 2009

I.T. Frolov (Ed.), Dictionary of Philosophy हिन्दी अनुवाद, दर्शनकोश नाम से, प्रगति प्रकाशन, मास्को 1988

E. J. Hobsbawm, Nations and nationalism since 1789; (Cambridge:Cambridge University press,1989)
Anthony Elenjimittam, Philosophy and action of the R.S.S. for the Hind Swaraj; Bombay, Laxmi Publications [1951]

एरिस्टोटल ए. कालिस (Aristotle A. Kallis) द्वारा संपादित 'द फ़ासिज़्म रीडर', Routledge, London And New York, 2003

अंतोनियो ग्राम्शी, सांस्कृतिक और राजनीतिक चिंतन के बुनियादी सरोकार, अनुवाद- कृष्णकांत मिश्र, ग्रंथशिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, 2002

क़मर रईस, प्रेमचंद की विचार-यात्रा, अनुवाद-जानकी प्रसाद शर्मा, प्रकाशन विभाग, 1995

कृस हरमन, विश्व का जन इतिहास; अनु. लाल बहादुर वर्मा, संवाद प्रकाशन, मेरठ, 2009;

कर्मेंदु शिशिर (संपादक), नवजागरणकालीन पत्रकारिता और मतवाला, खंड-2, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., 2012

कार्ल मार्क्स, पूंजी भाग-1; प्रगति प्रकाशन, मास्को, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा) लिमिटेड,

कार्ल मार्क्स, फ्रेडरिक एंगेल्स, कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो

कार्ल मार्क्स, भारत संबंधी लेख, संकलन, रजनी पाम दत्त; पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस(प्रा.) लिमिटेड, 2009

के. एन. पणिक्कर, औपनिवेशिक भारत में सांस्कृतिक और विचारात्मक संघर्ष; ग्रंथशिल्पी प्रकाशन 2003

कृष्णबिहारी मिश्र, हिन्दी पत्रकारिता, जातीय चेतना और खड़ी बोली साहित्य की निर्माण-भूमि, भारतीय ज्ञानपीठ, 2006

खगेन्द्र ठाकुर (संपादक), प्रेमचंद, प्रतिनिधि संकलन; नेशनल बुक ट्रस्ट, 2006

गांधी वाड्.मय (संपूर्ण), (खण्ड 70-73), प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1978

Gellner, E. (1983), Nations and Nationalism, Ithaca; Cornell University Press

चमनलाल (संकलन एवं संपादक), भगत सिंह के सम्पूर्ण दस्तावेज; आधार प्रकाशन पंचकूला (हरियाणा), प्रथम संस्करण 2004

जगदीश्वर चतुर्वेदी, हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास की भूमिका; अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, 1997

जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह (संकलन-संपादन), स्वाधीनता-संग्राम, हिन्दी प्रेस और स्त्री का वैकल्पिक क्षेत्र, में संकलित लेख; अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, 2006

जॉन रीड, दस दिन जब दुनिया हिल उठी, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1989

जेम्स जॉल, यूरोप 1870 से, अनुवाद- स्नेह महाजन; हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2008

जवाहरलाल नेहरू, मेरी कहानी; हिंदी संपादक हरिभाऊ उपाध्याय, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन 2007

Georges Sorel- Reflections on Violence, edited by- Jeremy Jennings, Cambridge University Press, 1999

जार्ज लुकाच, स्टडीज़ इन यूरोपियन रियलिज़्म; द मर्लिन प्रेस, लंदन

जॉर्ज लुकाच, इतिहास और वर्ग चेतना, अनुवाद व संपादन- नरेश 'नदीम' प्रकाशन संस्थान, 2005

Zeev Sternhell, 'FASCIST IDEOLOGY: A DISSIDENT REVISION OF MARXISM?' Aristotle A. Kallis (ed.) 'The Fascism Reader', Routledge, London And New York, 2003

टॉम बॉटमोर (सं), ए डिक्शनरी ऑफ़ मार्क्सिस्ट थॉट', दूसरा संस्करण, ब्लैकवेल पब्लिशर्स लि., 1991

डेविड मैक्नाली, अगेंस्ट द मार्केट, लंदन: वर्सो, 1993

ताराचंद, भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास, खंड-1; प्रकाशन विभाग सूचना एवं प्रसार मंत्रालय, भारत सरकार, 2007

दयानंद पाण्डेय (सं.), प्रेमचंद: व्यक्तित्व और रचनादृष्टि; भावना प्रकाशन, 1982

नरेन्द्र कोहली, प्रेमचंद, वाणी प्रकाशन, 2002

निर्मला जैन (सं.) जैनेन्द्र रचनावली, भाग-12, भारतीय ज्ञानपीठ, 2008

नंददुलारे वाजपेयी, नवजागरणकालीन पत्रकारिता और भारत; (भाग-1, 2), अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, 2008

Paul Bairoch and Gary Goertz, Factors of Urbanisation in the Nineteenth Century Developed Countries: A Descriptive and Econometric Analysis, Urban Studies 1986 (3)

Partha Chatterjee (1986), Nationalist Thought and the Colonial World: A Derivative Discourse? London: Zed Books

Partha Chatterjee (1994), The Nation and its Fragments , Delhi: Oxford University Press

प्रदीप सक्सेना (संपादक), 1857: महाक्रांति या महाविद्रोह, प्रवीण प्रकाशन, 2009

व्रज कुमार पांडेय, मार्क्सवादी चिंतन; स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, 2006

बिपिन चंद्रा ; आधुनिक भारत में विचारधारा और राजनीति; अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, 2000

बिपिन चंद्रा; भारत में आर्थिक राष्ट्रवाद का उद्भव और विकास; अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, 2008

बिपिन चंद्रा ; आधुनिक भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद अनुवादक-एन.ए. खान 'शाहिद' ; अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, 2005

बिपिन चंद्रा (सं.), आधुनिक भारत; अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, 2008

मदन गोपाल, क़लम का मज़दूर प्रेमचंद; राजकमल प्रकाशन, 1984

एम. एस. गोलवलकर, वी, आवर नेशनहुड डिफाइन्ड, 1939,

मैनेजर पांडेय; 'अनभै सांचा', पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, 2002

मैनेजर पाण्डेय, साहित्य और इतिहास दृष्टि; वाणी प्रकाशन, 2009

Michael Collins, Banks and Industrial Finance in Britain, 1800-1939, Cambridge University Press, 1995

रजनी पाम दत्त, फ़ासीवाद और सामाजिक क्रांति; अनुवादक अरविंद मोहन, ग्रंथ शिल्पी, 2002,

रजनी पाम दत्त, भारत: वर्तमान और भावी; पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड

रवीन्द्रनाथ टैगोर, राष्ट्रवाद, अनुवादक- सौमित्र मोहन; नेशनल बुक ट्रस्ट, 2009

रामविलास शर्मा, भारतीय साहित्य के इतिहास की समस्याएं; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 2002

रामविलास शर्मा, भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद; राजकमल प्रकाशन, 1982

रामविलास शर्मा, प्रेमचंद और उनका युग; राजकमल प्रकाशन, 2006

राल्फ मिलीबैंड, पूंजीवादी समाज में राजसत्ता का चरित्र; अनुवाद: आदित्य नारायण सिंह, मैकमिलन इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली, 1981

लाल बहादुर वर्मा, अधूरी क्रांतियों का इतिहासबोध; संवाद प्रकाशन, 2009

लाल बहादुर वर्मा, आधुनिक विश्व इतिहास की झलक (1789-1945); अभिव्यक्ति प्रकाशन, 2010

लेनिन, संकलित रचनाएं, भाग 27, मास्को 1962

लेनिन, सर्वहारा अंतर्राष्ट्रीयवाद, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1983

लेनिन, अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर और कम्युनिस्ट आंदोलन, प्रगति प्रकाशन, मास्को (अनुवादन व संपादन- ददन उपाध्याय), 1984

लेनिन, साम्राज्यवाद: पूंजीवाद की उच्चतम अवस्था; ग्रंथशिल्पी प्रकाशन (अनु. चैतन्य कृष्ण) 2001

लियॉन ट्राट्स्की द्वारा 1934 में लिखा गया लेख 'राष्ट्रवाद और आर्थिक जीवन', अप्रैल, 1934 में विदेश मंत्रालय द्वारा प्रकाशित, पुन:प्रकाशन चौथे इंटरनेशनल में।

वीर भारत तलवार, किसान राष्ट्रीय आंदोलन और प्रेमचंद: 1918-22 ; वाणी प्रकाशन, 2008;

वीरभारत तलवार, सामना; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 2005

वीरभारत तलवार, राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य, हिमाचल पुस्तक भंडार, 1993

श्रीकांत जोशी (संपादक), माखनलाल चतुर्वेदी रचनावली, भाग-9, वाणी प्रकाशन, 1995

प्रो. शंभुनाथ, रामनिवास द्विवेदी (संपादक), हिन्दी पत्रकारिता हमारी विरासत, वाणी प्रकाशन, 2012

शेखर बंदोपाध्याय, पलासी से विभाजन तक: आधुनिक भारत का इतिहास, ओरिएंट ब्लैकस्वॉन, 2011

शिवरानी देवी, प्रेमचंद: घर में; आत्माराम एण्ड संस, 2006

शिवकुमार मिश्र, ग़दर पार्टी से भगत सिंह तक, लोक प्रकाशक गृह, 2012

शंभुनाथ, प्रेमचंद का पुनर्मूल्यांकन; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1988

Stalin, J.V. 'Marxism and the National Question' (1913) ; in Omar Dahbour, Micheline R. Ishay (ed.); The Nationalism Reader , Humanity Books.

Smith, A., Nationalism : A Reader, Vol 1 (Oxford : Oxford University press,1994

स्टालिन, वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के प्रमुख कारक, कम्युनिस्ट अंतर्राष्ट्रीय, 1924, अंक-6

सब्यसाची भट्टाचार्य, आधुनिक भारत का आर्थिक इतिहास (1850-1947); राजकमल प्रकाशन, 1990

डॉ. सत्या एम. राय (सं.) भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2009

हंसराज रहबर, प्रेमचंद: जीवन कला और कृतित्व, साक्षी प्रकाशन, 2008

जुल्मतों के दौर में, लघु फिल्म, मैक्समूलर भवन, नई दिल्ली, गांधी फिल्म फाउंडेशन, मुंबई और आनंद पटवर्धन द्वारा निर्मित